‘‘लोकतांत्रिक भारत की शिक्षा में महात्मा गाँधी एवं पण्डित दीन दयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक योगदान का तुलनात्मक अध्ययन’’

"A Comperative Study of Educational Contribution of Mahatma Gandhi and Pt. Deen Dayal Upadhayay in the Democratic Education of India"

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी के
‘शिक्षाशास्त्र में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी की
उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डा० जे०एल० वर्मा
एम०ए०एम०एड० पी०एच०डी०
वरिष्ठ रीडर, बी०एड० विभाग
बुन्देलखण्ड कॉलेज, झाँसी

शोधकर्त्री
सुधा तिवारी
(एम०ए०,एम० एड०)
अध्यापिका

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

2003–2004
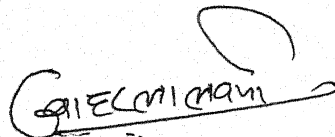
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के शीषर्क **''लोकतांत्रिक भारत की शिक्षा में महात्मा गाँधी एवं पण्डित दीन दयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक योगदान का तुलनात्मक अध्ययन''** को श्रीमती सुधा तिवारी, (एम0ए0, एम0एड0, अध्यापिका ने बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी के शिक्षाशास्त्र में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि हेतु मेरे निर्देशन व परिवीक्षण में वॉछित वर्षों के अभयन्तर पूर्ण किया है । मै पुनः प्रमाणित करता हूँ कि जहां तक मुझे ज्ञात व विश्वास है इनका प्रस्तुत कार्य मौलिक है और इन्होनें अन्यत्र अन्य उपाधि हेतु इसे नही प्रस्तुत किया है ।

दिनांक :

(डा0 जे0एल0 वर्मा)
वरिष्ठ रीडर, शिक्षक प्रशिक्षण विभाग
बुन्देलखण्ड महाविद्यालय
झाँसी

घोषणा पत्र

मै सुधा तिवारी घोषणा पत्र करती हूँ कि पी0एच0डी0 की उपाधि हेतु यह शोध कार्य मेरी स्वयं की मौलिक रचना हैं ।

अपने निर्देशक के सुयोग्य पथ प्रदर्शन में जिन स्रोतों से इस शोध कार्य में सहायता की गयी है उनका उल्लेख सन्दर्भ ग्रन्थ सूची में कर दिया गया हैं ।

स्थान : झाँसी

दिनाँक :
29-12-04

शोधकत्री

Sudha Tiwari

सुधा तिवारी

एम0ए0, एम0एड0

अध्यापिका

आभारिका

मानव जीवन की प्रगति पर पूर्णता में प्रकृति का महत्वपूर्ण योगदान है । मानवीय प्रयत्न उस समय तक सफल नही होते जब तक कि गुरूजनों माता–पिता, पति, भाई–बहन, इष्टमित्रों का आर्शीर्वाद एवं उचित प्रेरणा नही मिलती अतः शोधकार्य में जिन महानुभवों से अपरिमित सहयोग एवं स्नेह प्राप्त हुआ उनके प्रति आभार व्यक्त करना मेरा सर्वप्रथम कर्तव्य हो जाता है ।

मेरा यह प्रयास डा0 जे0एल0 वर्मा के निर्देशन में पूर्ण हुआ है, एतदर्थ मे हृदय से उनकी आभारी हूँ जिन्होनें समय–समय पर मेरे द्वारा किये गये कार्यो को विधिवत पर्वेक्षित किया और इसे पूर्ण करने हेतु सदैव प्रेरणा देते रहे है । वास्तव में ये मेरे प्रेरणा स्रोत रहे है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध–कार्य में प्रवृत्त होने हेतु मुझे सर्वप्रथम मेरे पति श्री नरेन्द्र कुमार पुरोहित (अध्यापक, नवोदय विद्यालय, लखीमपुर खीरी) एवं मेरे छोटे भाई महेश तिवारी, अवधेश तिवारी और बहन शोभा तिवारी को हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करने में विशेष प्रसन्नता हैं, उनके सहयोग उत्साह एवं आर्शीर्वाद के बिना यह शोध प्रबन्ध कदापि पूरा नही हो सकता था ।

मै बुन्देलखण्ड कालेज, झाँसी के शिक्षा संकाय प्रवक्ता डा0 बाबूलाल तिवारी की कृतज्ञ हूँ जिन्होने मेरे प्रस्तुत शोध प्रबन्ध हेतु उपयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थों, पुस्तकों, मौलिक कृतियों, पत्र पत्रिकाओं तथा अनन्यान्य पुस्तकों को उपलब्ध कराने में सहयोग प्रदान किया ।

वास्तव में उन लेखकों की भी कृतज्ञ हूं जिनकी कृतियों का प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मैने सहायता ली है । मै महात्मा गाँधी, पं0 दीनदयाल उपाध्याय तथा अन्य लेखकों की भी ऋणी हूँ जिनकी कृतियों, लेखो, भाषणोंतथा उनके द्वारा सम्पादित पत्र–पत्रिकाओं से उद्धरणों को साभार ग्रहण किया है ।

मै अपने शोध प्रबन्ध के कम्पोजर श्री रफत सिद्दीकी की भी हृदय से आभार प्रगट करती हूँ जिन्होनें अथक परिश्रम करके शुद्ध रूप में तथा सौन्दर्यात्मक ढ़ंग से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को कम्प्यूटरीकृत किया है ।

अन्त में मै उन सभी स्वजनों, शुभचिन्तकों, लेखकों को साभार धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ जिनके मूल्यवान विचारों ने मेरे इस कार्य के सम्पादन हेतु समझ–अर्न्तदृष्टि व ज्ञान प्रदान करने में सहायता दी है ।

स्थान : झाँसी

दिनाँक :

सुधा तिवारी

एम०ए०, एम०एड०

अध्यापिका

अनुक्रमणिका

क्र० सं०	अध्याय	पृष्ठ संख्या
१	अध्याय प्रथम	1-22
	(अ) प्रस्तावना	
	(ब) अध्ययन का लक्ष्य, आवश्यकता एवं महत्व	
	(स) अध्ययन में प्रयुक्त शोधविधि, उपकरण एवं श्रोत	
	(द) प्रस्तुत शोध कार्य का न्यादर्श एवं क्षेत्र सीमांकन	
	(य) सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण तथा प्रारम्भिक शोध कार्यो का विवरण	
२	अध्याय द्वितीय	23-44
	(अ) गाँधी परिवार	
	(ब) शिक्षा	
	(स) प्रारम्भिक प्रभाव	
	(द) अहिंसा की अनुभूति मातृ पितृ भक्ति तथा सत्यानुभूति	
	(य) सर्वधर्म निष्ठा, निर्भयता, प्रायश्चितता का अनुभव	
	(र) इंग्लैण्ड एवं वर्धा सम्मेलन के पूर्व के अनुभव के प्रयोग	
	(ल) वर्धा योजना	
	(व) 30 जनवरी सन् 1948 का कालादिवस	
३	अध्याय तृतीय	45-83
	(अ) जन्म एवं शिक्षा	
	(ब) शिक्षा	
	(स) पारिवारिक जीवन	
	(द) सार्वजनिक जीवन और सम्पादन कार्य	
	(य) रचनात्मक कार्य	
	(र) श्रम साधना	
	(ल) अर्थ चिन्तन	
	(व) पण्डित जी का व्यक्तित्व	
	(श) अन्तिम यात्रा	
४	अध्याय चतुर्थ	84-178
	महात्मा गाँधी के मौलिक दार्शनिक एवं शैक्षिक विचार	
	(अ) शिक्षा का अर्थ	
	(ब) शिक्षा के उद्देश्य	
	(स) पाठ्यक्रम	
	(द) शिक्षण विधि	
	(य) अनुशासन	
	(र) छात्र एवं अध्यापक	

क्र० सं०	अध्याय	पृष्ठ संख्या
५	अध्याय पंचम	179-230
	पं० दीनदयाल उपाध्याय जी के मौलिक, दार्शनिक व शैक्षिक विचार	
	(अ) शिक्षा के उद्देश्य	
	(ब) पाठ्यक्रम	
	(स) शिक्षण विधि	
	(द) अनुशासन	
	(र) छात्र एवं अध्यापक	
६	अध्याय षष्ट्म	231-298
	महात्मा गाँधी तथा पं० दीनदयाल उपाध्याय के शिक्षा दर्शन की तुलना एवं उनके शैक्षिक विचारों की लोकतांत्रिक भारत में प्रासंगिकता	
७	अध्याय सप्तम	299-324
	निष्कर्ष एवं सुझाव	
	सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची	
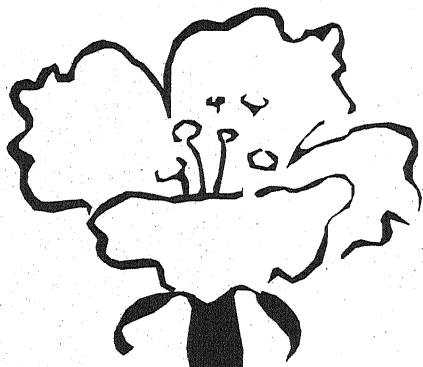
अध्याय
प्रथम

अध्याय प्रथम

''वर्तमान शोधकार्य के प्रेरक स्रोत एवं आवश्यकता''

शिक्षा का महत्व -:

प्रस्तावना -: "शिक्षा मानव का ऐसा अलंकार है जो उसमें तथा पशुजगत में भेद की रेखा खीचता है ।"

शिक्षा आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है । जिस पर सभ्यता और संस्कृति टिकी हुई है । शिक्षा एक ऐसा प्रकाश है जो हमको जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मार्गदर्शन करता है । इसलिए ज्ञान को मनुष्य के तीसरे नेत्र की संज्ञा दी गयी है । शिक्षा लोकतंत्र की जड़ों को सुदृढ़ बनाने की प्रक्रिया में सशक्त भूमिका निभाती एवं लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों का विकास किया जाता है । शिक्षा के माध्यम से ही मनुष्य के शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास की परिकल्पना महात्मा गांधी जी ने अपने ढंग से की है । उनके अनुसार –

"शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक और मनुष्य के शरीर, मन तथा आत्मा के सर्वांगीण एवं सर्वोत्कृष्ट विकास से है।"

"By education I mean an all round drawing out of the best in child and man – body mind and sprit." (महात्मा गांधी)

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार -: "हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है जिसके द्वारा चरित्र का निर्माण होता है मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है । बुद्धि का विकास होता है और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है।"[1]

"संम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के रचनाकार परमपिता ने मनुष्य के रूप में अपनी सर्वोत्तम कृति का सृजन किया है । जन्म लेने के बाद कई वर्षो तक असभ्य एवं दूसरों पर आश्रित रहने वाला यह मनुष्य बड़ा होकर समस्त प्राणी जगत का शासक बन बैठता है । केवल भूमण्डल पर ही नहीं बल्कि जल और आकाश पर

[1] (आधुनिक भारतीय शिक्षा शास्त्री, 'स्वामी विवेकानन्द' – शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार पृष्ठ – 28)

भी अपने पैर जमा लेता है । परन्तु जन्म लेने के तुरन्त बाद से चलना – फिरना आरम्भ करने वाला हृष्ट–पुष्ट और स्वालम्बी पशु हजारों वर्षो के बाद भी, जैसा पैदा हुआ था वैसा ही है । यह सब अन्तर कैसे हुआ इसका उत्तर है 'शिक्षा' । शिक्षा अर्थात् सीखने एवं सिखाने की क्षमता । शिक्षा मानव की ऐसी विशेषता है जो उसे पशु जगत से बहुत ऊँचा उठा देती है । शिक्षा के माध्यम से ही मानव जाति के द्वारा अर्जित सहस्त्रों वर्षो के अनुभवों तथा संस्कृति बालक को हस्तान्तरित कर दिये जाते है जिससे उसका शारीरिक एवं मानसिक सौन्दर्यात्मक नैतिक और अध्यात्मिक विकास होता है । अतः मानव के ज्ञान विज्ञान की प्रगति में शिक्षा की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका है । इस प्रकार हम देखते है कि भौतिक, बौद्धिक अथवा अध्यात्मिक क्षेत्र में जो भी मानव की उपलब्धियां है चाहे वे गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के रूप में हो अथवा चन्द्रमा तक जाने वाले यान के रूप में, प्रकृति के रहस्यों को खोलने वाले सिद्धान्तों के रूप में हो अथवा आणविक शक्ति से भी परे आत्मा के ज्ञान के रूप में, कला और साहित्य द्वारा सौन्दर्यानुभूति के रूप में हो अथवा समाज रचना के विभिन्न आयामों के रूप में हो वे आश्चर्यजनक है और इन सब के पीछे मानव की यह शैक्षिक क्षमता ही है ।"[1]

"अतः यह बात निर्विवाद रूप से सत्य है कि व्यक्ति के मानसिक विकास में शिक्षा की उल्लेखनीय भूमिका होती है शिक्षित व्यक्ति राष्ट्र को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान कर सकता है ।[2]"

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विशेष भूमि, भौगोलिक परिस्थिति तथा ऐतिहासिक परम्पराओं के कारण एक विशेष प्रकार की संस्कृति विकसित हो जाती है वह राष्ट्र अपनी उस विशेष संस्कृति के अनुकूल ही अपनी व्यवस्थायें बनाकर ही उन्नति कर सकता है । "लेकिन इतिहास ने भारतीयों के साथ घोर मजाक किया मुस्लिम की

---

[1] (चन्द्रपाल सिंह प्रकाशक – भारतीय शिक्षा समिति उ0 प्र0 विद्यालोक वार्षिक पत्रिका, राष्ट्रीय पुर्नजागरण में शिक्षा का महत्व – पृष्ट 29)।

[2] (संदेश 10 + 2 + 3 शिक्षा प्रणाली विशेषांक 1977 कमलापति त्रिपाठी – तत्कालीन रेलमंत्री भारत सरकार)।

आक्रान्ताओं ने स्वतन्त्र चिन्तन और अध्ययन में संग्रहीत भारतीय बौद्धिक विरासत अंत्योष्टि कर भारतीय दर्शन के मूल तत्व को अप्रमाणित कर दिया ।[1]

परतन्त्र राष्ट्र के रूप में भारत को एक दास की तरह शासक राष्ट्र की भाषा एवं संस्कृति को स्वीकार करना पड़ा । बलात लादी हुई संस्कृति अत्यन्त भयावह होती है, और भारत के साथ यही हुआ अंग्रेजों ने अपनी शिक्षा नीति के द्वारा हमें ऐसा मीठा जहर पिलाया कि हम स्वयं अपनी संस्कृति और परम्पराओं को भूलने लगे अथवा उनसे घृणा करने लगे साथ ही हमें पश्चिमी भाषा पश्चिमी चाल–चलन अच्छे लगने लगे जो हमारे लिये अत्यन्त खतरनाक सिद्ध हुये ।

इस प्रकार भारतीय दर्शन तथा इतिहास विश्व के सामने हास परिहास की सामग्री बन गया उपहास करते हुये 'लार्ड मैकाले' ने अपनी पुस्तक मिनट ऑफ 1835 में लिखा है –

"मुझे एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिल सका जो इस तथ्य को नकार सके कि अच्छी यूरोपीय किताबों की एक अलमारी की कीमत भारत और अरब में लिखे गये साहित्य से अधिक है । संस्कृत भाषा में लिखी गयी सारी पुस्तकों का सार इग्लैंड में प्रारम्भिक कक्षाओं में पढ़ाई जाने वाली विषय वस्तु के समक्ष बौना साबित होगा । उनका (भारतीयों का) खगोल विज्ञान ऐसा ही है कि इंग्लैड के बोर्डिंग स्कूल की किशोरियों में विनोद का विषय बन जाये । इतिहास ऐसे राजाओं का जो 30 फिट लम्बे थे और राज्य 30 हजार साल लम्बे–यानि झूठा इतिहास, झूठा भूगोल, झूठा खगोल विज्ञान" । इस कुप्रचार में मिशनरियां जोर–शोर से लग गयीं और पश्चिम के वैज्ञानिक उपलब्धियों के जयगान में भारतीय दर्शन का उद्घोष दब गया ।"[2]

1947 के बाद जब हम अंग्रेजों के चंगुल से छूटे तो हमें चाहिये था कि हम अपनी स्वतन्त्र शिक्षा नीति को कार्यान्वित करते । इस सम्बन्ध में पं0 दीनदयाल

---

[1] (दैनिक जागरण 17 अप्रैल 1944 सप्ताहिक परिशिष्ट' शिक्षा बनाम सरकारी प्रचार प्रस्तुति – दीपक बाजपेयी)।

[2] तथैव उपरोक्त

उपाध्याय जी ने चिन्ता व्यक्त करते हुये कहा कि "देश स्वतन्त्र होने के बाद स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न हम सब के सामने आ जाना चाहिये कि अब हमारे देश की दशा क्या होगी ? किन्तु सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि देश की स्वतंत्रता के बाद भी जितने गम्भीर रूप से इस प्रश्न पर विचार करना चाहिये था उतने गम्भीर रूप से लोगों ने विचार नहीं किया।"[1]

पण्डित जी की चिन्ता और अधिक बढ़ जाती है जब वह देखते हैं कि राष्ट्र के सत्ताहीन नेता उपरोक्त प्रश्न का हल ढूँढ़ने के लिये गहराई से कोई प्रयास नही कर रहे । "राष्ट्र का मार्गदर्शन करने वाले तथा राजनीति के क्षेत्र में काम करने वाले अधिकांश व्यक्ति इस प्रश्न की ओर उदासीन है । फलतः भारत की राजनीति अवसरवादी और सिद्धान्तहीन व्यक्तियों का अखाड़ा बन गयी है । राजनीतिज्ञों तथा राजनीतिक दलों के न तो कोई सिद्धान्त एवं आदर्श है न कोई आचार संहिता ।"[2]

इस देश के भाग्य विधाता वे लोग बने जिनकी शिक्षा दीक्षा कैम्ब्रिज और आक्सफोर्ड में हुयी थी तथा जो अपनी मातृभाषा में सोचने बोलने और लिखने के बजाय अंग्रेजी में सोचने, बोलने और लिखने में गर्व अनुभव करते थे, वे कैसे यहाँ की संस्कृति को प्रतिष्ठा दे सकते थे, उन्होंने भारत को इंग्लैड और अमेरिका जैसे पश्चिमी देशों का नकलची बनने की चेष्टा की । गाँधी जी के घोषित अनुयायी होते हुये भी उन्होंने गाँधी के सारे सिद्धान्तों की हत्या की । भारत की अध्यात्मिक संस्कृति पर उन्होंने पश्चिम की भौतिकवादी संस्कृति को तरजीह दी ।

राष्ट्रीय विकास के क्षेत्र में शिक्षा की भूमिका को देखते हुये शोधार्थिनी यह अनुभव करती है कि भारतीय शैक्षिक परिवेश के प्रमुख शिक्षाविदों का विस्तृत एवं शैक्षिक दर्शन द्वारा राष्ट्रीय विकास में अधिक से अधिक सहयोग लिया जा सकता है । इसी से प्रेरित होकर शोधार्थिनी ने वर्तमान शोध विषय **"लोकतांत्रिक भारत की शिक्षा में महात्मा गाँधी एवं पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक योगदान का तुलनात्मक अध्ययन"** का चयन अपने शोध कार्य के लिये किया है ।

---

1 राष्ट्रवाद की सही कल्पना – एकात्म मानव दर्शन

2 तथैव – पृष्ठ 5

शोधार्थिनी यह अनुभव करती है कि महात्मा गाँधी एवं पं0 दीनदयाल जी दोनो ही शिक्षा के लिये अच्छे पथप्रदर्शक साबित हुये है । दोनों ही मनीषियों ने शिक्षा में नये–नये आयाम प्रस्तुत किये है, जिनकी सहायता से विद्यार्थियो को संस्कारित, स्वालम्बी एवं रोजगार परक बनाया जा सके । महात्मा गांधी ने विद्यार्थियों के लिये जो बेसिक शिक्षा प्रणाली प्रस्तुत की उसमें पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी की स्पष्ट झलक प्रतिबिम्बित होती है । सर्वप्रथम इनके विचारों से यह पता चलता है कि ये दोनों ही महानुभाव रूढ़वादिता के विरोधी है साथ ही भारतीय समाज की संस्कृति का आदर करने वाले है एवं नवीन विचारों के प्रति भी संवेदनशील है तथा नये स्त्रोतों के समाज के लिये ग्रहण करने के पक्ष में है । "आज भारत के शिक्षित वर्ग के जीवन मूल्यों पर पश्चिम का यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता हैं अतः हमें निर्णय करना पड़ेगा कि यह प्रभाव अच्छा है या बुरा । जब तक अंग्रेज थे तब तक तो हम स्वदेशी की भावना से अंग्रेजियत को दूर रखने में ही गौरव समझते थे किन्तु अब जब अंग्रेज चले गये है तब अंग्रेजियत पश्चिम की प्रगति की द्योतक एवं माध्यम बनकर अनुकरण की वस्तु बन गयी है ।"[1]

पं0 जी ने चेतावनी भरे शब्दों में कहा है "कुछ ऐसे भी है जो पाश्चात्य राजनीति एवं अर्थनीति की दिशा को ही प्रगति की दिशा समझते है और इसलिये भारत पर वहाँ की स्थिति का प्रक्षेपण करना चाहते है । अतः भारत को भावी दिशा का निर्णय करने से पूर्व यह उचित होगा कि हम पश्चिम की राजनीति के वैचारिक अधिष्ठान तथा उनकी वर्तमान पहेली का विचार कर लें ।"[2]

विचारोपरान्त हम पायेंगे कि "विश्व ऐसी स्थिति में नहीं है कि हमारा कुछ मार्गदर्शन कर सके वह तो स्वयं चौराहे पर है ऐसी अवस्था में हम उससे किसी प्रकार का मार्गदर्शन नहीं पा सकते।'[3]

---

[1] (राष्ट्र वाद की सही कल्पना, एकात्म मानव दर्शन, पं0 दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ–7)

[2] (तथैव पृष्ठ 7–8)

[3] (तथैव पृष्ठ 12)

किसी भी राष्ट्र के समुचित विकास के लिये उसको अपने सांस्कृतिक आदर्शों के अनुकूल आगे बढ़ने हेतु उचित शिक्षा की महत्ती आवश्यकता होती है, क्योंकि शिक्षा के द्वारा ही समाज में वांछित परिवर्तन लाये जा सकते है।

इजरायल जैसे छोटे देश से हमें प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिये । हमारी दिल्ली की आबादी से भी कम चारों ओर से मुस्लिम अरब देशों से घिरा हुआ सफलतापूर्वक सीना तान कर खडा हुआ है । इसका केवल एक ही कारण है कि स्वतन्त्रत होते ही उसने अपनी पुरानी हिंदी भाषा को ही अपनी राष्ट्रभाषा बनाया और एक हम है जिनके आधुनिक भारतीय शिक्षा की आधारशिला अंग्रेजो के द्वारा रखी गयी थी, तथा शिक्षा के उदद्देश्यों का वर्णन करते हुये मैकाले ने स्वयं कहा था–'वर्तमान में हमें एक ऐसा वर्ग बनाने का प्रयास करना है जो रक्त और रंग में तो भारतीय हो पर स्वभाव, विचारों, नैतिकता और बौद्धिकता में अंग्रेज । ताकि वे हमारे और करोड़ों भारतीयों के बीच में दुभातिये का काम कर सके जिनके ऊपर हम शासन करते है ।'[1]

इसी आधुनिक शिक्षा के ऊपर टिप्पणी करते हुये स्वामी विवेकानन्द ने मद्रास में अपने एक भाषण में कहा था– "प्रथमतः कोई व्यक्तित्व निर्माण के लिये यह शिक्षा नितान्त उपयोगी है । यह समग्रता में मात्र नाकारात्मक शिक्षा है । नाकारात्मक शिक्षा या प्रशिक्षण मृत्यु से भी बद्तर होता है ।"

विद्यालय में प्रवेश बालक जिस प्रथम तथ्य से परिचित होता है वह यह कि उसके पिता मूर्ख है, दूसरा यह कि उसके पितामह पागल है, तीसरा यह है कि उसके अध्यापक ढकोसलावादी है और चौथा यह कि उसके सारे धर्म ग्रन्थ झूठ का संग्रह है । सोलह वर्ष की आयु तक वह नकार की गठरी बन जाता है निर्जीव और रीढ़हीन ।"[2] प्रचलित शिक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुये अर्लआफ रोनाल्डशे ने कहा है कि "इस शिक्षा का परिणाम यह निकला कि प्राचीन ज्ञान का लोप हो गया । प्राचीन संस्कृति और परम्परायें एक ओर ठुकरा दी गयी और

---

[1] (माकाले का विवरण पत्र 1835 व निस्यन्दन सिद्वान्त भारतीय शिक्षा का इतिहास पी. डी. पाठक पृष्ठ – 87)

[2] (दैनिक जागरण 17 अप्रैल 1994 शिक्षा बनाम सरकारी प्रचार, प्रस्तुति दीपक बाजपेई),

प्राचीन वैदिक धर्म को यह कहकर तिरस्कृत कर दिया गया कि यह तो गया बीता अन्धविश्वास है।"[1]

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार "अग्रेजी पढ़ने में कोई दोष नहीं है । परन्तु इस शिक्षा ने हमें अभारतीय और अधार्मिक बना दिया है । सच्ची वैदिक और भारतीय शिक्षा के बिना हम शारीरिक रूप से भले ही स्वतन्त्र होने का प्रयास कर लें परन्तु मानसिक और आत्मिक दृष्टि से सदैव दास बने रहेंगे।'[2]

श्रीमती एनीबेसेन्ट ने भारत की आधुनिक शिक्षा की आलोचना करते हुये कहा है कि "भारत में आधुनिक शिक्षा केवल मानसिक और बौद्धिक स्वरूप के प्रशिक्षण तक ही सीमित है । उसने व्यक्ति के आध्यात्मिक स्वरूप के विकास को, भावात्मक विकास को, तथा शारीरिक विकास और प्रशिक्षण को बिल्कुल ही भुला दिया है।"[3]

स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "धर्म हमारी शिक्षा राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का अंग होना चाहिये, यह जीवन की दिशा है, विकास की दिशा है और भारत में कल्याण का मार्ग है धर्म के बिना भारतीय शिक्षा राष्ट्रीय नहीं हो पायी।"[4]

इस शिक्षा व्यवस्था के परिणाम प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में हमारे सामने आये अपनी पुस्तक 'ए सेल्युलर एजेण्डा' में अरूण शौरी ने लिखा है – 'इस सरकारी प्रचार (शिक्षा) ने शिक्षार्थियों में यह हीन भावना भर दी है कि हमारी संस्कृति हीन है जिसने हमें परतन्त्रता विरासत में दी है।'[5]

इस प्रकार प्रचलित शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन की बात को ध्यान में रखते हुये स्वतंन्त्रता के बाद पुनः निर्माण और समीक्षा के दौर में शिक्षा को भी विषय बनाया गया अनेकानेक आयोगों एवं समितियों का गठन किया गया । ताराचन्द्र समिति 1948 माध्यमिक शिक्षा एवं राधाकृष्णनन आयोग 1948–49 उच्च शिक्षा तथा मुदालियर आयोग 1952–53 माध्यमिक शिक्षा में सुधार करने के लिये गठित किये

---

[1] (सम्पादकीय प्रचलित शिक्षा प्रणाली की आलोचना शैक्षिक प्रगति विशेषांक 1976 पृष्ठ–17)
[2] (तथैव पृष्ठ–17)
[3] (तथैव पृष्ठ –18)
[4] (तथैव पृष्ठ – 18)
[5] (शिक्षा बनाम सरकारी प्रचार, दैनिक जागरण 17 अप्रैल 1994 प्रस्तुति – दीपक बाजपेई)

गये । तदुपरान्त सम्पूर्ण शिक्षा पर विचार करने के लिये 1964 में डा0 दौलत सिंह कोठारी की अध्यक्षता में भारतीय शिक्षा आयोग का गठन हुआ । इस आयोग ने शिक्षा के सभी क्षेत्रों पर विचार किया और विशाल ग्रन्थ के रूप में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया । इसके बाद हमारे युवा प्रधानमंत्री स्वर्गीय श्री राजीव गांधी ने सांस्कृतिक विरासत की पुनः प्राप्ति हेतु राष्ट्रीय आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये शिक्षा प्रणाली में मौलिक परिवर्तन की बात सोची और 1986 में नई शिक्षा नीति निर्धारित करने की घोषणा की । इस नयी शिक्षा नीति के समर्थन में अति उत्साही नवयुवक श्री विमल तिवारी (तत्कालीन राष्ट्रीय अध्यक्ष राष्ट्रीय छात्र संगठन काग्रेस (ई)) ने लक्ष्मी व्यायामशाला झाँसी में कार्यकर्ता सम्मेलन का उद्घाटन करते हुये यहाँ तक कह डाला कि "वास्तव में अभी तक हम लोग स्वतन्त्र नहीं थे लेकिन नयी शिक्षा नीति 1986 के लागू हो जाने से हमें स्वतन्त्रता का अनुभव हो रहा है" ।

अतः शिक्षा प्रणाली और पाठ्यचर्या में सुधार के सतत् प्रयत्न होते आये है । शिक्षा को अनेकोंबार पुर्निसमीक्षा की संकरी गलियों से गुजरना पड़ा पर उसके समीक्षक और मार्गदर्शक प्रायः एक ही थे जो मैकाले की रीढ़हीन बुद्धिजीव निर्मात्री शिक्षा व्यवस्था के दंश के शिकार थे।

कुल मिलाकर वर्तमान शिक्षा का जो स्वरूप हमारे सामने उभरता है वह नितान्त औपचारिक है । जिसमें शिक्षा शुद्ध कृत्रिम विधियों से आगे बढती है और पुस्तकीय ज्ञान रटाकर शिक्षार्थी को पण्डित बना देना जिसका लक्ष्य है । जबकि शिक्षा का उद्देश्य केवल कतिपय विषयों की जानकारी देना मात्र नहीं है । शिक्षा के द्वारा बालक का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास इस प्रकार होना चाहिये कि वह अपने पैरों पर खड़ा होकर समाज और राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पूरी तरह से निर्वाह कर सकें । इस प्रकार बालक का सर्वांगीण विकास ही शिक्षा का उद्देश्य है।

उपरोक्त समस्त बातों का गम्भीरता पूर्वक चिन्तन के उपरान्त शोधार्थिनी के मस्तिष्क में यह विचार उत्पन्न हुआ कि विश्व के प्रत्येक देश की अपनी–अपनी विशेषतायें हैं और हमारे राष्ट्र का भी अपना अलग व्यक्तित्व है हमें अपने राष्ट्र के

व्यक्तित्व के अनुरूप चतुर्दिक विकास करना है इसके लिये यह आवश्यक है कि हम प्रगति की दौड़ में पीछे न रहें । अपने विद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा पर बल दें और इस शिक्षा को अपने अध्यात्मिक विरासत से सन्नग्ध करें । अतः पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी की इस बात का ध्यान अवश्य रखना होगा कि "विश्व भर में मनुष्यों के शरीर के अंगो की क्रिया समान होते हुये भी जो औषधि इग्लैंण्ड में कारगर होती है वह भारत में भी उपयोगी सिद्व होगी, यह निर्विवाद नहीं कहा जा सकता .... इसलिये बाहर की जितनी भी बातें है उनको हम उसी प्रकार से लेकर अपने देश में चले यह तो समीचीन नहीं होगा उसके द्वारा हम कभी प्रगति नहीं कर सकेंगे .... हम सम्पूर्ण मानव के ज्ञान और उपलब्धियों का संकलित विचार करें इन तत्वों में जो हमारा है उसे युगानुकूल और जो बाहर का है उसे देशानुकूल ढालकर हम आगे चलने का विचार करें ।"[1]

बी.डी. जैन कन्या महाविद्यालय, आगरा की प्राचार्या डा. के. मोहनी गौतम के इस कथन का सन्दर्भ लेते हुये कि "हमारे यहाँ कि शिक्षा व्यवस्था अंग्रेजों की दी हुयी है । भारतीय परिवेश के अनुरूप इसमें परिवर्तन ही नहीं किये गये।"[2]

शोधार्थिनी ने वर्तमान भारतीय राष्ट्रीय परिवेश के लिये उपयुक्त प्रखर राष्ट्र भक्त एवं महान चिन्तक एवं राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करने के निश्चय करते हुये निम्न शोध समस्या का चयन किया है ।

गाँधी जी के विचारों से यह मालूम पड़ता है कि वे भग्वतगीता को तत्व ज्ञान का सर्वोत्तम ग्रंथ मानते थे । वह गीता को माता कहते थे । जैसा कि उनकी पुस्तक गीता माला से स्पष्ट है, गांधी जी का विश्वास था कि गीता की शिक्षा में अनाशक्ति है, अहिंसा है इन विचारों से स्पष्ट होता है कि गांधी जी गीता दर्शन को मानने वाले थे । गांधी जी ने अपने जीवन में दो प्रकार के कार्यो को ज्यादा स्थान दिया है एक तो समाज सुधार दूसरा लेख लिखना । वह पूर्णतयः

[1] (अपना देश – अपनी परिस्थितियॉ एकात्म मानववाद पं. दीनदयाल उपाध्याय–उ पृष्ठ 15–16)

[2] (शिक्षा पद्वति हमारे अनुरूप नहीं है । दैनिक जागरण 17 अप्रैल 1994.)

राजनैतिक जीवन से भी जुडे रहें । अतः शिक्षा के क्षेत्र में गांधी जी ने ऐसी शिक्षा प्रणाली को जन्म दिया है जिसे प्रत्येक व्यक्ति ग्रहण कर सकता है तथा बेसिक शिक्षा को व्यवहारिक रूप प्रदान किया है । उनकी इच्छा थी कि शिक्षा ऐसी हो जिसे प्रत्येक वर्ग एवं जाति के लोग ग्रहण कर सकें तथा छोटे और बड़े में कोई भेद न हो ।

शोध समस्या में प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या :-

शोधार्थिनी ने अपने शोध के लिए जिस समस्या का चयन किया उसका शीर्षक है–"**वर्तमान भारतीय राष्ट्रीय परिवेश में महात्मा गांधी एवं पं0 दीन दयाल उपाध्याय के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन**" - उपरोक्त शोध समस्या में प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या शोधार्थिनी निम्न प्रकार से करने का प्रयत्न करेगी :–

1. वर्तमान भारतीय परिवेश से शोधार्थिनी का अभिप्राय स्वतन्त्रता प्राप्ति के अर्धशतक के पश्चात् की भारतीय परिस्थितियां विशेष रूप से शैक्षिक, सामाजिक एवं राजनीतिक।
2. शैक्षिक विचारों का अर्थ है कि दोनों मनीषियों (पं0 दीनदयाल उपाध्याय एवं गांधीजी) ने भारतीय परिवेश को ध्यान में रखते हुये अपने चिन्तन एवं दर्शन के आधार पर किस प्रकार की शैक्षिक परिकल्पना की । उन दोनों महापुरूषों ने शिक्षा के विभिन्न आयामों को किस प्रकार परिभाषित किया है । वे शिक्षा के माध्यम से किस प्रकार के बालक और समाज का विकास करना चाहते हैं ।
3. तुलनात्मक अध्ययन अर्थात महात्मा गांधी एवं पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के विचारों का राष्ट्रहित में पूर्ण परीक्षण करते हुये तुलनात्मक दृष्टि सें कृष्ण पक्ष एवं शुक्ल पक्ष की उपयोगिता तथा सीमाओं को प्रकाश में लाना।

अध्ययन का महत्व -:

विश्व के अनेंको कर्मयागियों, मनीषियों एवं कर्णधारों ने समाज के लिये सर्वस्व अर्पण करने के बाद भी स्वयं के बारे में एंव अपने कार्यो के बारे में कुछ भी

नहीं लिखा । मानो उन्होने समाज के लिये ही जन्म लिया हो । उन्हीं महापुरूषों की परम्परा में पं0 दीनदयाल उपाध्याय एवं महात्मा गांधी को भी रखा जा सकता है । पं0 जी ने तो पर्याप्त मात्रा में लेखन कार्य किया है, लेकिन शिक्षाविद् के रूप में अपनी शैक्षिक विचारधारा को लिपिबद्ध नहीं किया । पं0 जी साहित्यिक प्रतिभा के धनी थे । उन्होंने अनेक विषयों पर लेखन कार्य किया है । पं0 जी ने प्रातःकाल से सांयकाल तक चन्द्रगुप्त की जीवनी लिख डाली थी । इस पुस्तक की प्रशंसा के कारण इस देश की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ और पं0 जी एक सफल साहित्यकार के रूप में सामने आये । उन्होंने पत्रकारिता एवं साहित्य सृजन का कार्य बड़ी ही सफलता के साथ किया । राष्ट्रधर्म पाश्चजन्य तथा स्वदेश जैसे लोकप्रिय पत्रों का सम्पादन किया । वे देश की एकता और अखण्डता के लिये ही पूरी तरह समर्पित थे । उन्होने अपना हर क्षण समाज सेवा के लिये अर्पित कर दिया । पण्डित जी ने परिस्थितियों से पराजित होकर सिद्वान्तों से कभी समझौता नहीं किया । निडर स्वभाव मधुरवाणी किन्तु विचारों के दृढ़ता के धनी पं0 जी ने संघर्षपूर्ण जीवन में सदैव कर्म को ही प्रधानता प्रदान की । उन्होंने व्यक्तिगत सुख सुविधा की कभी परवाह नहीं की।

वे सच्चे अर्थो में कर्मयोगी थे । उनका नाम देश के अन्य नेताओं के नाम के साथ बड़े आदरपूर्वक लिया जाता है । आज के सभी राजनैतिक एवं सामाजिक तथा आर्थिक अधूरे वादों से ऊपर उठकर उन्होंने एक अनूठे मौलिक एवं सर्वांगपूर्ण एकात्ममानववाद तथा अभिनव और व्यवहारिक परिकल्पना की जिसमें मनुष्य के सर्वांगीण विकास पर विशेष बल दिया गया है। स्काटलैन्ड के कथन का सार यह प्रगट करता है कि महात्मा गांधी का व्यक्तित्व किस प्रकार का है –

"महात्मा जी (महात्मा गांधी) महात्मा है । वे एक संत व अवतारी पुरूष हैं । महात्मा गांधी जी सर्वाधिक प्रभावशाली शिक्षा दार्शनिक है । महात्मा गांधी का सम्पूर्ण दर्शन जीवन की तत्कालिक समस्याओं के समाधान हेतु निरन्तर संलग्न रहा है । उनका निजी अनुभव था कि जीवन की वर्तमान–कालिक समस्याओं के हल के बिना, सर्वोच्च अथवा जीवन के अन्तिम लक्ष्य की उपलब्धि सार्थक व

सम्भव नहीं है । उनका दृढ़ विश्वास था कि 'शरीर माद्य खत्लु धर्म साधनम्' ही मुख्य है । शरीर मन्दिर में वर्तमान, अतीत व भविष्य तीनों निहित हैं ।"

इनके अनुसार अतीत को आधार मानकर वर्तमान व भविष्य का निर्माण केवल वैचारिक प्रक्रिया से सम्भव नहीं है वरन् इसे व्यवहारपरक बनाने हेतु प्रयोग या परीक्षण नितान्त आवश्यक है । यही कारण है कि महात्मा गांधी ने अपने विचारों को व्यवहारपरक बनाने के लिये टॉलस्टाय फार्म, फोनिक्स, बस्ती (अफ्रीका) तथा साबरमती आश्रम (भारत) में प्रयोग करते रहे । इन्ही प्रयोगों व परीक्षणों की उपज ही महात्मा गांधी का शिक्षा दर्शन है । समाज की समस्त समस्याओं के हल के लिये ही ये विचारों को महत्व देते है । यही कारण है कि उनके शिक्षा दर्शन का प्रमुख पहलू सामाजिक सेवा को धार्मिक कर्तव्य के रूप में विकसित किया है । वे भारतीय परम्परा एवं तात्कालिक प्रबोधन के प्रतीक हैं । महात्मा गांधी एवं पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी दोनों ही भारत की प्राचीन संस्कृति के मूल सिद्धान्त में विश्वास करते हैं । इन दोनों में पीड़ित व्यक्तियों के प्रति असीम प्रेम था तथा वे जाति प्रथा, वर्ग भावना–एवं अस्पृष्यता के विरोधी थे । सामाजिक–सन्दर्भ में दोनों शिक्षाशास्त्री सदैव रूढ़िगत परम्परावादी विचारों की अपेक्षा नवीन विचारों के प्रवर्तक थे । इन्होंने शताब्दियों तक निष्क्रिय पड़ी हुई भारतीय संस्कृति को एक नवीन दिशा व जीवन दिया ।

महात्मा गांधी जी का जन्म ऐसी परिस्थितियों में हुआ था । जब देश पराधीनता की जंजीरों में जकड़ा हुआ था । चारों ओर राजनैतिक षड़यंत्र अपना सुरसा जैसा मुँह विस्तारित कर रहा था । अंग्रेजी आतंकवाद सर्वत्र व्याप्त हो चुका था। धर्म संस्कृति व परम्परा आदि का ह्रास हो रहा था । ऐसे पर्यावरण एवं परिस्थितियों में देश की जनता का मार्गदर्शन करना एवं शिक्षा रूपी ज्ञान को प्रकाश की ओर ले चलने के लिये तथा इस अवदशा से उन्हें मुक्ति दिलाने हेतु वास्तव में महात्मा गांधी जी ने जन्म लिया था । महात्मा गांधी जी सर्वाधिक प्रभुत्वशाली व्यक्तित्व वाले प्राणी थे । वे 'राष्ट्रपिता' के रूप में मान्य है । अतः जीवन के तात्कालिक समस्याओं के समाधान की व्यवहारिक प्रविधि प्रस्तुत करने में

किस प्रकार की अपनी शैक्षिक विचारधारा प्रगट की है ? इस तथ्य की खोज करना प्रस्तुत अध्ययन का लक्ष्य है ।

प्रस्तुत अध्ययन का यह भी उद्देश्य है कि दोनों के विचारों का हमारे जनतंत्रात्मक समाज की पुर्नरचना तथा नई सामाजिक–व्यवस्था के पुर्नसंगठन में क्या योगदान है ? विश्लेषण किया जाये । अतीत वर्तमान व भविष्य के प्रति तथा सामाजिक सेवा, व्यक्तिक व सामुदायिक श्रम के सम्बन्ध में इन दोनों के विचारों में क्या समानता एवं विषमता है ? तथा इनके विचारो का शिक्षा क्षेत्र में क्या मौलिक योगदान है ? इन विचारों से हम वर्तमान में किस प्रकार लाभान्वित हो सकते है ? इन सब तथ्यों का अध्ययन करना प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का लक्ष्य है ।

शोधार्थिनी की दृष्टि से ऐसे महापुरूषों के विचारों का अध्ययन समाज एवं राष्ट्र के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा तथा इनके शैक्षिक विचारों से भारतीय शिक्षा को राष्ट्रीय चेतना प्राप्त होगी। आज सम्पूर्ण जगत में पिछली किसी भी सदी से ज्यादा शिक्षा है, ज्यादा विद्यालय हैं लेकिन आज पिछली किसी भी सदी से ज्यादा अशान्ति है, दुख है, ज्यादा पीड़ा, घृणा है, ईर्ष्या है और जलन है । अतः निश्चित ही कहीं कोई आधार में खराबी है और इस तरह की खराबी का दायित्व और किसी पर इतना ज्यादा नही है जितना उन लोगों पर जिनका सीधा सम्बन्ध शिक्षा से है चाहे वह शिक्षक हो या शिक्षार्थी । सः विद्या विमुक्तिये' लेकिन वर्तमान शिक्षा हमको मुक्ति का मार्ग नही बताती । इस शिक्षा से हम लोगों को विद्यावान, डाक्टर, गाणितज्ञ तो बना सकते हैं, उनके आजीविका के लिये उपाय प्रदान कर सकते हैं परन्तु सही मायने में यह विद्या नहीं है । वास्तव में हम उनका शिक्षा से नाता नहीं जोड़ रहे है । शिक्षा का नाता तो जीवन में श्रेष्ठतर मूल्यों के जन्म से है ।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है – "हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है जिसके द्वारा चरित्र का निर्माण होता है, मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, बुद्धि का विकास होता है और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है ।"[1]

---

[1] (आधुनिक भारतीय शिक्षा शास्त्री, स्वामी विवेकानन्द' शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजिक आधार पृष्ठ 281)

अतः भाड़े की शिक्षा प्रणाली अपनी परम्परा में ठीक नहीं है । ढेर सारे उदर पोषण के विषयों को भीड़ से उत्तम मानव का, राष्ट्र के उत्तम अवयव का निर्माण नहीं होता इसके लिये ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिसमें दृढ़ चरित्र, शरीर व मन की वलोंपसना विशुद्ध ज्ञान जैसी पवित्र बातों के संस्कार बाल्यकाल से दृढ़ करते रहने की योजना हो ।

इस दृष्टि से भारतीय मनीषियों द्वारा दिया गया चिन्तन शोधार्थिनी को अत्यन्त महत्वपूर्ण समीचीन एवं युग तथा राष्ट्र के अनुकूल प्रतीत होता है जिन्होंने मानव जीवन का गहराई से अध्ययन करके शाश्वत सुख का मार्ग दिखाने वाला सर्वांगपूर्ण दर्शन हमको दिया है । आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द महर्षि अरविन्द, महात्मा गांधी, रवीन्द्र नाथ टैगोर, पं0 दीनदयाल उपाध्याय, गुरू गोलवरकर जैसे विचारकों ने अपने–अपने ढंग से उस भारतीय चिन्तन को प्रगट किया है । हमारे पास वह भारतीय वैचारिक धरोहर 'एकात्म मानवदर्शन' के रूप में संकलित है । एकात्म मानव दर्शन के रूप में पं0 दीनदयाल उपाध्याय एवं अहिंसा और सत्य के पथ के रूप में महात्मा गांधी मानव मात्र के लिये महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है । जिससे प्रेरणा प्राप्त करके जीवन में भय, ईर्ष्या, शत्रुता एवं असत्य के स्थान पर सह–अस्तित्व का निर्माण करके परम आनन्द प्राप्त किया जा सकता है । एकात्म मानव दर्शन एवं सत्य और अहिंसा शाश्वत जीवन मूल्यों पर आधारित मानव प्रवृत्तियों का सूक्ष्म सार एवं सम्पूर्ण मानव वंश को सुख समृद्धि की राह पर ले जाने वाला शाश्वत दर्शन है । इस दर्शन के आधार पर नयी समाज रचना की आवश्यकता है । प्रस्तुत शोध इस दिशा में निःसंदेह महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगा ।

अध्ययन के उद्देश्य -:

"उद्देश्यों के बिना किसी भी कार्य की कल्पना नहीं की जा सकती।"[1]

किसी भी कार्य करने से पहले उसके उद्देश्यों की कल्पना हमारे मन मस्तिष्क में अवश्य रहती है । बिना उददेश्य के कार्य करना दिशाहीन जहाज की तरह भटकना होता है । उद्देश्य ही मनुष्य को कार्य करने की प्रेरणा शक्ति

[1] (आधुनिक परिवेश में महामना मदनमोहन मालवीय के शैक्षिक विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन – डा0 जे. एल. वर्मा पृष्ठ – 11)

प्रदान करते हैं और एक निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक होते है । अतः जान ड्यूबी का यह कथन बिल्कुल सही है "उद्देश्य सहित कार्य करना ही कुशलता या बुद्धिमानी पूर्वक कार्य करना है।" उद्देश्य निश्चित कर लेने से ही कार्य आसान हो जाता है और लगभग आधी सफलता प्राप्त हो जाती है । महाभारत की कथा के अनुसार "गुरू द्रोणाचार्य शिष्यों की परीक्षा ले रहे थे कि कौन कितना धनुर्विद्या में पारंगत हो गया है । युधिष्ठर और अर्जुन सहित सभी पाण्डव पुत्र पूरी तरह से तैयार थे । गुरू जी ने कहा कि देखो पेड़ पर चिड़िया बैठी है इसकी आँख में निशाना लगाना है जो इसकी आँख में तीर मार देगा, वही धनुर्विद्या में निपुण माना जायेगा।"[1]

इसके बाद गुरू जी ने एक–एक करके सबसे प्रशन पूछा कि युधिष्ठर आपको क्या दिखाई दे रहा है ? युधिष्ठर ने उत्तर दिया कि 'पेड़, पत्ते, चिड़िया और चिड़िया की आँख गुरूजी।' इसी प्रकार सभी उपस्थित शिष्यों ने उत्तर दिये लेकिन अर्जुन ने कहा कि मुझको केवल चिड़िया की आँख ही दिखाई दे रही है गुरूजी, अर्जुन ने निशाना लगाया और तीर चिड़िया की आँख में ही लगा । जबकि अन्य सभी के निशाने चूक गये इसीलिये कहा गया है कि –

'जिन ढूढा तिन पाईयां गहरे पानी पैठ
मै बपुरा बूड़न डरा रहा किनारे बैठ।'

अर्थात् उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये दृढ़ इच्छा शक्ति की आवश्यकता होती है । "राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की शाखाओं में लक्ष्य प्राप्ति के लिये किशोंरों के ह्रदय में प्रबल इच्छा शक्ति जागृत करने की प्रेरणा दी जाती है ।"

खेल और गानों के माध्यम से उन्हे शिक्षित किया जाता है कि जीवन में सही रास्तों को छोड़कर जो लोग इधर–उधर भटक जाते है अर्थात् लक्ष्य ओझल हो जाते हैं वे कभी सफलता के पास तक नही पहुँच पाते और प्रायश्चित् करते रह जाते हैं ।

[1] वर्तमान भारतीय परिवेश में पं. दीनदयाल उपाध्याय के शैक्षिक विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन – डा. बाबू लाल तिवारी पृष्ठ – 10)

"सही राह को छोडकर जो मुड़े है ।

वही देखकर दूसरों को कुढ़े है ।।

जिन्हे लक्ष्य से कम अधिक प्यार खुद से,

वही जीव देखो तरसते खड़े हैं ।।

अगर जी सको तो जिओ जूझ कर तुम,

अमरता तुम्हारे चरण चूम लेगी ।

न हो साथ कोई अकेले बढ़ो तुम,

सफलता तुम्हारे चरण चूम लेगी' ।

यह उथल–पुथल उत्ताल लहर,

पथ से न डिगाने पायेगी ।

पतवार चलाते जायेगें ।

मंजिल आयेगी, आयेगी।'

'लक्ष्य तक पहुँचे बिना पथ में पथिक विश्राम कैसा ?'

जब तक लक्ष्य न पूरा होगा, तब तक पग की गति न रूकेगी,

आज कहे चाहे जो दुनिया, कल को बिना झुके न रूकेगी।'

यदि हम उद्देश्य को सामने रखकर कार्य करते हैं तो उसे पूर्ण करने के लिये अपनी पूरी शक्ति एवं बुद्दि लगा देते हैं जिससे समय तो कम लगता ही है कार्य भी श्रेष्ठता से सिद्व होता है । हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि किसी कार्य को सफल बनाने के लिये मात्र उद्देश्यों का निर्धारण ही पर्याप्त नही होता वरन् उद्देश्यों की गुणवत्ता भी आवश्यक होती है । उपर्युक्त उद्देश्य ही मनुष्य को सफलता की ओर ले जाते है । इसी बात को ध्यान में रखकर शोधकर्त्री ने भी अपने इस शोध में उद्देश्यों का निर्धारण किया है ।

भारत के लिये एक ऐसे वैचारिक दर्शन की आवश्यकता है जो भारतीय राष्ट्रीय परिवेश के सर्वथा अनुकूल सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से लाभकारी और राष्ट्र को परम वैभव तक पहुँचाने में समर्थ हो अतः पं. दीनदयाल उपध्याय द्वारा दिया गया 'चिन्तन दर्शन' इस कसौटी पर खरा उतरता है इसलिये शोधकर्त्री

पण्डित जी एवं महात्मा गांधी के विचारों को घर–घर एवं प्रत्येक मनुष्य तक पहुँचाना चाहती है ।

पं0 दीनदयाल उपाध्याय एवं महात्मा गांधी ऐसे नक्षत्र थे जो अपने आप में सम्पूर्ण थें । उनके वैचारिक पक्ष मात्र जो अपने आप में सम्पूर्ण थे । उनके वैचारिक पक्ष मात्र के दर्शन से उनका विश्व तथा मानव से एक साथ साम्य समझ में आ सकता है । भारत माँ के उन सपूतों ने जीवन विधायन सम्बन्धी जो सूत्र दिये हैं वे समस्त समस्याओं का सटीक समाधान संजोये हुये है । अतः शोधकर्त्री के अध्ययन का उददेश्य यह है कि भारत से प्रेम रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति उनसे प्रेरणा ले सके ।

शोध का उद्देश्य है कि उनके विचारों से अभिभूत होकर हमारा समाज श्रम से सामाजिक संरक्षण समाप्त कर वह इस युग को श्रम युग समझ कर युग निर्माण में जुट जायें, जिनके सामने रोजी रोटी का सवाल है, जिन्हे न रहने के लिये मकान है, न तन ढकने के लिये वस्त्र है उनको सम्पन्न बनाना हमारा लक्ष्य बने यह शोध का उददेश्य है ।

जो प्रवृत्ति और व्यवस्था राजनीति और अर्थनीति, जो सामाजिक नियम और शिक्षा पद्धति हमें कर्म विहीन, निद्रालु, आलसी और बेईमान बनाये उसे हमें समझकर बदलने के लिये कटिबद्व हो जाये और निरन्तर ध्येय मन्दिर की ओर चलने में समर्थ हो सके । शोधकर्त्री का उददेश्य है कि पं0 दीनदयाल एवं महात्मा गांधी जी के राष्ट्र चेतना निर्माण के श्रेष्ठ विचारों को जनमानस तक पहुंचाकर समाज हित में सहभागी हो सके । शोधकर्त्री ने इसी प्रेरणा से आगे कदम बढ़ाया है ।

(घ) समस्या का सीमांकन -:

शोधकर्त्री को चाहिये कि प्रस्तुत समस्या के समुचित समाधान के लिये उसके स्वरूप को सीमाबद्व कर ले अन्यथा वह बीहड़ में फंसे हुये राही के समान किसी मार्गदर्शक की प्रतीक्षा में ललचायी आँखों से निहारती रह जायेगी । इसलिये शोध कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व ही शोधकर्त्री को चयनित समस्या का सीमांकन कर

लेना चाहिये । इसी दृष्टि से शोधकर्त्री ने भी अपनी चयनित समस्या को सीमांकित करके सफलता हेतु अपने कदम बढ़ाये हैं ।

पं० दीनदयाल उपाध्याय एवं महात्मा गांधी जी दोनो ही बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी पुरूष थे उनके वैचारिक दर्शन धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक सभी क्षेत्रों के लिये मार्गदर्शक का कार्य कर रहा है । उनके समस्त क्षेत्रों से सम्बन्धित विचारों का अध्ययन करने के लिये अत्यन्त संयम एवं धन की आवश्यकता पड़ेगी ।

अतः प्रस्तुत शोध में मात्र उनके शैक्षिक विचारों को ही संकलित करने का प्रयास किया गया है ।

इनके द्वारा लिखे गये लेख, दैनिक एवं साप्ताहिक पत्र–पत्रिकायें, पुस्तकें एवं भाषणों को एकत्र करके, अन्य सहयोगी स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों एवं पं. जी के अनन्य मित्र श्री दत्तोपन्त ठेगडी, नानाजी देशमुख और रामशंकर अग्निहोत्री, डा. मुरली मनोहर जोशी, डा. बाबू लाल तिवारी, डा. धर्मेश दुबे एवं पं. दीन दयाल उपाध्याय शोध संस्थान लखनऊ तथा दिल्ली एवं अन्य स्थानों की सहायता से उनके शैक्षिक विचारों, की उपादेयता सिद्व करने का प्रयास शोधकर्त्री द्वारा किया जायेगा।

(ड.) अध्ययन विधि -:

शोधकर्त्री को अपने शोध कार्य को पूर्ण करने के लिये किसी न किसी विधि को अपनाना पड़ता है । शोध समस्या की प्रकृति के अनुसार ही शोध विधि का प्रयोग किया जाना चाहिये । अर्थात् अध्ययन विधि का निर्धारण इस बात पर निर्भर करता है कि समस्या का स्वरूप क्या है? विद्वानों ने अनेकों शोध विधियों की खोंज की है जिनमें निम्नतः तीन विधियॉ प्रमुख है –

1. **प्रयोगात्मक शोध विधि**
2. **ऐतिहासिक शोध विधि**
3. **विवरणात्मक शोध विधि**

शोधकर्त्री अपने इस शोध में ऐतिहासिक शोध विधि तथा विवरणात्मक या सर्वेक्षण शोध विधि का प्रयोग करेगी । अतः इन दोनों विधियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

1. **ऐतिहासिक शोध विधि** –:

इस विधि में ऐतिहासिक महत्व के तथ्यों को ढूढ़कर उसका वर्गीकरण तथा विश्लेषण करके उनकी व्याख्या और आलोचना एवं तुलना के आधार पर कुछ मान्य निष्कर्ष निकाले जाते है । यह विधि अतीत के इतिहास का किसी विशेष दृष्टिकोण से अध्ययन करती है और संग्रहीत सामग्री की व्याख्या और विवेचना करके सम्बद्व तर्क संगत निष्कर्षों तक पहुँचती है । इतिहास ज्ञान के क्षेत्र मे अतीत की घटनाओं का एकीकृत वर्णन है । शिक्षा के क्षेत्र में ऐतिहासिक साधनो के आधार पर उसकी प्रमुख घटनाओ और उन्नतक्रम का अध्ययन किया जाता है । "इस प्रकार के अध्ययन से वर्तमान की समस्याओं का समाधान करने के लिये अतीत के अनुभवों से लाभ उठाया जा सकता है।"[1]

ऐतिहासिक विधि मे शोधकर्त्री के सामने यह कठिनाई होती है कि उसके पास प्रथम दृष्ट सूचनाये नही होती अर्थात् घटनाये भूतकाल में घट चुकी होती है । उनका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता । मूल लेखों के अंदर झांककर नहीं देखा जा सकता । अतः उसे उपलब्ध सामग्री पर ही विश्वास करना पडता है । अतीत की घटनाओं के सम्बन्ध में वह कुछ कर भी नही सकती भले ही उपलब्ध आंकडे कम विश्वसनीय ही क्यों न हों उसे उन्हीं पर आश्रित होकर अपना शोध कार्य पूरा करना पडता है ।

2. सर्वेक्षण शोध विधि -:

सामाजिक तथा शैक्षिक क्षेत्र में अनुसंन्धान करने के लिये सर्वेक्षण समस्या से सम्बन्धित आंकडों के संकलन का एक महत्वपूर्ण साधन व उपकरण हैं। समस्याओं का समाधान करने के लिये शिक्षाशास्त्री, मनोवैज्ञानिक, सरकार, उद्योगपति तथा राजनीतिज्ञ सभी सर्वेक्षण करते है । वे वर्तमान क्रिया की

---

[1] शिक्षा शोध – गणेश मूर्ति मिश्रा पृष्ठ – 6–9

सार्थकता सिद्व करने अथवा वर्तमान क्रिया में सुधार करने के लिये वर्तमान दशा से सम्बन्धित आंकडे एकत्र करते हैं । सर्वेक्षण सम्बन्धी अध्ययन का क्षेत्र तथा उसकी गहराई समस्या की प्रकृति पर निर्भर होगी, उसके अनुरूप सर्वेक्षण विस्तृत अथवा संक्षिप्त हो सकता है । इसके अन्तर्गत अनेक देशों अथवा एक देश धर्म, शहर अथवा किसी इकाई को ही ले सकते है । किसी विशेष पक्ष के विषय में आकड़े प्राप्त करेंगे या अनेक पक्षों के विषय में यह समस्या की प्रकृति पर निर्भर है । "सर्वेक्षण का मूल अर्थ ही ऊपर से देखना या अवलोकन या अन्वेषण होता है।" शब्दकोष के अनुसार भी सर्वेक्षण का अर्थ एक प्रायः सरकारी आलोचनात्मक निरीक्षण होता है । जिसका उददेश्य एक क्षेत्र की किसी एक स्थिति अथवा उसके प्रचलन के सम्बन्ध में यथार्थ सूचना प्रदान करना होता है।[1]'

इस प्रकार शोधकर्त्री शोध सम्बन्धी तथ्यों को खोजने और भारतीय जीवन में उनकी उपयोगिता को स्पष्ट करने के लिये ऐतिहासिक तथा सर्वेक्षण विधि का अनुसरण करेगी ।

(च) तथ्य एवं संकलन श्रोत -:

शोधकर्त्री ऐतिहासिक विधि के अन्तर्गत प्राथमिक एवं गौड़ स्रोतों के ऐतिहासिक महत्व के तथ्यों को ढूढ़कर उनका वर्गीकरण तथा विश्लेषण करके उनकी व्यवस्था और आलोचना एवं तुलना के आधार पर निष्कर्ष निकालने का प्रयास करेगी ।

प्रस्तुत शोध में सर्वेक्षण विधि के विभिन्न आयामों विद्यालय सर्वेक्षण, कार्य विश्लेषण, प्रलेखी विश्लेषण, प्रलेखी विश्लेषण, जमानत सर्वेक्षण, समुदाय सर्वेक्षण के द्वारा वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के सुधार के लिये वर्तमान दशा से सम्बन्धित आकडे एकत्र किये जायेगे । सर्वेक्षण के उपकरण निरीक्षण, प्रश्नावली, साक्षात्कार, मानक परीक्षण, मूल्यांकन, मापदण्ड आदि के माध्यम से प्राप्त आंकडों के आधार पर सीमाओं का ध्यान रखते हुये शैक्षिक पाठ्यक्रम सम्बन्धी सुझाव शोधकर्त्री प्रस्तुत करेगी । भारतीय शिक्षा व्यवस्था उससे सम्बन्धित साहित्य, शास्त्र, उपनिषद, वेद,

---

[1] अनुसंधान विधियां, सर्वेक्षण अनुसंधान – एच. के. कपिल पृष्ठ – 186

रामायण, रामचरितमानस, गीता, महाभारत आदि धर्मग्रन्थ तथा उनका महात्मा गांधी एवं पं. दीनदयाल उपाध्याय जी पर प्रभाव का अध्ययन करके तथ्य एकत्र किये जायेगे। अन्य विद्वानों जैसे डा. मुरली मनोहर जोशी, दत्तोयन्त ठेगडी, नाना जी देशमुख कु. सी सुदर्शन, डा. महेशचन्द्र शर्मा द्वारा दीनदयाल जी के सम्बन्ध में तथा स्वतन्त्रता संग्राम सेनानियों महात्मा गांधी जी की आत्मकथा, गीता सार, के द्वारा महात्मा गांधी जी के सम्बन्ध में लिखित सामग्री से एवं मौखिक संस्मरणों आदि से तथ्य संकलित किये जायेगे ।

महात्मा गांधी एवं पं. दीनदयाल जी किन–किन शिक्षाशास्त्रियों से प्रभावित थे ? स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, तिलक, रवीन्द्र नाथ टैगोर, गोपाल कृष्ण गोखले जैसे विचारकों ने उनको कितना और कैसे प्रभावित किया है । इस सम्बन्ध में तथ्य एकत्र किये जायेगे । महात्मा गांधी एवं पं. दीनदयाल जी के राजनैतिक, सामाजिक कार्यों का अध्ययन करके तथ्य संकलन का कार्य शोधकर्त्री द्वारा किया जायेगा ।

(छ) सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण -:

सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण से तात्पर्य है–"शोध विषय से सम्बन्धित ऐसा साहित्य जिसमें विषय के किसी पक्ष अथवा सम्पूर्ण विषय पर विचार व्यक्त किये गये हों ।"[1]

शोधकर्त्री को अपने सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षित एवं अध्ययन करके उपयोगी विषय सामग्री को एकत्र करते हुये समस्या का समाधान निकालना पड़ता है ।

भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों शिक्षाविदों एवं मनीषियों ने समय–समय पर अपने–अपने दर्शन के अनुसार विचारों का प्रतिपादन

---

1. स्वतन्त्रयोत्तर उत्तर प्रदेश में उच्च शिक्षक विकास, 1950–75, पी0 एच0 डी0 थीसिस गणेश मूर्ति मिश्र प्रवक्ता डी0 वी0 कालेज उरई पृष्ठ – 12

2. वर्तमान भारतीय राष्ट्रीय परिवेश में पं. दीन दयाल उपाध्याय के शैक्षिक विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन 1996–97 पी0 एच0 डी0 थीसिस डा0 बाबूलाल तिवारी प्रवक्ता बी.के.डी. कालेज झाँसी।

3. महात्मा गाँधी एवं जाँन डी.वी.के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन– धर्मेन्द्र दुबे

किया हैं । उनमें से स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, गोपाल कृष्ण गोखले, पं. जवाहर लाल नेहरू, रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, पं० दीनदयाल उपाध्याय, लाला लाजपतराय, पं० मदन मोहन मालवीय, बाल गंगाधर तिलक, गुरू जी गोलवरकर, प्रो. बलराज मधोक अग्निहोत्री, डा. महेशचन्द्र शर्मा, रामसकल पाण्डेय, डा. जे. एल. वर्मा, डा. बाबूलाल तिवारी का नाम प्रमुखता से लिया जाता है ।

शोधकर्त्री ने उपरोक्त महामानवों के शिक्षा सम्बन्धी विचारो का अध्ययन किया है तथा महात्मा गांधी, पं० दीनदयाल उपाध्याय जी के जीवन दर्शन से अत्यन्त प्रभावित होकर उनकी विशिष्ट चिन्तन धारा 'एकात्ममानववाद' 'अहिंसापरमोधर्मः' एवं "वसुधैवकुटुम्बकम" को राष्ट्रीय शिक्षा के लिये उपादेयता सिद्ध करना चाहती है।
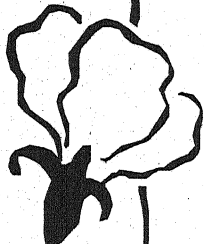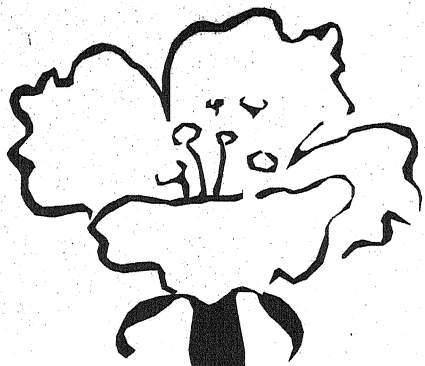
अध्याय द्वितीय

अध्याय द्वितीय
''महात्मा गाँधी जी का जीवन व कृतित्व''
(1869 – 1948)

ऐसा मालूम पड़ता है कि सन् 1869 की साल, समाज, शिक्षा व राज्य व्यवस्था में विश्व को नवीन विचार सिद्धान्त प्रदान करने, सत्य अहिंसा, प्रेम, करूणा को व्यवहारिकता प्रदान करने, शोषण उत्पीड़न विषमता सामाजिक, आर्थिक अन्याय के विरूद्ध क्रान्ति पैदा करने, पूर्वाग्रहों को परिवर्तित करने तथा व्यक्तिगत व सामूहिक कर्तव्य शक्ति को जागृत करने वाले किसी सर्वोदयी दार्शनिक को अपने अन्तिम चरण में समर्पित करने आया हो । भारत वर्ष के लिये यह वर्ष महत्वपूर्ण था । इसी वर्ष महान क्रान्तिकारी, राजनीतिज्ञ, समाज सुधारक, त्यागी एवं प्रतिष्ठित शिक्षाशास्त्री महात्मा गांधी जी का जन्म संवत् 1925 भद्रपद कृष्णपक्ष द्वादशी दिनांक–2 अक्टूबर सन् 1869 ई0 में गुजरात प्रदेश के पोरबन्दर, (सुदामापुरी) नामक स्थान पर मोढ़ा वर्णिक परिवार में हुआ था । उनका पूरा नाम मोहनदास करमचन्द गाँधी था । भारतीय इन्हें श्रद्धा एवं प्रेम से राष्ट्रपिता एवं बापू कहा करते हैं ।

1. गाँधी परिवार -:

उत्तमचन्द गाँधी या ओंता गाँधी इनके दादा थे। इनके पूर्व के पारिवारिक सदस्य व्यापारी थे। इनके नीचे की तीन वंश परम्परायें दीवानगीरी करती थीं। ओता गाँधी की दो शादियाँ हुयी थी । पहली पत्नी से चार तथा दूसरी से दो पुत्र पैदा हुये थे । इस प्रकार करमचन्द गाँधी अपने पिता के पांचवे पुत्र थे । लोग इन्हें कबा गाँधी भी कहा करते थे । गाँधी जी के पिता करमचन्द गाँधी के छोटे भाई का नाम तुलसीदास गाँधी था। दोनो भाइयों ने बीकानेर तथा राजकोट में दीवानगीरी की थी मृत्यु के समय गाँधी जी के पिता राजकोट दरबार से पेन्शन पाते थे । करमचन्द गाँधी के चार विवाह हुये थे। प्रथम दो पत्नियों से दो कन्यायें व अन्तिम से एक पुत्री एवं तीन पुत्र पैदा हुये थे। भाईयों में महात्मा गाँधी सबसे

छोटे थे इनके पिता परिवार प्रेमी, सत्यवादी, त्यागी एवं ईमानदार व्यक्ति थे। इनकी शिक्षा–सामान्य थी, किन्तु अनुभव एवं व्यवहारिक ज्ञान उच्चकोटि का था। ये धार्मिक प्रवत्ति के थे । इस सम्बन्ध में गाँधी जी ने लिखा है–: "पिताजी की शिक्षा अनुभव की थी । गुजराती की पांचवी पोथी की पढ़ाई किये थे । इतिहास व भूगोल के ज्ञान से तो बिल्कुल कोरे थे फिर भी इनका व्यवहारिक ज्ञान उच्च दर्जे का था । धार्मिक शिक्षा नही के बराबर थी पर मन्दिर में जाने पर कथा सुनने से उन्हें सहज ज्ञान मिला था।"[1] गाँधी जी की माता पुतलीबाई साधवी, भावुक, धर्मनिश्ठ, उपासना, परायणव्रती, व्यवहार कुशल व बुद्धिमती महिला थी । व्रत व उपवास उनके जीवन के अभिन्न अंग थे । माता–पिता दोनों धर्म परायण थे । गाँधी जी के जीवन पर परिवार के धार्मिक वातावरण मातापिता के विचारों, आदर्शो एवं सिद्धान्तों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा था ।

गाँधी जी की वंश वृक्षावली
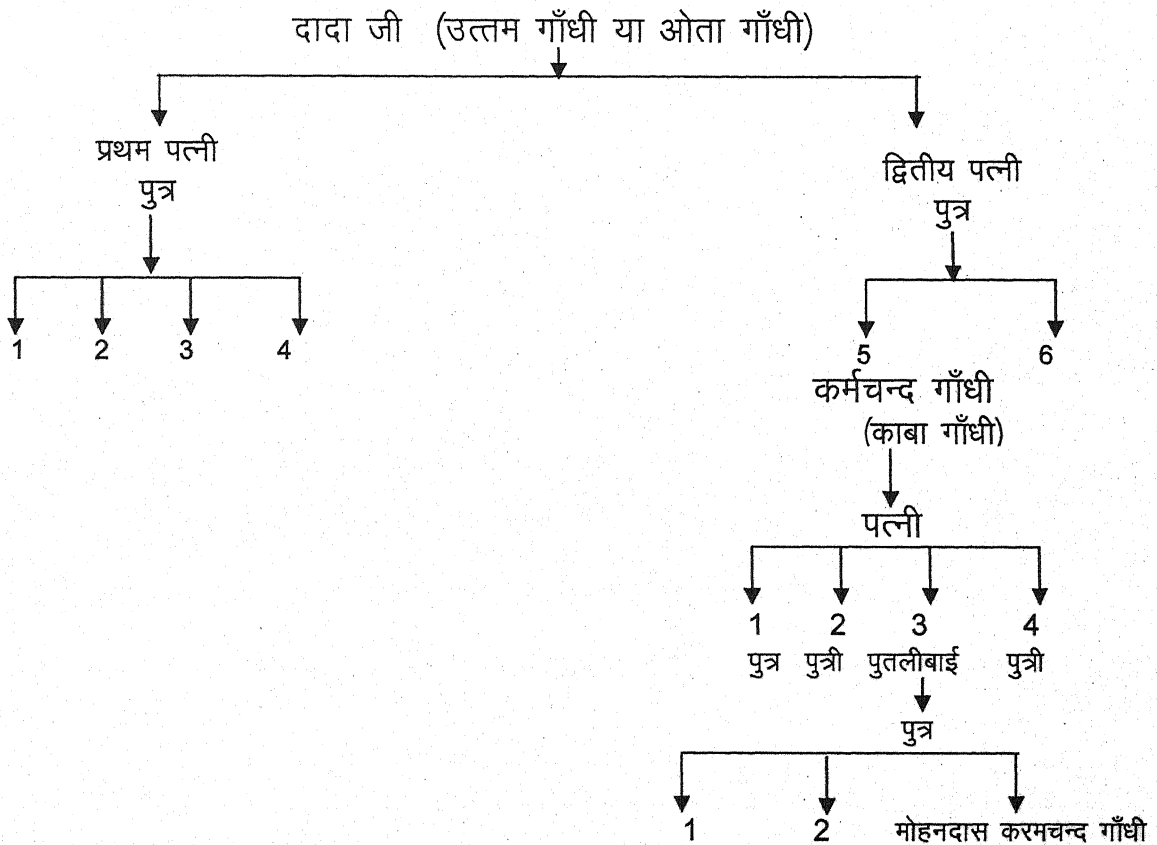
[1] गाँधी आत्मकथा – अनुवादक महावीर प्रसाद पोद्दार, सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली, 1951

2. शिक्षा-:

गाँधी जी की प्रारम्भिक शिक्षा पोरबन्दर में हुयी थी । पिता के पोरबन्दर से राजकोट चले जाने के बाद सात – वर्ष की आयु में गाँधी जी ने राजकोट के ग्वामणि – विद्यालय में अध्ययन प्रारम्भ किया । गाँधी जी शर्मीले स्वभाव के थे । उन्हें किसी भी व्यक्ति व सहपाठी से वार्तालाप करने में रूचि नहीं थी इस कारण इनके कोई मित्र इस समय नहीं बने थे । बचपन में गाँधी जी का अपने अध्यापक के प्रति आदर का भाव था । अध्यापक को धोखा देना या उनसे असत्य भाषण देना इनके स्वभाव के विपरीत था । प्रारम्भिक कक्षाओं में गाँधी जी साधारण कोटि के विद्यार्थी समझे जाते थे परन्तु मेधावी छात्र न होते हुये भी उन्हें उत्तम आचरण, आज्ञापालन व गुजरात प्रान्त के छात्रों के लिये निर्धारित छात्रवृत्ति कक्षा पांच व छः क्रमशः 4 व 5 रू0 प्राप्त हुयी थीं । हाईस्कूल में प्रवेश के समय इनकी आयु 13 वर्ष की थी । 13 वर्ष की अल्प आयु में सन् 1881–82 में गांधी जी का विवाह कस्तूरबाई के साथ हुआ । पत्नी कस्तूरबाई स्वतन्त्र विचार वाली, मितभाषिणी, परिश्रमी, एवं सरल स्वभाव की महिला थी वे निरक्षर थीं । गांधी जी ने इन्हें पढ़ाने के लिये शिक्षक का सहयोग लिया, किन्तु इनका प्रयास निष्फल रहा, मात्र पत्र लेखन व गुजराती भाषा का ही ज्ञान प्राप्त कर सकीं । इस सम्बन्ध में गांधी जी ने लिखा है –:

"मेरी विषय वासना कार्य में बाधा थी । शिक्षक द्वारा पढ़वाने की कोशिश बेकार रही नतीजा यह रहा कि आज कस्तूरबाई मुश्किल से चिट्ठी भर लिख और साधारण गुजराती समझ सकती है ।"[1]

हाईस्कूल की कक्षा में गांधी जी मंदबुद्धि विद्यार्थी नहीं थे । वे अपने बड़ो के दोष को देखना पसन्द नहीं करते थे । अन्य छात्रों की नकल करना उनके स्वभाव के विपरीत था । शिक्षा विभाग के इन्सपेक्टर 'चाइल्स' के द्वारा विद्यालय निरीक्षण के दौरान 'कैटल' शब्द की वर्तनी को शुद्ध रूप में लिखने हेतु अध्यापक द्वारा आगे के छात्र की स्लेट से लिखने हेतु दिये गये संकेत को न मानना उनके

---

[1] गाधी आत्म कथा – अनुवादक महावीर प्रसाद पोद्दार प्रष्ठ 13 – 14 सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली 1951

उपर्युक्त स्वभाव का द्योतक है । अध्यापक के नीति विरूद्ध कार्य से इनके मन में उनके प्रति अनादर का भाव जागृत नहीं हुआ । गांधी जी अपने आचरण के प्रति सदैव सतर्क रहते थे । प्रारम्भिक काल में वह शिक्षण व व्यायाम के पारस्परिक सम्बन्ध को मान्यता नहीं देते थे किन्तु बाद में शारीरिक शिक्षा का मानसिक शिक्षा की भांति महत्व है समझने लगे । गांधि जी के शब्दों में –

> "बाद में समझ में आया कि विद्या अभ्यास में व्यायाम अर्थात्
> शारीरिक शिक्षा का मानसिक शिक्षा के बराबर ही स्थान होना चाहिये।"[1]

लगभग 18 वर्ष की आयु में सन् 1887 में गांधी जी ने हाईस्कूल परीक्षा उत्तीर्ण की । इस परीक्षा के उत्तीर्ण करने के बाद उच्च शिक्षा के लिये गांधी जी ने 'भावनगर के श्यामलाल' कालेज में प्रवेश लिया । कालेज के प्रथम सत्र के समापन पर गांधी जी घर वापस आ गये । यहां की पढ़ाई में इन्हे रस नहीं मिल रहा था । इसी समय गाँधी जी के परिवार के सलाहकार एवं मित्र, "भाउजी दुबे" की राय से तथा चाचा और माता जी की अनुमति से बैरिस्टरी पढ़ने हेतु इंग्लैण्ड जाने का उनका विचार दृढ़ हो गया । अतः गाँधी जी 4 सितम्बर सन् 1888 में बम्बई बन्दरगाह से इंग्लैण्ड के लिये चल दिये इंग्लैण्ड पहुँचकर इनका '"बैरिस्टरी" की परीक्षा उर्त्तीण कर तीन वर्ष बाद स्वदेश वापस आने का लक्ष्य था । "बैरिस्टर" बनने के लिये अंग्रेजी की समझ व ज्ञान आवश्यक था । इसलिये इन्होंने लन्दन का "मैट्रीकुलेशन" पास करने का निश्चय किया । इस परीक्षा में "लैटि्न" एक अन्य भाषा अनिवार्य थी । गाँधी जी ने लैटि्न व फ्रैन्च इन दो भाषाओं को लेकर यह परीक्षा दो प्रयत्नों में उत्तीर्ण की । इस सम्बन्ध में गाँधी जी ने लिखा है ।

> "एक मित्र ने सलाह दी और कहा तुम्हें कोई कठिन परीक्षा देनी हो
> तो तुम लंदन का मैट्रीकुलेशन पास कर लो, और इससे साधारण ज्ञान
> बढ़ेगा ... वकील के लिये लैटि्न बड़े काम की चीज है ।
> जो लैटि्न जानता है वह कानूनी किताबें आसानी से समझ लेता है ।

---

[1] गाँधी आत्म कथा – अनुवादक महावीर प्रसाद पोद्दार पृष्ठ 16,, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

लैट्नि भाषा जानने से अंग्रेजी भाषा पर अधिकार बढ़ता है" ।[1]

तीन वर्ष कठिन परिश्रम के बाद 10 जून 1891 में गाँधी जी "बैरिस्टर" उपाधि से अलंकृत हो गये। 11 जून को इग्लैण्ड हाईकोर्ट में ढाई शींलिग जमाकर वकालत का प्रमाण पत्र ले, 12 जून 1891 को भारत में वकालत प्रारम्भ करने हेतु स्वदेश वापस आये । इग्लैण्ड से भारत लौटते समय जहाज पर इन्होनें "हिन्द स्वराज" नामक प्रथम पुस्तक लिखी थी, जिसका प्रकाशन सन् 1908 में हुआ था। इस पुस्तक में इन्होंने पश्चिमी सभ्यता का वास्तविक चित्रण किया था। भारतीयों को उससे बचने का निर्देश भी दिया । यह पुस्तक गाँधी वाद की पूंजी है । गांधी जी के शब्दों में बृज कृष्ण चांदी वाल ने लिखा है – "भारत की मुक्ति इसी मे है कि 50 वर्षो में उसने जो कुछ सीखा है उसे भुला दे सादा किसान जीवन अपनाना होगा और उसी जीवन को सच्ची खुशी का स्रोत समझना चाहिये ।[2]"

3.प्रारम्भिक प्रभाव-:

प्रत्येक दार्शनिक का भावी जीवन व शिक्षा सिद्धान्त उसके बाल्यकाल की घटनाओं, अनुभवों व प्रत्यक्ष अनुभूतियों से प्रभावित होता है । यह अनुभूतियां बीज रूप में उनके प्रारम्भिक कालों में संगठित होती है और समय पाकर उनसे विचार रूपी फल प्रगट हो विश्व को प्रभावित कर देते है । गाँधी जी के जीवन पर उनके पारिवारिक वातावरण का गहन प्रभाव पड़ा था ।

इन प्रभावों ने गाँधी जी के विचारों में निश्चितता प्रदान की । माता–पिता की धर्मनिष्ठता ने इन्हें धर्म के प्रति उन्मुख कर धार्मिक बनाया पारिवारिक वातावरण के महत्व स्नेह, सहानुभूति, दया करूणा, सत्यवादिता का प्रभाव बालक गाँधी के जीवन पर भी पड़ा । उनके पिता व चाचा के मध्य प्रेम आपस में प्रेम व आज्ञाकारिता विद्यमान थी इसका प्रभाव गाँधी पर भी पड़ा । वे आपसी प्रेम को

1. गाँधी आत्म कथा–अनुवादक महावीर प्रसाद पोद्दार पृष्ठ–16 सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
2. बृजकृष्ण चाँदीवाल – "बापू के चरणों में" पृष्ठ–153 सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली 1949

अपने जीवन में अपनाने के लिये सदैव तत्पर रहते थे। पिता सत्यवादी और ईमानदार थे । अतः गाँधी जी ने भी सत्य व ईमानदारी को जीवन में महत्व दिया । गाँधी जी स्वयं अपने माता–पिता के बारे में लिखते है –

"पिता जी कुटुम्ब प्रेमी, सत्यप्रिय, शूर और उदार किन्तु क्रोधी थे, वे रिश्वत से दूर भागते थे । इसलिये शुद्ध न्याय करते थे । मेरे मन पर यह छाप है कि माता जी साध्वी स्त्री थी । बड़ी भावुक, पूजा पाठ के बिना भोजन न करतीं ।"[1]

4. मातृ पितृ भक्ति एवं सत्य की अनुभूति-:

गाँधी जी का मन यद्यपि पुस्तकों को पढ़ने में नहीं लगता था, किन्तु कक्षा में निर्धारित पुस्तकें तो पढ़नी ही पढ़ती थीं। विषय से हटकर पुस्तकें, पढ़ने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था, किन्तु इनके पिता द्वारा खरीदी गई पुस्तक "श्रवण पितृ भक्ति" को उन्होनें बड़े प्रेम से पढ़ा। इसी दृश्य को उन्होनें तत्कालीन प्रचलित "बाइसकोप" (7) द्वारा भी देखा उसका प्रभाव गाँधी जी पर ऐसा पड़ा कि वे जीवन पर्यन्त मातृ–पितृ भक्त हो गये। गाँधी जी अपने माता–पिता की आज्ञा के बिना कोई भी कार्य नहीं करते थे । उनके बाल्यकाल में एक नाटक कम्पनी आयी थी जो "हरिश्चन्द्र की कथा" पर एक नाटक खेल रही थी । इसे देखने के लिये पिता की अनुमति से वहां पर गये इस नाटक ने बालक गाँधी के जीवन में "सत्य की अनुभूति" प्रेरणा दी और "सत्य" के शोधक बनने का प्रयत्न करने लगे । इस सबंध में गाँधी जी ने स्वयं लिखा है कि :–

"परन्तु पिताजी की खरीदी एक पुस्तक श्रवणा पितृ भक्ति नाटक पर मेरी नजर पड़ी । बड़े चाव और अनुराग से मैने उसे पढ़ा । उन्हीं दिनों काठ के बक्से में शीशे से तस्वीर दिखाने वाले भी घूमा करते थें । उनमें मैने श्रवण को अपने माता पिता को कांवर में बिठाकर यात्रा के लिये ले जाने वाला चित्र देखा । दोनों का मुझ पर गहरा असर पड़ा । मन में श्रवण के समान होने के विचार उठते।"[2]

---

[1] गाँधी आत्म कथा पृष्ठ–2–3 सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली – 1954

[2] गाँधी जी विद्यार्थी जीवन के कुछ अनुभव, पृष्ठ–9 बापू की सीख साहित्य प्रकाशन, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली – 1952

"इस नाटक को देखने से मेरी तृप्ति नहीं होती थी । हरिश्चन्द्र के सपने आया करते, यही धारणा होती कि हरिश्चन्द्र जैसी विपत्तियां भोगना और सत्य का पालन करना ही सच्चा सत्य है । मेरे हदय में हरिश्चन्द्र आज भी जीवित है।"[1]

5. अहिंसा की अनुभूति -:

गांधी जी अपने विद्यार्थी जीवन में अपने आचरण के प्रति सदैव जागरूक रहे, किन्तु किंचित मित्रों के प्रभाव से उनमें अल्पकाल में कुछ दुर्गुण भी प्रवेश कर गये थे, किन्तु उससे उन्हें शीघ्र ही छुटकारा प्राप्त हो गया।

मित्रों के प्रभाव में आकर मांस भक्षण, धूमपान और चौर कर्म भी करना पड़ा, परन्तु इस कार्य को वे मन से कभी भी राजी नहीं हुये । अपनी उपर्युक्त त्रुटियों के लिये उन्होंने पत्र द्वारा पिता से क्षमा मांगी । कृत्य कर्म हेतु दण्ड की भी याचना की थी।

उन्हें विश्वास था कि पिताजी अवश्य कोई न कोई दण्ड देंगे, किन्तु पत्र पढ़कर पिताजी रोने लगे, पत्र को फाड़कर फेंक दिया और शान्त होकर सो गये । उन्होने पिताजी के मानसिक कष्ट का अनुभव किया गांधी जी के लिये यही अहिंसा का प्रथम पाठ व उसकी अनुभूति थी । गांधी जी ने लिखा है –

"उस समय मै सिवाय पितृ–प्रेम के और कुछ न दे सका था । पर आज मै उसे शुद्व अहिंसा का नाम दे सकता हूँ । ऐसी अहिंसा के व्यापक रूप धारण कर लेने पर उसके स्पर्श से कौन अछूता रह सकता था।"[2]

6. सर्व धर्म निष्ठता, निर्भयता व प्रायश्चितता की अनुभूति-:

पिछले पृष्ठों पर यह कहा गया है कि गांधी जी का धर्म के प्रति रूझान उनके पारिवारिक धार्मिक पर्यावरण के कारण हुआ था । धर्म की शिक्षा उन्हें वातावरण से सदैव मिलती रही है यद्यपि 16 वर्ष की आयु तक कोई औपचारिक शिक्षा धर्म की उन्हें नही मिली । धर्म के बीज का वपन गांधी जी की नौकरानी "रम्भा" ने किया था । 'भय' से मुक्ति का मात्र 'राम का जाप' है । गांधी जी भूत

?

[1] तदैव –पृष्ठ 10

[2] गाँधी जी "आत्मा कथा" पृष्ठ – 33 सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली 1951

प्रेत के भय से अपने को बचाने के लिये बाल्यकाल में ही ''राम नाम'' का जाप किया करते थे । गांधी जी ने ''राम रक्षा स्त्रोत'' का पाठ व रामयण का परायण भी किया था । श्रीमद भागवत की कथा का श्रवण भी उन्होंने किया था । इस हेतु अल्पवय में ही गांधी जी पर शुभ संस्कारों का प्रभाव पड़ चुका था । राजकोट मे रहते हुये इन्हें सभी धर्मो एवं सम्प्रदायों के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा मिली थी । इनके पिताजी के पास जैन मुस्लिम व पारसी सभी सम्प्रदाय के लोग आते थे । उनसे इन धर्मों की मूल बातें सुनने को मिलती थी इसलिये इनके मन में सभी धर्मों के प्रति समान भाव उत्पन्न हो गया था ।

अपराध व पाप कर्म करने के पश्चात गांधी जी उसकी पुनरावृत्ति जीवन में नही करते थें । ऐसा स्वभाव उनका बचपन का था । इसे ही वह शुद्व प्रायश्चित मानते थे । उन्होंनें लिखा है –

''अधिकारी के सामने जो व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक खुले दिल
से और फिर न करने की प्रतिज्ञा के साथ अपना दोष
स्वीकार कर लेता है, वह शुद्धतम प्रायश्चित है।''[1]

इस सिद्वान्त को दृष्टि में रखकर गांधी जी ने अपने मां के समक्ष मांस, शराब व परस्त्री संग न करने की प्रतिज्ञा ले ली थी । यह उनके द्वढ़ चरित्र का प्रतीक था। गाँधी जी की रूचि संस्कृत व गणित विषयों में अधिक नहीं थी । संस्कृत का सम्यक ज्ञान न प्राप्त करने का गाँधी जी को जीवन भर पश्चताप रहा। इस प्रकार हम देखते है कि गाँधी जी बाल्यकाल से सत्य प्रिय थे जबसे उन्होनें हरिशचन्द्र व प्रहलाद की कथा पढ़ी थी तभी से उनमें सत्य के प्रति निष्ठा जागृत हो चुकी थी। और प्रहलाद के जीवन से वे इतने प्रभावित हुये कि उस बालक के दृढ़ता के आधार पर ही उन्होनें सत्याग्रह के प्रयोग का आविष्कार किया। निर्भयता की शिक्षा अपनी दाई से ग्रहण की थी।

---

[1] गाँधी जी ''आत्मा कथा'' पृष्ठ – 33 सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली 1951

7. इंग्लैण्ड के अनुभव

इंग्लैण्ड में गाँधी जी को अनेक भारतीयों तथा विदेशियों से सम्पर्क स्थापित करने का अवसर मिला । इन सम्पर्को ने उनके जीवन को बहुत प्रभावित किया । डा0 प्राण जीवन मेहता, दलपत रामशुक्ल, प्रिंस रणजीत सिंह जी तथा दादा भाई नौरोजी व उनेक इंग्लैण्ड यात्रा के साथी चंपक राय मजुमदार विशेष रूप से उल्लेखनीय है । डा0 मेहता–अन्य की वस्तु बिना आज्ञा न छूना, किसी को सर कहकर संबोधित न करना आदि । यूरोपीय रीति रिवाजों की डा0 मेहता ने गाँधी जी को शिक्षा प्रदान की इस संबध में डा0 मेहता ने कहा है कि –

"इस देश में आकर पढ़ने के बजाय यहाँ के
जीवन का अनुभव प्राप्त करना ही अधिक आवश्यक"[1]

दलपत राय शुक्ल–भारत निवास के दौरान गाँधी ने किसी भी पत्रिका, समाचार पत्र व साप्ताहिक पत्रों का अध्ययन नहीं किया था । इंग्लैण्ड में दलपत राय शुक्ल के प्रभाव से उन्होने "डेली न्यूज" "डेली ग्राफ" और "पेलमेल गजट" का अध्ययन प्रारम्भ किया । इससे उन्हें सामान्य ज्ञान व विदेशी रीति रिवाजों का अनुभव प्राप्त हुआ ।

(अ) साल्ट, हावार्ड विलियम श्रीमती अनांकिग्स, फर्ड की डा. एलिग्सन द्वारा शाकाहार के औचित्य की पुष्टि -:

गाँधी जी शुद्ध शाकाहारी थे । इस प्रवृत्ति को उन्होनें इंग्लैण्ड में भी बनाये रखा । क्योकि वे इस हेतु प्रतिज्ञाबद्ध थे । अतः इसके औचित्य को प्रतिपादित करने के लिये उन्होने "साल्ट" द्वारा लिखित "अन्नाहार की हिमायत" (प्ली फार वेजीटेरिन) हावार्ड विलियम की आहार नीति (द इथिक्स ऑफ डाइट) श्रीमती अन्नांकिग्स फर्ड की उत्तम आहार नीति (द परफेक्ट वे इन डाइट) पुस्तकों का गहन अध्ययन किया । डा0 इंलिग्सन के आरोग्य विषयक लेखों" ने भी इनके विचारों की पुष्टि की । इस संबध में गाँधी जी ने स्वंय लिखा है कि –

---

[1] गाँधी जी "आत्मकथा" पृष्ठ – 57 सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली 1951

"इन सारी पुस्तकों के पढ़ने का परिणाम यह हुआ कि भोजन के प्रयोगों ने महत्वपूर्ण स्थान ले लिया । इन प्रयोगो में पहले आरोग्य दृष्टि की प्रधानता थी बाद में धार्मिक दृष्टि सर्वोपरि हो गई ।"[1]

(ब) थियोसोफिस्ट से परिचय व धर्म की प्रेरणा -:

गाँधी जी का परिचय दो थियोसोफिस्ट सगे भाईयो से हुआ । इनके सम्पर्क व सहयोग से गाँधी जी ने संस्कृत गीता व अर्नाल्ड द्वारा लिखित "गीता का अनुवाद" का अध्ययन किया । गीता के दूसरे अध्याय के अन्तिम श्लोकों का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा । इन्हीं की प्रेरणा से गाँधी जी ने अर्नाल्ड का "बुद्ध चरित" (लाइट ऑफ एशिया) व मैडम "ब्लैवाटस्की" की टू थियासोफी का अध्ययन किया । इन पुस्तकों ने गाँधी जी को हिन्दू धर्म की पुस्तकों को पढ़ने की प्रेरणा दी । "त्याग में धर्म है" इस तथ्य का ज्ञान उन्हें "बाइबिल" के ओल्ड टेस्टामेन्ट तथा "न्यू टेस्टामेन्ट" के अध्ययन से हुआ । गाँधी जी ने "कारलाइल" की "विभूति" तथा "विभूति पूजा" "हिरोज एण्ड हीरो वर्शिप" का अध्ययन किया । जिससे उन्हें हजरत मोहम्मद की महानता व तपस्या का ज्ञान प्राप्त हुआ । इसी प्रकार उन्होनें नारायण हेम चन्द तथा "कार्डिन्स" "मैनिग" के जीवन से सादगी व हृदय की स्पष्टता का ज्ञान प्राप्त किया ।

8. वर्धा सम्मेलन से पूर्व के अनुभव व प्रयोग -:

गाँधी जी वास्तव में युग पुरूष थे । जीवन के समस्त क्षेत्रों का अनुभव उन्होनें प्राप्त किया । शिक्षा के क्षेत्र में उनकी समस्त देन "उनके स्वानुभूति" का परिणाम थी । परीक्षण व खोज ये दो तत्व ऐसे थे जिसमें इनका पूर्ण विश्वास था । गाँधी जी ने अपने सम्पूर्ण शैक्षिक विचार धाराओं का उल्लेख वर्धा सम्मेलन में किया है । किन्तु इसका परीक्षण खोज व स्वानुभूति को उन्होनें विभिन्न स्थानों पर रहते हुये किया था । इस दिशा में उनका मस्तिष्क बहुत दिनों से सक्रिय रहा था ।

---

1. वही पृष्ठ – 61

शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न स्थानों में जो कुछ चिन्तन, मनन व अवलोकन उन्होनें किया उन्हें हम निम्न उपशीर्षकों में प्रगट कर सकते है ।

(अ) डरबन के प्रयोग -:

1893 के अप्रैल माह में गाँधी जी ने भारत से दक्षिण अफ्रीका के लिये प्रस्थान किया । एक माह की लम्बी यात्रा के बाद गाँधी जी मई माह माह के अन्त में नेटाल पहुँचे । नेटाल बन्दरगाह "डरबन" बन्दरगाह के नाम से भी जाना जाता था । डरबन में तो गाँधी जी । 1904 में गये । सन् 1894 में इन्होनें नेटाल कांग्रेस की स्थापना की । डरबन पहुँचने पर सन् 1904 में "इण्डियन ओपीनियन" नाम के एक साप्ताहिक पत्र का सम्पादन करना शुरू किया । इस सम्बन्ध में गाँधी जी के विचार को बृज कृष्ण चांदीवाल ने उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार से लिखा है –

"इसमें मै प्रतिमाह अपनी आत्मा को उड़ेलता हूँ और उस चीज को समझाने का प्रयत्न करता हूँ जिसे मै सत्याग्रह के नाम से पहचानता हूँ ।"[1]

डरबन आते समय गाँधी जी के मित्र पोलॉक ने उन्हें "रस्किन की पुस्तक" "अन टू द लास्ट" को पढ़ने की सलाह दी । इनकी सलाह से इस पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् गाँधी जी के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन हुये। उन्होने इस पुस्तक का भावान्तर "सर्वोदय" के नाम से किया । इस पुस्तक के संबध में गाँधी जी ने लिखा है कि–"उन पुस्तकों में से जिसने मेरे जीवन में तत्काल महत्व का रचनात्मक परिवर्तन कर दिया हो वैसी तो यही पुस्तक कही जायेगी । ..... मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मुझमें गहराई से भरी हुयी थी उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैने 'रस्किन' के इस ग्रंथ रत्न में देखा । .... उसने विचारों पर अमल कराया ।"

डा0 रसाल ने गाँधी द्वारा समझे गये इस पुस्तक के सारत्व को निम्न प्रकार अपनी अनुवादित पुस्तक में उल्लेख किया है ।

1. व्यक्ति का हित सबके हित में निहित है ।

---

[1] बृज कृष्ण चांदीवाल "बापू चरणों में" पृष्ठ–161

2. एक वकील के काम का मूल्य वही है, जो एक नाई के काम का और इस अर्थ में कि अपने कार्यो के द्वारा जीविका के उपार्जन का अधिकार सबको एक सा है ।

3. श्रम का जीवन अर्थात् खेत जोतने वाले और कल–कला कुशल का जीवन भी श्रेष्ठ है ।[1]

गांधी जी ने दूसरे दिन से ही इस पुस्तक की शिक्षाओं के अनुसार जीवन यापन प्रारम्भ कर दिया । शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने इस पुस्तक से निम्न सार ग्रहण किये –

1. बालकों की शिक्षा में चरित्र का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिये ।
2. बौद्धिक शिक्षा के साथ–साथ श्रम शिक्षा के अनौपचारिक साधन ।
3. ग्रह का भी योग अनिवार्य रूप से होना चाहिये । ?
4. सादगी व सेवा भाव भी शिक्षा का साधन हो ।

सन् 1897 में जब गाँधी जी 'डरबन' पहुचे तब उनके साथ तीन बच्चे व दस वर्षीय भतीजा था । इन बच्चों के पढ़ानें का प्रश्न उपस्थित हो गया । ईसाई विद्यालयों के अलावा अन्य भारतीय विद्यालयों की शिक्षा पद्धति उन्हें पसन्द नहीं थी ।

अतः घर पर ही उनके अध्ययन की व्यवस्था करनी पड़ी । उनका विचार था कि जो शिक्षा–बालक घर के वातावरण से सहज प्राप्त कर लेता है वैसी शिक्षा विद्यालयों और छात्रावासों से संभव नही है । उन्हें यह दुख बना रहा कि वे अपने अनुसार जैसी शिक्षा देना चाहते थे नहीं दे पाये ।

(ब) जोहन्सबर्ग के प्रयोग -:

यहाँ पर गांधी जी के जीवन में सादगी का शुभारम्भ हुआ । 'सर्वोदय' के विचार ने उन्हें प्रभावित करना प्रारम्भ 'कर दिया था । जीवन में निम्नलिखित परिवर्तन हुये –

1. घर पर ही रोटी बनाना शुरू किया ।

---

[1] अनुवादक डा0 रसाल "मेरा प्रारम्भिक जीवन" पृष्ठ – 74

2. हाथ से पिसा आटा प्रयोग करने लगे । इससे तीन लाभ हुये– सादगी, स्वास्थ्य व धन की बचत ।

3. हाथ की चक्की में श्रीमति पोलक, बच्चे, गाँधी जी व कस्तूर बाई सभी सहयोग देते थे इससे स्वालम्बन की भावना का विकास हुआ ।

4. घरेलू कार्य जैसे सफाई, धुलाई व पाखाना स्वयं धोते थे । जिसके कारण उनके बच्चों में इन कार्यो के प्रति कभी घृणा उत्पन्न नहीं हुयी।

5. सेवा के कार्य स्वयं करते थे, व बच्चे भी हाथ बटाते थे ।

6. बच्चों को अपने साथ कार्यालय ले जाते, जिससे बच्चों का पांच मील पैदल यात्रा से अच्छा व्यायाम हो जाता था । रास्ते में बच्चों को पढ़ाते जाते दफ्तर में भी पढ़ने का काम दे देते थे ।

7. जो माता–पिता अपने बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाते थे वे देशद्रोह करते है तथा बालकों का अहित करते है, ऐसा गांधी जी मानते थें उन्होने अपने बच्चों को मातृभाषा का सामान्य ज्ञान दे दिया था ।

यहीं पर इनका सम्पर्क श्री रामचन्द्र भाई से हुआ । इनके चरित्र से उन्होने व्यवहारिक शिक्षा प्राप्त की । ये सत्य के अन्वेषक व चरित्रवान व्यक्ति थे । इस प्रभाव के कारण गांधी जी बालक को शिक्षा में चरित्र को विशेष महत्व देने लगे । इस प्रकार इन प्रयोगों से गांधी जी ने बुनियादी व बेसिक शिक्षा सिद्धान्तों की नींव रखी । जिज्ञासु एवं शिक्षक के रूप में गांधी जी सदैव सच्चे ज्ञान हेतु प्रयोग करते रहे । इन विचारों का बेसिक शिक्षा का गहरा प्रभाव पड़ा ।

(स) <u>फिनिक्स आश्रम का प्रयोग</u> -:

गांधी जी चाहते थे कि आश्रम का प्रत्येक व्यक्ति स्वयं परिश्रम करे समान वेतन भोगी हो, एवं अवकाश के समय प्रेस की देखभाल करे । इस कारण वे 'इण्डियन' 'ओपीनियन' प्रेस को एक विस्तृत क्षेत्र में स्थापित करने के लिये डरबन से 13 मील दूर एवं फिनिक्स रेलवे स्टेशन से दो मील की दूरी पर 100 एकड़ भूमि को क्रय कर लिया । इस प्रकार इस आश्रम का सम्पूर्ण वातावरण परिश्रम मय हो गया । गांधी जी इस आश्रम में अपने सहयोगियों के साथ रहकर अपने

प्रयोग कर रहे थे । यही इनके कर्मचारियों एवं सहयोगियों के बच्चे भी निवास करते थे । इनकी शिक्षा की समस्या का प्रश्न इनके सामने था । बच्चों की कुल संख्या लगभग 30 थी । इस समस्या के समाधान हेतु इन्होनें 'श्रम के समन्वय' से शिक्षा देने का प्रावधान किया। इसके लिये गांधी जी ने निम्न लिखित कार्यक्रम प्रस्तुत किये –

1. तीन घण्टे पढ़ाई होगी ।
2. दो घण्टे कृषि कार्य होगा ।
3. रात्रि में पुनः पढाई होगी ।

गांधी जी 'ज्ञान के विस्तार' हेतु कार्य करना किसी पुस्तक व घटना पर आपस में सम्बन्धित विषय पर विचार विमर्श करना व अन्य शंकाओ का समाधान करना ही शिक्षा का साधन मानते थे । इस आश्रम में गांधी जी स्वयं शिक्षक का कार्य करते थे । 'हिन्द स्वराज' पुस्तक में गांधी जी ने इस समय के अनुभवों एवं लोगों के विचारों को संग्रहित किया है । उनके ये प्रयोग ही बुनियादी शिक्षा के आधार बनें । गांधी जी ने भी यह अनुभव किया था कि शिक्षा, मन व बुद्दि पर अनुवांशिकता का विशेष प्रभाव पड़ता है । बुद्धि जन्मजात होती है । वातावरण भी अपना प्रभाव डालता है । किन्तु अनुवांशिकता का बुद्धि पर गहरा व महत्वपूर्ण असर होता है । गांधी जी ने इस सम्बन्ध में स्वयं कहा है –

"बच्चों को मां बाप की सूरत शक्ल की विरासत जैसे मिलती है वैसे ही उनके गुण दोषो की विरासत जरूर मिलती है । उनमें आसपास के वातावरण के कारण अनेक प्रकार की कमी जरूर हो जाती है पर असल पँजी तो वही होती है जो उन्हें बाप दादों की तरफ से मिलती है । ..... जैसे दोषों की विरासत से कुछ लड़के अपने आपको बचा लेते है यह आत्मा का मूल स्वभाव है, उसकी बलिहारी है ।"

(द) टॉलस्टॉय आश्रम -:

अपने सहयोगियों की सहायता से गांधी जी ने सन् 1911 ई० में 'ट्रान्सवाल' में 'टॉलस्टाय आश्रम' की स्थापना की । प्रारम्भ में इस आश्रम में 10 स्त्रियों और

60 पुरूषों शिक्षण हेतु एक मकान पाठशाला के रूप में परिवर्तित किया गया था। मि० केलन बेक ने मुफ्त में इस आश्रम हेतु 1100 एकड भूमि प्रदान की थी। इस स्थान से एक किलोमीटर की दूरी पर 'लाली' रेल्वे स्टेशन तथा 21 मील की दूरी पर 'जोहंसबर्ग' स्थित था। यहां समस्त सत्याग्रही परिवार के लोग आपस में प्रेमपूर्वक रहते थे। गांधी जी ने अपने सहयोगियों व वहाँ के निवासियों के बच्चों के पढ़ाने की व्यवस्थता की थी, गांधी जी स्वयं शिक्षक के रूप में कार्य करते थे। यहां पर सह शिक्षा की व्यवस्था की गयी थी। किन्तु स्त्रियों को पुरूषों से अलग रखा गया था। शेष लड़के व लड़कियाँ साथ–साथ शिक्षा ग्रहण करते थें। ईसाई, हिन्दू पारसी व मुसलमान के लड़के तथा हिन्दू लड़कियां अध्यनरत थी। जिसमें 40 युवक, 4 वृद्ध, 5 स्त्रियां, 30 बच्चे तथा 5 कुवांरी बच्चियां थी।

गांधी की इस शिक्षा व्यवस्था से असंतुष्ट होकर केनल बेक ने कहा – "आपका यह सिलसिला मुझे कतई पसन्द नहीं है। इन लड़कों के साथ आपके लड़के रहेंगे तो इसका बुरा परिणाम होगा। इन आवारा लड़कों की सोहबत में ये बिगड़े बिना कैसे रह सकते है।"

गांधी जी का उत्तर उनकी सूझ–बूझ व निष्क्ष न्याय का स्पष्ट प्रतीक है। गांधी जी ने लिखा है –

> 'आपके और इन आवारा लड़कों में मै भेदभाव कैसे रख सकता हूँ। अभी तो दोनों की जिम्मेदारियाँ मुझ पर है। .... मेरे लड़कों को यह भेदभाव सिखाया जाय कि वह औरों से ऊँचे दर्जे के हैं ... इस स्थिति में रहने से उनका जीवन बनेगा, स्वयं भले बुरे की परीक्षा करने लगेंगे।

गांधी जी ने यहां के प्रयोगों के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकाला –

1. माता पिता के सन्निकट से ही बालक वास्तविक शिक्षा प्राप्त कर सकते है।
2. हृदय की शिक्षा, चरित्र की शिक्षा ही शिक्षा है।
3. इसी आश्रम से गांधी जी ने शारीरिक शिक्षा और इससे सम्बन्धित दस्तकारी व उद्योग का श्री गणेश किया था।

4. पुस्तकीय ज्ञान केवल तीन घण्टे का ही होता था । हिन्दी, तमिल, गुजराती, उर्दू, अंग्रेजी, भूगोल, इतिहास, गणित की शिक्षा की व्यवस्था थी ।
5. गुजराती, हिन्दी व संस्कृत का ज्ञान सबके लिये अनिवार्य था ।
6. शिक्षा का माध्यम मातृ भाषा था ।
7. पुस्तक व शिक्षक ही विद्यार्थियों के पाठ थे ।
8. शरीर, मन व आत्मा की शिक्षा ही मान्य थी ।
9. शारीरिक दण्ड का शिक्षा में स्थान नहीं होना चाहिये ।
10. स्वस्थ्य वातावरण व उत्तम स्वास्थ्यवर्धक भोजन छात्रों को मिलना चाहिये ।
11. सादा जीवन उच्च विचार उनकी शिक्षा का मूल मंत्र था ।

टॉलस्टाय आश्रम का कार्य समाप्त कर गांधी जी सन् 1914 में इग्लैड चले गये । इसी वर्ष प्रथम महायुद्व प्रारम्भ हो गया था । कार्य की अधिकता के कारण गांधी जी बीमार पड़ गये और सन् 1915 में उन्हें भारत वापस होना पड़ा ।

(य) <u>शान्ति निकेतन</u> -:

भारत आने के बाद गांधी जी को लगभग एक सप्ताह तक शान्ति निकेतन पर रूकना पड़ा । यहीं पर उनका परिचय एण्ड्स एवं पियर्सन से हुआ । काका कालेलकर से उनका प्रथम मिलन भी हुआ । 'शान्ति निकेतन' के छात्र व अध्यापक सदैव गांधी जी से प्रेम करते थें । गांधी जी व उनकी मण्डली की देखरेख का उत्तरदायित्व मगन लाल गांधी जी पर था । यहां पर फिनिक्स आश्रम के नियमों का यथावत पालन किया जाता था । विद्यार्थियों व अध्यापकों के मध्य मातृत्व 'प्रेम' का भाव फेल चुका था । 'प्रेम' लगन और सहनशीलता की मधुर गंध सम्पूर्ण वातावरण में प्रसारित हो चुकी थी । शारीरिक श्रम व कार्य का मधुर समन्वय दृष्टिगत हो रहा था । स्वयं बरतन मलना, भोजन बनाना, अजान साफ करना यह समस्त दैनिक कार्य हो गये थे । गांधी जी ने यहां पर सादगी, कला व प्रेम का सुन्दर समन्वय देखा । गांधी जी ने यहां पर भी शारीरिक श्रम के प्रयोग

के आधार पर 'स्वराज्य व स्वालम्बन' की शिक्षा प्रदान करना शुरू कर दिया । गांधी जी ने इस सम्बन्ध में विद्यार्थियों को बताया –

"इसमें स्वराज्य की कुंजी है – ऐसे प्रयोगो से प्रधान पाकालय को स्वालम्बी बनाने का प्रयोग आरम्भ हो सका ।"

(र) <u>साबरमती आश्रम</u> -:

इस आश्रम की स्थापना 25 मई सन् 1915 में अहमदाबाद में की गयी । गांधी जी ने अपनी बेसिक शिक्षा की योजना को भारत की जनता के सामने रखने का कार्य यहां शुरू किया । कताई, बुनाई व कढ़ाई का कार्य सबके लिये अनिवार्य था । घरेलू उद्योंगों को शिक्षा का आधार माना गया और उसे विकसित किया गया ।

(ल) <u>गुजरात विद्यापीठ</u> -:

सन् 1920 में इन्होंने इस पीठ की स्थापना की । इस पीठ के 12 उद्देश्य निर्धारित किये गये थे जो मुख्य निम्न हैं –

1. इस पीठ में अपनी भाषा को प्रमुख स्थान व उसी के माध्यम से समस्त शिक्षा प्रदान की जायेगी ।
2. राष्ट्र भाषा हिन्दी व हिन्दुस्तानी का प्रमुख स्थान होगा ।
3. ग्रामीण आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही पाठ्यक्रम निर्मित किया जायेगा ।
4. व्यायाम, शारीरिक श्रम की शिक्षा, शारीरिक विकास हेतु अनिवार्य होगी । इस पीठ का उददेश्य कर्तव्य परायण, चरित्रवान एवं शक्ति युक्त कार्यकर्ता तैयार करना था ।

इस पीठ के शैक्षिक उद्देश्य इस कारण भी महत्वपूर्ण थे, क्योंकि वर्धा योजना के लिये यह एक प्रकार से आधारशिला थी । शिक्षा कैसी हो ? इन बिन्दुओ पर प्रथम बार इस समिति में महत्वपूर्ण विचार विनमय किया गया और यथा शीघ्र उन्हें कार्य रूप प्रदान किया गया ।

(व) वर्धा योजना -:

गांधी जी के सम्पूर्ण जीवन के अनुभव जन्म शैक्षणिक तत्व इस योजना में संगठित हुये है। अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों को गांधी जी ने सन 1937 में 'हरिजन' द्वारा प्रकाशित करना शुरू किया । शंकाओ और प्रत्यालोचनाओं के निवारणार्थ 22 अक्टूबर सन 1937 को मारवाड़ी हाई स्कूल वर्धा के वार्षिक उत्सव पर शिक्षाशास्त्रियों व विद्वानों की एक समिति आहूत की गयी । गांधी जी ने जो विचार प्रगट किये उसकी संक्षिप्त रूप रेखा निम्न प्रकार है –

1. गांधी जी ने प्राथमिक शिक्षा को मुख्य स्थान दिया ।
2. हस्तकला द्वारा शिक्षण को बल प्रदान किया । साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान सभी की शिक्षा इसके माध्यम से देने पर जोर दिया गया ।
3. दस्तकारी की शिक्षा से शिक्षक का खर्च निकल आयेगा, इस बात को स्पष्ट किया गया ।
4. इस शिक्षा से धर्म के मूल स्वालाम्बन धर्म को सीखना था ।
5. शिक्षा सभी वर्गो के व्यक्तियों को समान रूप से दी जाये ।
6. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही रहेगा ।
7. सरकारी विश्वविद्यालय व परीक्षण संस्थान रहें और अपना खर्च परीक्षण शुल्क से निकालें ।
8. शिक्षा के समस्त क्षेत्रों को ध्यान में रखकर विभिन्न विभागों के लिये पाठ्यक्रम का निर्माण व स्वीकृति का दायित्व विश्वविद्यालय ले ।
9. प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम कम से कम 7 वर्ष के लिये हो ।
10. राष्ट्र की आवश्यकता व अनिवार्यता पर उच्च शिक्षा अविलंबित होनी चाहिये ।

गांधी जी की उच्च विचार धारा पर समिति ने निम्न प्रस्ताव पारित किये -:

1. बच्चों के लिये सात वर्ष की अनिवार्य निःशुल्क की व्यवस्था हो ।
2. शिक्षा का माध्यम बच्चों की मातृभाषा हो ।

3. शिक्षा स्वालम्बी हो और किसी उद्योग पर आधारित हो, ताकि शिक्षक का खर्च निकले ।

गांधी जी ने अपने 30 वर्ष की कठिन तपस्या एवं प्रयोंगों का सारत्व वर्धा योजना में उड़ेल दिया । साथ ही उसे सर्व प्रिय सर्वोदयी भावना की ओर उत्प्रेरित किया है । गांधी जी की शैक्षिक विचाराधारा भारत के अनुकूल ही प्रगट की गयी है । यहां पर उनके शिक्षा के विषय में जो कुछ कहा गया है वह उनके शैक्षणिक प्रयोंगों व सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर कहा गया है । वर्तमान काल में बेसिक शिक्षा की व्यवहारिकता के सम्बन्ध में अगले अध्यायों में उचित स्थानों पर विवेचना की जायेगी ।

गांधी जी के राष्ट्र, समाज शिक्षा तथा धर्म के प्रति किये गये कार्यों का मूल्यांकन करना मानव के लिये दुष्कर कार्य है क्योंकि उन्होंने अपने को भारत भूमि के कण–कण में आत्मसात कर लिया था । उनके महान कृतियों को देखकर भारतीय ही नहीं वरन् विदेशी विचारक भी चिन्तन में पड़ जाते थे ।

रोम्या रोला ने लिखा है – "महात्मा गांधी वह मनीषी थे, जिन्होंने तीस करोड़ भारतीयों को क्रान्ति की प्रेरणा दी । जिन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य की जड़े हिला दीं तथा जिन्होंने अतीत की दो हजार वर्षों की मानव राजनीति में सबसे अधिक शक्तिशाली (अस्त्र) धार्मिकता का पुट ला दिया ।"

गाँधी जी शिक्षा के क्षेत्र में अपने सिद्धान्त व व्यवहार के प्रयोग के प्रारम्भिक बिन्दु थे । गाँधी जी शिक्षा को राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक प्रगति का आधार मानते थे । गाँधी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचार किसी एक ग्रन्थ क्रमबद्ध रूप से उपलब्ध नहीं होते है । अपने सप्ताहिकी पहले "यंग इण्डिया" व "नवजीवन" तथा बाद में "हरिजन बन्धु" और "हरिजन सेवक" द्वारा इन्होंने देश में एक नये जीवन का संचार किया । इस प्रकार समय–समय पर दिये गये भाषण व लेख ही वे स्त्रोत हैं जिनसे उनके शैक्षिक विचारों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता हैं । "नवजीवन" में इन्होने "विद्यार्थियों के बीच गांधी जी" 20 "सूत के धागे से स्वराज" 21 "गुजरात महाविद्यालय का भाषण" "असहयोग व पढ़ाई" 22 "विद्यार्थी

क्या करे'' 23'' असहयोग व शिक्षा'' ''शिक्षा व अस्पृष्यता'' 24 इन सभी शीर्षकों का प्रकाशन किया था ।

गांधी जी ने ''क्रानिकल'' सप्ताहिकी पत्र में भी अपने शैक्षिक विचार तथा अपनी पुस्तक ''एजुकेशनल रिकन्स्ट्क्शन'' भाग प्रथम व द्वितीय में प्रस्तुत किये थे । उन्होंने लिखा है – ''मै समझता हूँ कि हमलोग कुछ दिनों के लिये उच्च शिक्षा के प्रश्न को टाल सकते है, किन्तु प्राथमिक शिक्षा की समस्या को एक क्षण के लिये भी नही टाला जा सकता है ।''

गाँधी जी बालकों की रचनात्मक शक्तियों के विकास पर बल देते हैं । इस सम्बन्ध में उन्होंनें लिखा है –

'मै बच्चों को सर्वप्रथम उपयोगी दस्तकारी सिखाना चाहता हूं, ताकि जिस समय से शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ करें उसी समय से उत्पादन करना भी आरम्भ कर सकें।''

गांधी जी ने अपने शैक्षिक विचार, शिक्षा में अहिंसक क्रान्ति ''मेरे प्रयोग'', ''आत्म कथा'', ''सच्ची शिक्षा'' तथा ''इण्ड़िया माईड्रीम ग्रंन्थों में प्रगट किये है ।

गांधी जी के विचारों से युक्त लेख अपनी ही भाषा में नही बल्कि विदेश की अन्य भाषाओं में छपते थे । इस सम्बन्ध में बृज कृष्ण चांदीवाल ने लिखा है –

''भारत के सब मुख्य दैनिक उनके लेखों को अपने अंकों में उधृत करते थे। उनके लेख भारत में ही नहीं अन्य देशों में भी भिन्न–भिन्न भाषाओं में छपते थे।''

गांधी जी की रचनाओं के सम्बन्ध में इन्होंने इस प्रकार लिखा है -:

"गांधी जी द्वारा लिखित और गांधी जी के सम्बन्ध में लिखित व प्रकाशित पुस्तकों की सूची तैयार की जाये तो उनकी संख्या 3 हजार से ऊपर होगी, इनके लिखे पत्रों, प्रवचनों, भाषणों, लेखों का जब पूरा संग्रह प्रकाशित होगा तो वह 10–15 हजार पृष्ठों से कम नहीं होगा ।''[2]

इससे अवगत होता है कि गांधी साहित्य बिखरा हुआ है । गांधी जी की लेखन शैली सरल बोधगम्य एवं ओज प्रसाद युक्त थी । यह मृत प्राय व्यक्ति के जीवन में भी नूतन विचारों को भी सृजित कर देती थी ।

अच्छे–अच्छें अंग्रेज विद्वान भी उनके समान अच्छी अंग्रेजी नहीं लिख पाते थे । गांधी जी के विचार उनके अन्तस्थल से निःसृत होते थे । बृज कृष्ण चांदीवाल ने लिखा है कि –

''एक बार लिख लेने पर गांधी जी अपने लेखों में कदाचित ही कोई कांट–छांट करते थे, क्योंकि उनके विचार निर्णयात्मक, परिपक्व और सम्बद्व होते थे ।''

गांधी जी का सम्पूर्ण जीवन रचनात्मक कार्यो को कार्यान्वित करने के लिये ही समर्पित था । अपने कार्यक्रम को सम्पादित करने के लिये उन्होंने पांच मुख्य संस्थाओं का निर्माण किया और कार्यक्रम के 18 भाग बना दिये थे जैसे –

1. **चर्खा संघ** – इस संघ का अभिप्राय भारत को अपने पैरों पर खड़ा होना सीखना था । स्वालम्बन की शिक्षा देना उनका मुख्य लक्ष्य था । उनके रचनात्मक कार्यों में चर्खे का स्थान वही था जो सौर मंडल में सूर्य का था । इस कार्य से भारतीय स्वश्रमी व स्वालम्बी होकर दासता से मुक्त होने का सम्बल प्राप्त करेंगे ।

2. **ग्रामोद्योग संघ** – इसका उद्‌देश्य अनेक मृतप्राय या अविकसित धंधों को जीवित कर उनहे दस्तकारी के धंधें में लगाना था । वे नवीन भारत वर्ष की सच्ची राष्ट्रीय अभिरूचि को जागृत करना चाहते थे । इसके कई विभाग बनाये गये थे । जैसे ''देहात सफाई'', ''आरोग्य'' और ''स्वास्थ्य विज्ञान'' ।

गांधी जी प्राकृतिक चिकित्सा के महत्व से ग्रामीणों को परिचित कराना चाहते थे ।

3. **तालीम संघ** – गांधी जी ने अपनी नई शिक्षा का नाम बुनियादी तालीम रखा था । ग्रामीण बच्चों को आदर्श नागरिक बनाना था । वे शरीर मन व बुद्धि तथा आत्मा का प्रशिक्षण देना चाहते थे । इस कार्य के लिये उन्होने अनेक उपविभाग बना दिये थे ''प्रौढ़ शिक्षा'', ''राष्ट्र भाषा'', ''स्वभाषा प्रेम'' आदि ।

4. **<u>हरिजन सेवक संघ</u>** – इसका उद्‌देश्य छुआछूत तथा नीच–ऊँच की भावना को हिन्दू समाज से उखाड़ फेंकना था ।

5. **<u>गो सेवा संघ</u>** – ग्रामों के गौ धन की हीन दशा देखकर इस संघ की स्थापना कर गाँधी जी कृषि के लिये पुष्ट और सुन्दर बैल व उत्तम खेती की समस्या का समाधान करने में सफल हुये । उनके रचनात्मक कार्यो के निम्न अंग थे जैसे – जातीय एकता, आर्थिक समानता, कृषक सम्पत्ति, मजदूर शक्ति विद्यार्थी, स्त्री शिक्षा, पिछड़ी जातियों का उद्धार, शराब बन्दी , कोढ़ियों की सेवा आदि ।

इन सबके माध्यम से उन्होंने भारतीय समाज की अपूर्व सेवा की ।

10. **30 जनवरी 1948 का काला दिन -:**

यह तिथि भारतीय इतिहास में काले दिवस के रूप में समझी जायेगी । किसी को यह ज्ञात ही नहीं था कि इस दिन बापू जी हमें छोड़कर चले जायेगे, किन्तु मनीषी गांधी जी को इसका पूर्वाभास था । अपने निर्वाण के दो दिन पूर्व 28 जनवरी 1948 को राजकुमारी जी से बात करते हुये उन्होंने कहा था –

> "यदि मुझे किसी पागल आदमी को गोली से मारना हो तो मुझे हंसते–हंसते मरना चाहिये । मेरे अन्दर कोई रोष न हो और ईश्वर मेरे हदय में और होंठों पर रहे।"

उनकी यह भविष्यवाणी 30 जनवरी 1948 को सायं दिन शुक्रवार को 5 बजकर 17 मिनट पर सत्य रूप में घटित हो गयी । दो बार "हे राम का उच्चारण करते निर्वाण पद को प्राप्त हो गये ।

बापू जी की ज्योति जिस विश्वात्मा से निकली थी उसी में अर्न्तनिहित हो गयी । गांधी जी की महानता उनकी लोकप्रियता उनके जीवन की सफलता का रहस्य उनकी सत्यता और न्याय निष्ठा, उनकी सतत् जागरूकता, उनकी विश्व प्रेम की भावना और निर्भयता में निहित थी । वे एक क्रांन्तिकारी सुधारक एवं उच्च कोटि के शिक्षा शास्त्री थे ।
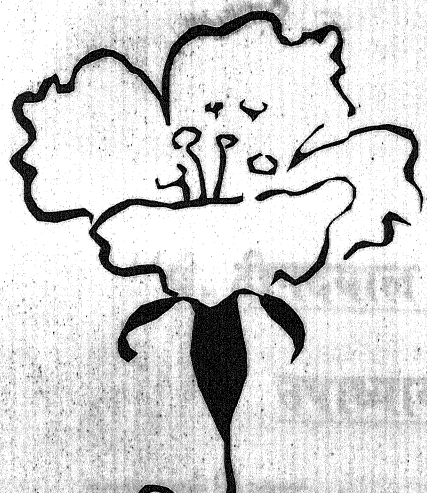
अध्याय
तृतीय

तृतीय अध्याय

''पं. दीनदयाल उपाध्याय का व्यक्तित्व एवं कृतित्व''

उपाध्याय जी का व्यक्तित्व एवं शिक्षा

जन्म एवं शिक्षा -:

कभी–कभी पृथ्वी पर जनमानस को नई दिशा देने और युग परिवर्तन के ईश्वरीय कार्य को सम्पन्न करने के लिये युग पुरूषों का जन्म होता है । वे प्रतिकूल परिस्थितयों में जन्म लेने के बाद भी अपनी जन्मजात चमत्कारिक प्रतिभा द्वारा बड़े से बड़े कार्य सम्पन्न करके अन्तर्ध्यान हो जाते है । बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय क्षितिज में कुछ ऐसे ही प्रकाश्यमान नक्षत्रों का उदय हुआ । जिन्होंने अपने प्रकाश से भारत की धरती को आलोकित कर दिया । इस काल चक्र में दो प्रकार के व्यक्तित्वों के दर्शन हुये, एक तो वे जो पाश्चात्य जगत से शिक्षा–दीक्षा प्राप्त करके आये और वहां की भोगवादी संस्कृति के आकर्षण से कुछ करना चाहते थे । दूसरी ओर कुछ ऐसे व्यक्तियों का भारत की धरा पर पर्दापण हुआ जो पश्चिमी जगत की वैभव सम्पन्न भोगवादी संस्कृति को स्पष्टतया नकारते हुये भारतीय संस्कृति को नया आयाम देने में जुट गये, क्योकि उनका विश्वास था कि गुलामी के कारण भारतीय मनीषा को उजागर नहीं होने दिया गया । उल्टे उसे नष्ट करने का षड़यत्र रचा गया ।

स्वामी विवेकानन्द और महर्षि अरविन्द की गौरवशाली भारतीय परम्परा को आगे बढ़ाने वाले प्रखर राष्ट्रभक्ति की अलख जगाने वाले बहुमुखी प्रतिभा के धनी 'एकात्ममानववाद' के प्रणेता ''महामानव पं0 दीनदयाल जी उपाध्याय का जन्म 25 सितम्बर 1916 :विक्रम सम्वत् 1973: शालिवाहन शक 1938 : भाद्रपद अश्विन कृष्ण 13 सोमवार को राजस्थान प्रान्त के जयपुर–अजमेर रेलवे लाईन पर स्थित 'धनकिया' नामक रेलवे स्टेशन में हुआ था। पं0 दीनदयाल जी के नाना

पं0 चुन्नीलाल जी शुक्ल 'धनकिया' में स्टेशन मास्टर थे । अतः इनके जन्म के समय इनकी माता जी अपने पिता के पास 'धनकिया' में ही रह रहीं थी ।"[1]

पं0 दीनदयाल जी के पूर्वज मथुरा जिले के आगरा मथुरा मार्ग पर स्थित 'फरह' कस्बे से एक किलोमीटर पश्चिम में 'नगला चन्द्रभान' नामक गांव में रहते थें, जहां दुर्भाग्य से पण्डित जी कभी नहीं रह सके । पं0 हरीराम शास्त्री जी अपने क्षेत्र के प्रसिद्व ज्योतिष थे । शास्त्री जी अपने भाई श्री झण्डूलाल जी, भतीजे शंकर और वंशीलाल पुत्र भूदेव, रामप्रसाद तथा प्यारे लाल के साथ इस छोटे से गांव में रह रहे थे । पं. हरीराम जी शास्त्री की मृत्यु के पश्चात इस परिवार में मौतों का सिलसिला प्रारम्भ हुआ, कि पूरे परिवार के पुरूष सदस्य काल कवलित हो गये । सारे परिवार में मात्र विधवायें ही शेष रह गयीं, जिनका जीवनाधार अवशेष था पं0 रामप्रसाद जी का एक मात्र पुत्र भगवती प्रसाद । भगवती प्रसाद पढ़ लिखकर बढ़े हुये और धर्मपरायण श्रीमती रामप्यारी से उनका विवाह सम्पन्न हुआ । आर्थिक चिन्ता से विवश होकर उन्हे रेल्वे में नौकरी करनी पड़ी । उत्तर प्रदेश के जलेसर रोड रेल्वे स्टेशन पर स्टेशन मास्टर के पद पर कार्य करने लगे। पूरे परिवार का खर्च छोटी सी नौकरी, अतः पुत्र जन्म के समय उन्होंने अपनी धर्मपत्नी रामप्यारी को उनके पिता श्री चुन्नीलाल जी के पास 'धनकिया' (राजस्थान) भेज दिया वहीं पं. दीनदयाल जी उपाध्याय का जन्म हुआ।"[2] इसी कारण से पं0 दीनदयाल जी का अपने ननिहाल से गहरा सम्बन्ध रहा । कुछ दिनों के पश्चात श्रीमती रामप्यारी अपने पति के पास वापस आ गयीं और दो वर्ष के पश्चात दूसरे पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम शिवदयाल रखा गया ।

पं0 दीनदयाल जी का बचपन का नाम "दीना" एवं शिवदयाल का "शीबू" था । शिवदयाल के जन्म के छः माह बाद अर्थात पं. दीनदयाल जी के जन्म के ढाई वर्ष बाद ही इनके पिता श्री भगवती प्रसाद उपाध्याय जी का निधन हो गया । दोनो भाई मॉ के साथ नाना के पास रहने लगे । पण्डित जी छः वर्ष के

---

[1] एकात्मता के पुजारी पं. दीनदयाल उपध्याय—भाउ राव देवरस शिव पृष्ट – 3, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ

[2] पत्रिका पं. दीनदयाल उपाध्याय के पुरोधा, सूचना एवंज न सम्पर्क विभाग, लखनऊ, सितम्बर 1991: डा. महेश चन्द्र शर्मा, पृष्ठ–3

हुये कि क्षयरोग से ग्रस्त शोकाकुल माता श्रीमती रामप्यारी भी वास्तव में राम को प्यारी हो गयी । अब ''दीना'' (अनाथ) मात्र रह गया।

पं0 दीन दयाल जी के नाना पं. चुन्नीलाल जी शुक्ल नौकरी छोड़कर ''दीना'' और ''शीबू'' के साथ अपने गांव 'गुड़ की मड़ई' आगरा चले गये । 'गुड़ की मड़ई' आगरा जिले में फतेहपुर सीकरी के पास स्थित छोटा सा गांव था । यही गांव पं0 दीनदयाल जी का वास्तविक ननिहाल था पण्डित जी की उम्र अभी 9 वर्ष थी कि उनके पालक नाना श्री चुन्नीलाल जी शुक्ल सितम्बर 1925 में स्वर्ग सिधार गये । पिता माता व नाना के वात्सल्य से वंचित होकर वे अपने मामा श्री राधारमण शुक्ल के आश्रय में पलने लगे । श्री राधारमण शुक्ल गंगापुर में सहायक स्टेशन मास्टर थे ।

शिक्षा -:

पं0 दीनदयाल जी सन 1925 में अपने मामा श्री राधारमण जी शुक्ल के साथ गंगापुर सिटी चले गये यही उनकी विधिवत शिक्षा का शुभारम्भ हुआ । कक्षा चार तक की पढ़ाई उन्होंने यहीं की । गंगापुर में आगें की पढ़ाई के लिये कोटा (राजस्थान) भेज दिया । वहां 'सेल्फ सपोंर्टिंग हाऊस' में रहने की व्यवस्था कर दी । यहीं दीना ने स्वालम्बन का पाठ सीखा । तीन वर्ष की कड़ी मेहनत के बाद मिडिल (कक्षा 7) की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर ली ।

पं0 दीनदयाल जी जब कक्षा 7 में ही पढ़ रहे थे उनकी उम्र पन्द्रह वर्ष की थी तभी सन 1931 में उनक पिता तुल्य मामा श्री राधारमण शुक्ल का भी देहान्त हो गया । पितृगृह एवं मामा का घर दोनों ही जनशून्य हो गये । वहां तो दो दादियाँ शेष थी और यहां नानी, मामी । पण्डित जी के मामा श्री राधारमण शुक्ल के चचेरे भाई श्री नारयण जी शुक्ल राजगढ़ जिला अलवर में स्टेशन मास्टर थे । अतः पण्डित जी ने पढ़ाई के लिये उनका आश्रय लिया । यहां दीना ने अपनी विधवा मामी तथा ममेरे भाई प्रहलाद नारायण, बनवारी लाल, बहिन, रामादेवी और महादेवी के साथ बड़े सौहार्दपूर्ण वातावरण में दो वर्ष बिताये तथा कक्षा 8–9 की परीक्षायें उत्तीर्ण की ।

पं0 दीनदयाल जी अपने अध्ययनकाल में इतने प्रतिभासम्पन्न थे कि जब वे कक्षा नौ में पढ़ते थे तो कक्षा दस के छात्र भी उनसे गणित के सवाल हल करवाया करते थे । अभी पं. दीनदयाल जी ने अपने पालकों की मृत्यु का दुख सहन किया था लेकिन 18 नवम्बर सन 1934 को उनके पालित छोटे भाई शीबू के देहान्त ने उन्हें अन्दर से झकझोर दिया । जब पं. दीनदयाल जी कक्षा नौ में पढ़ रहे थे । वे 18 वर्ष के थे । दीनदयाल जी शीबू की मृत्यु से अत्यन्त विचलित हो उठे । जिनकी याद जीवन में वे कभी नही भुला पाये ।

''सन 1934 में श्री नारायण शुक्ल (मामा) का स्थानान्तरण 'सीकर' हो जाने के कारण दीनदयाल जी उनके साथ 'सीकर' आ गये । और महाराजा कल्याण सिंह हाईस्कूल में प्रवेश ले लिया । उन्नीस वर्ष की आयु में सन 1935 में पण्डित जी अजमेर बोर्ड में प्रथम श्रेणी से प्रथम उत्तीर्ण हुये ।

पं0 दीनदयाल जी की प्रतिभा से प्रभावित होकर सीकर महाराज कल्याण सिंह ने इन्हें स्वर्ण पदक से सम्मानित किया और अग्रिम शिक्षा के लिये 10 रूपये मासिक छात्रवृत्ति तथा 250 रूपये की एक मुश्त आर्थिक सहायता प्रदान की । दूसरा स्वर्ण पदक अजमेर बोर्ड द्वारा उन्हे प्रदान किया गया ।

"इण्टरमीडियट की पढ़ाई के लिये सन 1935 में 'पिलानी' (राजस्थान) गये । उन दिनों उच्च शिक्षा का केन्द्र था । इसलिये बिड़ला इण्टर कालेज में प्रवेश ले लिया । 1937 में इण्टरमीडियट बोर्ड की परीक्षा में और न केवल समस्त बोर्ड में सर्वप्रथम रहें वरन सब विषयों में विशेष योग्यता के अंक प्राप्त किये । बिड़ला कालेज का यह प्रथम छात्र था जिसने इतने सम्मानजनक अंकों से परीक्षा पास की थी । सीकर महाराज के समान ही घनश्यामदास बिड़ला ने एक स्वर्ण पदक 10 रू0 मासिक छात्रवृत्ति तथा पुस्तकों के लिये 250 रू0 प्रदान किये ।"[1]

बी.ए. की शिक्षा प्राप्त करने के लिये 1937 में दीनदयाल जी पिलानी से कानपुर आये और एस.डी. (सनातन धर्म) कालेज में प्रवेश ले लिया । यहां छात्र जीवन में उनका सम्पर्क श्री बलवन्त जी महाशिन्दे और श्री सुन्दर सिंह भण्डारी

---

[1] पत्रिका पं0 दीनदयाल उपाध्याय के पुरोधा, सूचना एवंज न सम्पर्क विभाग, लखनऊ, सितम्बर1991 : डा. महेश चन्द्र शर्मा, पृष्ठ–3

से हुआ । इन सब सहपाठियों ने दीनदयाल जी का सम्पर्क मा0 भाऊसाहब देवरस से करवाया उनकी प्रेरणा से पं0 दीनदयाल जी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ में स्वयं सेंवक बने । 1937 में ही वेदमूर्ति पण्डित सातवलेकर जी कानपुर शाखा में आये और पं0 दीनदयाल उपाध्याय के बारे में भविष्यवाणी की किसी दिन बड़ा होकर कुशाग्र बुद्धि बालक देश का गौरव बनेगा ।

कानपुर में ही पण्डित जी का सम्बन्ध श्री बापूराव जी मोघे, श्री भईयाजी सहस्त्र बुद्धे, श्री नानाजी देशमुख तथा बापूराव जोशी जैसे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्यकर्ताओं से हुआ । वहीं पर उनकी भेट संघ के संस्थापक परमपूज्य डा. केशवराव बलिराम हेडगेवार से हुयी । यही से उनका सार्वजनिक जीवन में प्रवेश हो गया । कमजोर पिछड़े विद्यार्थियों की शैक्षणिक–उन्नति के लिये एक 'जीरो क्लब' की स्थापना की जिसका उद्देश्य परीक्षा में शून्य अंक पाने वाले छात्रों को अन्य छात्रों के समकक्ष लाना था । दीनदयाल जी उपाध्याय उन्हें स्वयं पढ़ा लिखाकर इतना समर्थ बना देते थे कि वे परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते थें । इससे विद्यार्थी समाज में इनकी व्यापक लोकप्रियता हुई । सन 1939 में पण्डित जी ने प्रथम श्रेणी में बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की ।

एम. ए. अंग्रेजी साहित्य की शिक्षा के लिये 1939 में ही आगरा के सेन्ट जोन्स कालेज में प्रवेश लिया । सन 1940 में एम. ए. प्रथम वर्ष की परीक्षा में प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त किये । यहां वह राजा की मण्डी में किराये के मकान 'रत्ना बिल्डिंग' में रहते थे । इसी समय 1940 में उनकी एक ममेरी बहन रामादेवी बहुत बीमार हो गयी, वह चिकित्सा कराने आगरा आयीं । दीनदयाल जी बहन की तीमारदारी में व्यस्त रहने लगे । इस समय वह तीन काम एक साथ करते थे, पढ़ाई, संघ कार्य और बहन की दवा सेवा । एम.ए. द्वितीय वर्ष की परीक्षा दें या बहिन की तीमारदारी करें ? फलतः पुस्तकें एक किनारे रख अधिकतम समय बहिन की तीमारदारी, दवा इलाज कराने में लगाने लगे । रात–दिन एक कर दिया । प्राकृतिक चिकित्सा के लिये पहाड़ पर ले गये पर रामादेवी न बचीं । इस कारण से पं0 जी एम.ए. उत्तरार्द्ध की परीक्षा में न बैठे । अतः परीक्षा न देने से उनकी सीकर और बिड़ला जी की दोनों छात्रवृत्तियां भी बन्द हो गयी । मामा जी के

आग्रह पर वह एक प्रशासनिक परीक्षा में भी बैठे, उत्तीर्ण हुये परन्तु इस नौकरी को ठुकरा कर बी.टी. करने के लिये प्रयाग (इलाहाबाद) चले गये । सन 1942 में बी.टी. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की ।

पारिवारिक जीवन -:

दीनदयाल जी का पारिवारिक जीवन अत्यन्त दुखमय रहा । बचपन से ही प्रियजनों की मृत्यु का धनीभूत अनुभव हुआ । वे कभी भी अपने पैतृक निवास में नहीं रहे । पारिवारिक कारणों से उनका शिशुकाल उनके नाना चुन्नीलाल के साथ धनकिया में बीता । उसी समय उनकी ढ़ाई वर्ष की आयु में ही उनके पिताजी का देहान्त हो गया । दीनदयाल जी पितृहीन व इनकी मॉ रामप्यारी विधवा हो गयी । विधवा शोकाकुल व चिन्ताकुल रामप्यारी कुपोषण का शिकार होकर क्षय रोग से ग्रस्त हो गयी और दीनदयाल जी को सात वर्ष का छोड़कर रामप्यारी राम को प्यारी हो गयी । दीनदयाल माता पिता दोनो की स्नेह छाया से वंचित बिल्कुल 'दीना' (अनाथ) हो गये । अब दीनदयाल जी के सर पर वृद्ध नाना चुन्नीलाल का हाथ था वह भी ईश्वर को स्वीकार नहीं था । माँ के देहान्त के दो वर्ष बाद ही वृद्व स्नेही पालक जो अपनी बेटी की अमानत को पाल रहे थे । नाना चुन्नीलाल भी स्वर्ग सिधार गये । पिता, मॉ व नाना के वात्सल्य से वंचित अपने मामा राधारमण शुक्ल के आश्रय में पलने, बढ़ने तथा पढ़ने लगे । ईश्वर ने मानो उनके पालको को उठाने का बीड़ा उठा लिया हो और जब दीनदयाल जी पन्द्रह वर्ष के हुये तथा कक्षा सात में पढ़ रहे थे तभी उनके पिता तुल्य मामा को भी इस संसार से उठा लिया । पन्द्रह वर्ष तक लगातार अपने पालकों की मृत्यु को निहारते रहे ।

इतनी छोटी उम्र में समय ने उन्हे अपने सहोदर लघुभ्राता 'शीबू' का पालक भी बना दिया । विधाता की प्रताड़नाओं ने इनका परस्पर स्नेह अधिक संवेदनशील व स्निग्ध कर दिया था । दुर्भाग्य से शायद मृत्यु अपने को सर्वागतः दीनदयाल जी के सामने साक्षात करने पर तुली थी । जब दीनदयाल जी अट्ठारह वर्ष के हुये और नवमी कक्षा में पढ़ रहे थे उसी समय उनके छोटे भाई 'शिबू' को

'टाईफाईड' हो गया – लाख कोशिशों के बावजूद उसे दीनदयाल जी न बचा सके । शिवदयाल अपने बड़े भाई दीनदयाल को इस संसार में बिल्कुल अकेला छोड़कर विदा हो गया ।

अभी भी दीनदयाल जी के ऊपर एक झुर्रियों भरा स्नेहिल आर्शीवाद का हाथ था । वृद्धा नानी दीनदयाल को बहुत प्यार करती थी लेकिन जब वे उन्नीस वर्ष के हुये दसवीं में पढ़ रहे थे जाड़े के दिनों में नानी बीमार हुयीं और चल बसीं । जिस समय दीनदयाल जी आगरा में एम.ए. अंग्रेजी की पढ़ाई कर रहे थे उसी समय उनकी ममेरी बहन रामादेवी बहुत बीमार हुयीं उनके पास उपचार के लिये आयीं पं. जी ने तन मन से उनकी सेवा की, उनकी चिकित्सा करवायी पुस्तकों को एक किनारे रखकर उनकी प्राकृतिक चिकित्सा के लिये उन्हें पहाड़ पर ले गये पर नियति को यही मंजूर था कि अपनी बहिन की मौत का साक्षात्कार भी दीनदयाल को होना था । दुखीः मना दीनदयाल ने एम.ए. उत्तरार्द्ध की परीक्षा भी छोड़ दी ।

दीनदयाल जी अक्षरशः अनिकेत थे । 25 वर्ष की अवस्था तक दीनदयाल जी उपाध्याय राजस्थान व उत्तर प्रदेश में कम से कम ग्यारह स्थानों में कुछ–कुछ समय रहे । इसके साथ ही उनका प्रवेश सार्वजनिक जीवन में हो गया वे अखण्ड प्रवासी हो गये । मृत्यु ने उनके शिशु, किशोर, बाल व युवा मन पर निरन्तर आघात किये । अतः उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया था इसलिये विवाह करके पारिवारिक जीवन व्यतीत करने की कल्पना भी उनके मन में नहीं आयी । नए–नए स्थानों पर प्रवास करना, नये–नये अपरिचित लोगो से मिलना, उनमें पारिवारिकता उत्पन्न करना उन्होंने बचपन की अनिकेत अवस्था से ही सीख लिया था । सम्पूर्ण राष्ट्र ही उनका घर परिवार था । एकात्ममानववाद के प्रणेता पण्डित जी का परिवार समस्त जगत के प्राणिमात्र थे । अपनी सम्पूर्ण शिक्षा–दीक्षा के उपरान्त उन्होंने अपना जीवन राष्ट्र के लिये समर्पित कर दिया । सन 1942 में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के लखीमपुर जिले के प्रचारक नियुक्त होकर राष्ट्र के लिये कटिबद्व हो गये ।

निरन्तर प्रवास और संगठन कार्य का सतत मार्ग दर्शन देश के कोने–कोने में लाखों स्वयं सेवकों से मधुर स्नेहपूर्ण आत्मीय सम्बन्धों की स्थापना यही पण्डित जी का एकमेव कार्य था ।

(ग) सार्वजनिक जीवन और सम्पादन कार्य -:

पं0 दीनदयाल जी सन 1937 में कानपुर बी.ए. की शिक्षा प्राप्त करने के लिये गये वहीं उनका सम्पर्क राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के वरिष्ठ कार्यकर्ताओं से हुआ । बाबा साहेब आपटे, दादा साहब परमार्थ इनके छात्रावास में ही ठहरते थे । स्वतंन्त्रय वीर सावरकर ने दीनदयाल जी की शाखा में अपना बौद्विक दिया । संघ की विचार धारा से ओत प्रोत पण्डित जी ने संघ कार्य अपने जीवन में उतार लिया और यहीं से उनके सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश हो गया । गरीब और पिछड़े विद्यार्थियों को शैक्षणिक उन्नति के लिये 'जीरो क्लब' स्थापित करके उन्हें पढ़ाने और परीक्षा में उत्तीर्ण होने के योग्य बनाते थे । अतः विद्यार्थी समाज में इनकी लोकप्रियता बढ़ने लगी ।

मृत्युदर्शन ने उनके जीवन में वैराग्य उत्पन्न कर ही दिया था । जीवन की क्षण भगुंरता और प्रियजन विछोह ने उनके हृदय में सन्यास का ऐसा बीजारोपण किया कि वे नौकरी वृत्ति को ठोकर मारकर राष्ट्रदेव के चरणों में समर्पित हो गये और आगे चलकर वह एक ऐसे दीप सिद्व हुये जो दूसरों को प्रज्जवलित करने के लिये इस धरा में पैदा हुये थे । सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भिक काल में ही उन्होंने देश को स्वाधीनता दिलाने, सर्वसम्पन्न बनाने शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में खड़ा करने और सम्पूर्ण समाज में समरसता लाने के लिये जीवन पर्यन्त, मनसा वाचा कर्मणा, अविराम साधना करने का संकल्प लिया था । सन 1942 में उत्तर प्रदेश के लखीमपुर जिले के जिला प्रचारक के रूप में उन्होंने ऐसा कार्य खडा किया कि बहुत जल्द 1945 में उन्हें सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश का सह प्रचारक बना दिया गया । उस समय उत्तर प्रदेश के तत्कालीन प्रान्त प्रचारक के रूप में माननीय भाऊसाहब देवरस का मार्गदर्शन पण्डित जी को प्राप्त हो रहा था । प्रचारक जीवन के प्रारम्भिक काल में पण्डित जी लखीमपुर के प्रसिद्व वकील

पण्डित श्यामनारायण मिश्र के पास अधिकतर ठहरते थे । उस समय उनके अन्तिम संरक्षक मामा श्री नारायण शुक्ल ने उन्हें एक पत्र लिखकर घर वापस आने का आग्रह किया । उनके मामा चाहते थे कि पण्डित जी भी दूसरे युवकों की तरह नौकरी आदि करके घर बसाकर रहें लेकिन नियति को कुछ और ही मंजूर था । अतः पण्डित जी ने मामा जी को एक पत्र के उत्तर में तत्कालीन समाज की दुर्दशा का वर्णन करते हुये अपने कर्तव्य की ओर इंगित किया । जुलाई 21 सन् 1942 को पण्डित जी द्वारा लिखा गया यह पत्र ऐतिहासिक दस्तावेज बन गया।

आदरणीय मामा जी,

सादर प्रणाम,

"आपने पत्र में जो लिखा है सो ठीक ही लिखा है– क्या उत्तर दूँ समझ नहीं आता ? तभी से विचारों और कर्तव्य भावना में तुमुल युद्व चल रहा है एक ओर भावना और बाहें खीचते है तो दूसरी ओर प्राचीन आत्मायें पुकारती है । आपके लिखे अनुसार पहले मेरा भी यही विचार था कि मै किसी स्कूल में नौकरी कर लूंगा तथा साथ ही वहाँ का संघ कार्य भी करता रहूंगा, यही विचार लेकर मै लखनऊ आया था, परन्तु लखनऊ में आजकल परिस्थिति तथा आगे कार्य का असीम क्षेत्र देखकर मुझे यही आज्ञा मिली कि बजाय एक नगर में कार्य करने के एक जिले में कार्य करना होगा । अतः सारे जिले में काम करने के कारण न तो एक स्थान पर दो चार दिन से ज्यादा ठहरना सम्भव है और न ही किसी प्रकार की नौकरी । संघ के स्वयं सेवक के लिये पहला स्थान समाज और देश का कार्य ही रहता है और बाद में व्यक्तिगत कार्य का । अतः मुझे समाज कार्य के लिये संघ से जो आज्ञा मिली थी उसका पालन करना पड़ा । मै यह मानता हूँ कि मेरे इस कार्य से आपको कष्ट हुआ होगा। – आप अपना बेटा समाज के लिये नहीं दे सकते ?

संघ 17 साल से इसी (संगठन) कार्य को करता आ रहा है सारे भारत में एक हजार से अधिक आज (सन 1942 की जुलाई तक की) शाखायें हैं, दो लाख से अधिक स्वयं सेवक है, मैं अकेला ही प्रचारक नही अपितु इसी प्रकार 300 से

ऊपर कार्यकर्ता है, जो एक मात्र संघ का ही कार्य करते है । सब शिक्षित तथा अच्छे घर के है बहुत से बी.ए. एम.ए और एल.एल.बी पास हैं । इतने लोगो ने अपना जीवन केवल समाजकार्य के लिये क्यों दे दिया ? इसका एक मात्र कारण यही है बिना समाज की उन्नति हुये व्यक्ति की उन्नति सम्भव नही है । मेरा ख्याल है कि एक बार संघ की उपयोगिता समझने के बाद आपको हर्ष ही होगा कि आपके एक पुत्र (दीनदयाल) ने भी इस कार्य को अपना जीवन कार्य बनाया है। क्या हम अपने मे से एक भी देश के लिये नही दे सकते? सवाल है केवल चन्द रूपये न कमाने का । आपने मुझे शिक्षा दीक्षा देकर सब प्रकार से योग्य बनाया । क्या अब मुझे समाज के लिये नही दे सकते? जिस समाज के हम उतने ही ऋणी है । यह तो एक प्रकार से त्याग भी नहीं है बिनयोग है । समाज रूपी खाद में देना है। – आप यकीन रखिये कि मै कोई ऐसा कार्य नही करूंगा जिससे कोई भी आपकी ओर उँगली उठाये उल्टा आपको गर्व होगा कि आपने देश और समाज के लिये अपने एक पुत्र को दे दिया है । बिना किसी दबाब के केवल कर्तव्य के ख्याल से आपने मेरा लालन पालन किया, अब क्या अन्त में भावना कर्तव्य को धर दबायगी ? भावना से कर्तव्य सदा ऊंचा रहता है । लोगों ने अपने इकलौते बेटे को सहर्ष सौंप दिया हैं । फिर आपके पास एक ही जगह तीन–तीन (दो ममेरे) पुत्र है क्या उनमें आप एक (दीनदयाल) को भी समाज के लिये नही दे सकते ? मै जानता हूँ कि आप नहीं कहोगे"[1] –

आपका भान्जा,

दीना

उपरोक्त पत्र से पं. दीनदयाल जी का सम्पूर्ण जीवन दर्शन एवं समाज के प्रति सर्मपण का भाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है । पतनशील समाज की सेवा के प्रति जागरूक कर्तव्य भावना उनके हदय में गहराई से घर किये हुयी थी

---

1 पं० दीनदयाल उपाध्याय – व्यक्ति दर्शन, कमल किशोर, कोपनगर दीनदयाल शोध संस्थान रानी झाँसी मार्ग नई दिल्ली – 58 पृष्ठ 153, 154, 155, 156

जबकि उस समय वह केवल 26 वर्ष के ही थे । आज इस उम्र का नौजवान समाज और देश के प्रति बहुत ही कम सोच पाता है । कभी आगे समाज कार्य में कोई बाधा न उत्पन्न हो, परिवार के कारण कहीं नौकरी में न जाना पड़ जाये, सार्वजनिक जीवन छोडकर उन्हें ग्रहस्थ जीवन न अपनाना पड़ जाये, इन सब कारणों से उन्होंने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भिक काल मे ही अपने सभी शैक्षणिक प्रमाणपत्र जलाकर राख कर दिये थे । ताकि जब बांस ही न रहेगा तो बांसुरी कैसे बजेगी ?

? Source

पं० दीनदयाल जी देश की एकता और अखण्डता के प्रति सदैव सजग प्रहरी की तरह समर्पित रहे । अपने जीवन के हर क्षण को समाज सेवा में लगाया सार्वजनिक क्षेत्र में काम करते–करते उन्हें यह आभास हो गया था कि राष्ट्र की निर्धनता और अशिक्षा को दूर किये बिना वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती । अतः निर्धन एवं अशिक्षित व्यक्तियों की उन्नति के लिये अन्तोदय जैसे कल्याणकारी कार्यक्रमों का सुझाव प्रस्तुत किया जो उनके आर्थिक चिन्तन पर आधारित है और आज भी प्रासंगिक तथा भरतीय परिवेश के अनुकूल है । उनके सामाजिक और आर्थिक चिन्तन की व्याख्या है कि आर्थिक योजनाओं तथा आर्थिक प्रगति का माप समाज के ऊपर की सीढ़ी पर पहुँचे व्यक्ति से नहीं नीचे स्तर पर विद्यमान व्यक्ति से होगा । आज देश में ऐसे करोड़ों मानव है जो मानव के किसी भी अधिकार का उपयोग नहीं कर पातें । शासन के नियम, व्यवस्थायें, योजनायें और नीतियां प्रशासन का व्यवहार एवं भावना इनको अपनी परिधि में लेकर नहीं चलती, बल्कि उन्हें मार्ग का रोड़ा ही समझा जाता है ।

हमारी भावना और सिद्धांत है कि वह मैले–कुचैले अनपढ़ सीधे सादे लोग हमारे नारायण है । हमें इनकी पूजा करनी है यह हमारा सामाजिक एवं मानव धर्म है । जिस दिन इनको पक्के सुन्दर घर बनाकर देंगे जिस दिन हम इनके बच्चों और स्त्रियों को शिक्षा और जीवन दर्शन का ज्ञान देंगे, जिस दिन हम इनके पैर की विवाइयों को भरेंगे और जिस दिन इनको उद्योग–धन्धों की शिक्षा देकर इनकी आय को ऊँचा उठा देंगे, उसी दिन हमारा मातृत्व भाव व्यक्त होगा । ग्रामों में जहां समय अचल खड़ा है, जहाँ माता और पिता अपने बच्चों के भविष्य को बनाने

में असमर्थ है, वहाँ जब तक हम आशा और पुरूषार्थ का सन्देश नहीं पहुंचा पायेगें तब तक हम राष्ट्र को जागृत नहीं कर सकेंगे । हमारी श्रद्धा का केन्द्र आराध्य हमारे पराक्रम और प्रयत्न का उपकरण तथा उपलब्धियों का मानदण्ड वह मानव होगा जो आज शब्दशः अनिकेत और अपरिग्राही है।''

पं0 दीनदयाल जी उपाध्याय अपने आदर्शो को मूलरूप देने में सदा प्रयत्नशील रहे । मा0 भाऊसाहब देवरस की प्रेरणा से अपने आदर्शो के प्रचारार्थ सन 1947 में ''राष्ट्रधर्म प्रकाशन'' की नींव ड़ाली, जिससे भविष्य में आने वाली काली आंधी से पूरे देश को सजग किया जा सके । ''राष्ट्र धर्म'' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित करने के लिये माननीय अटल बिहारी बाजपेई और राजीव लोचन अग्निहोत्री को सम्पादन कार्य की जिम्मेदारी सौंप दी । लखनऊ नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति श्री कृष्ण गोपाल कलत्री से अमीनाबाद के मारवाड़ी गली में एक कमरा ''राष्ट्र धर्म'' कार्यालय हेतु निःशुल्क प्राप्त कर लिया । लखनऊ में अच्छे मुद्रण एवं प्रिंटिग के लिये प्रसिद्व अवध प्रिंटिग वर्क्स (भार्गव प्रेस)''राष्ट्र धर्म'' छपवाने के लिये निश्चित की गयी । अत्यन्त विचार मन्थन एवं कठिन परिश्रम के बाद शुभ श्रावणी पूर्णिमा (रक्षाबन्धन) सम्वत 2004 वि. 31 अगस्त 1947 को ''राष्ट्र धर्म'' का प्रथम अंक प्रकाशित किया । राष्ट्र धर्म 96 पृष्ठ. की इस पत्रिका में माननीय अटल बिहारी बाजपेयी की प्रसिद्व कविता ''हिन्दू तनमन हिन्दू जीवन, रग रग हिन्दू मेरा परिचय'' परिचय स्तम्भ में छापी गयी फिर पं0 पू. गुरूजी (माधवराव सदाशिव गोलवरकर) का लेख ''हमारा राष्ट्रवाद'' अटल जी का लेख मुस्लिम राज्य बीज विकास और फल तथा लक्ष्मीकान्त शास्त्री का लेख''आओ स्वतन्त्रतें स्वागत'' शीर्षक से छपा।व्यंगात्मक शैली में लिखा अग्रलिखित लेख कुछ इस प्रकार था –

''स्वतन्त्रते तुम सदैव क्रान्ति के रथ पर बैठकर खून बहाती आती हो पर यहां भारत में तुम कलम की नोंक पर बैठकर आयी हो।'' इसी के बगल में बायीं ओर चार भागों में एक कॉर्टून छपा था । जिसमें पहले भाग में अंगीठी पर कढ़ाई चढ़ी है और एक बुढ़िया (कांग्रेस का प्रतीक) खीर पका रही है । दूसरे भाग में बुढ़िया ने आग जलाने के लिये चर्खा अंगीठी में लगा दिया है चर्खा अखण्डता का प्रतीक था इसमें लिखा भी था तीसरे भाग में बुढ़िया ढोल बजाकर गा रही थी

अन्तिम भाग में एक कुत्ता खीर खा रहा था । कुत्ता प्रतीक था मुस्लिम लीग का । उसकी कमर में चॉद तारो वाला झण्डा बंधा था । इस कॉर्टून के नीचे 'अमीर खुसरो' की निम्न पक्तियां लिखी थीं –

''खीर पकाई जतन से, चर्खा दिया चलाय।

आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजाय।

माननीय दीनदयाल जी का गहन विचार शैली वाला 'चिति' नामक लेख इसी अंक में प्रकाशित हुआ तथा बिन्दु–बिन्दु विचार शीर्षक से सम्पादकीय थी जो अटल जी के आग्रह पर लिखा था ।

जब राष्ट्र धर्म का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ तो राजनीति तथा साहित्यिक जगत में उसकी धूम मच गयी । सभी प्रतियां ए.पी. सेन रोड, संघ निवास पर आयीं और यहीं सें उनका वितरण प्रारम्भ हुआ । माननीय दीनदयाल जी एवं अटल जी ने स्वयं बण्डल बांधने से लेकर वितरण करने तक का कार्य किया । आवश्यकता पड़ने पर प्रूफ रींडिग एवं कम्पोंजिग का कार्य भी करते थे । माननीय दीनदयाल जी बारह से सोलह घण्टे प्रेस, कार्यालय तथा सम्पादकीय विभाग को देने लगे जिससे कि संस्थान की जड़े विधिवत जम सके।

परिणामतः राष्ट्रधर्म प्रकाशन के कई अन्य पुष्प भी खिले जैसे 'पाश्चजन्य' सप्ताहिक, दैनिक स्वदेश तथा दैनिक 'तरूण भारत' राजनैतिक घटनाक्रम तेजी से बदल रहा था देश के विभाजन का घाव अभी भरा नहीं था कि पं0 जवाहरलाल नेहरू ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को पोषित करना प्रारम्भ कर दिया । अतः देश एवं जनता को सत्ताधीशों के कुचक्र से दिन प्रतिदिन आगाह करने के लिये दैनिक एवं साप्ताहिक पत्रों की आवश्यकता महसूस हुई और पण्डित जी ने 14 जनवरी सन 1948 में मकर संक्रान्ति के अवसर पर ''पाश्चजन्य'' नामक एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया । 'पाश्चजन्य' के सम्पादन का दायित्व माननीय अटल जी को सौंपा गया । पहला अंक 16 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ । इस अंक में पं. दीनदयाल जी द्वारा लिखित 'नन्दन वन धू–धू कर जल रहा है' शीर्षक था जिसमें कश्मीर की दृश्यावली स्पष्ट हो रही थी । इसी में एक कार्टून छपा जिसका दृश्य था –

तमाम बिल्लियां बैठी है उन्हें पं0 गोविन्द बल्लभ पंत (तत्कालीन मुख्यमंत्री उत्तर प्रदेश) एक बक्से से निकाल निकालकर मालाये बांट रहे है।

30 जनवरी 1948 को गांधी जी की हत्या हुयी जिसका दोषी संघ को मानते हुये संघ पर प्रतिबन्ध लगाया गया । कार्यकर्ताओ को जेल भेजा गया "राष्ट्र धर्म प्रकाशन" पर सरकार ने अधिकार जमा लिया । जेल से छूटने के उपरान्त पण्डित जी ने बन्द पड़े हुये सम्पादन कार्य को गति प्रदान की और रक्षा बन्धन श्रावणी पूर्णिमा सन 1950 को "स्वदेश" नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ कराया जिसका सम्पादन कार्य अटल जी ने सम्भाला । उस समय दो समाचार समितियां अस्तित्व में थी एक "एसोसियटड प्रेस" (अब पी.टी. आई) और दूसरी " यूनाईटेड न्यूज आफ इन्डिया । यह दोनो समितिंया विदेशी प्रभुत्व वाली व सरकार समर्थक थी अतः दीनदयाल जी ने 'हिन्दुस्तान समाचार' नामक समिति का निर्माण किया।

महात्मा गांधी की हत्या का आरोप लगाकर संघ को कुचलने का षड़यन्त्र तत्कालीन सरकार द्वारा किया गया था । उसका राजनैतिक लाभ लिया जा रहा थां इस अन्याय के विरूद्व आन्दोलन (सत्याग्रह) संचालन का कार्य संघ ने पं0 दीनदयाल जी को सोंपा । सत्याग्रह के कुशल संचालन के साथ पण्डित जी की लेखनी अनवरत गतिशील रही । राष्ट्रीय भावनाओं से ओत–प्रोत लेख जनमानस को आलोकित करते रहें । पण्डित जी की प्रखर लेखनी का प्रवाह रोकने के लिये सत्ता ने 'पांश्चजन्य' पर प्रतिबन्ध लगा दिया तो पण्डित जी ने 'हिमालय' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया । जब उस पर भी कुठाराघात हुआ तब 'राष्ट्रभक्त' निकालने लगे । सत्ता के अनेक आघातों के बाद उनकी लेखनी रूकीं नहीं बल्कि सतत् चलती रही।

पण्डित जी द्वारा प्रारम्भ किये गये 'राष्ट्रधर्म' मासिक 'पाश्चजन्य' साप्ताहिक विशिष्ट पत्रों में गिने जाते है । सन् 1967 मे 'पाश्चजन्य' को उत्कृष्ट मुद्रण एवं प्रकाशन की दृष्टि से लखनऊ से दिल्ली, स्थान्तरित कर दिया गया । 'स्वदेश' वर्तमान में मध्यप्रदेश का प्रमुख दैनिक बनकर राष्ट्र की सेवा में समर्पित है।

पं0 दीनदयाल जी ने अपनी विशिष्ट शैली में 'चन्द्रगुप्त' एवं 'जगतगुरू शंकराचार्य' नामक दो पुस्तकें लिखी । विषय प्रतिपादन उत्तम है । प्रथम कृति के रूप में 'चन्द्रगुप्त' नामक पुस्तक (सन 1946) पाठको द्वारा अत्यन्त सराही गयी । इसकी भूमिका के 'मनोगत' शीर्षक में लेखक (पण्डित जी) ने लिखा है –

प्रस्तुत पुस्तक में ऐतिहासिक तथ्यों के ढांचे पर अपनी भाषा का मांस चढ़ाकर चन्द्रगुप्त का चरित्र लिखा गया है । इसी प्रकार प्रसिद्ध सिकन्दर पोरस युद्ध में सिकन्दर की विजय बतायी गयी है । लेकिन दीनदयाल जी ने उसे पोरस से पराजित लिखा है–''अलिक सुन्दर ने जब सेना में यह त्राहि–त्राहि देखी तो वह बहुत घबरा गया । उसने अपनी बची खुची सेना को भी दूसरे किनारे से बुलवा लिया परन्तु उसे कोई लाभ नहीं हुआ । अन्त में उसने हारकार पर्वतम के सामने मित्रता का हाथ बढ़ाया ।

पण्डित जी के भाषणों के आधार पर कई पुस्तकें संकलित करके प्रकाशित की गयी है जैसे–''भारतीय अर्थनीति'', विकास की एकदिशा, अंग्रेजी सप्ताहिक ''आर्गनाइजर'' में पण्डित जी ''पोलिटिकल डायरी'' नामक स्तम्भ से लेख लिखते थे । जिनका संकलन करके ''पोलिटिकल डायरी'' नामक पुस्तक 17 मई 1964 को बम्बई में प्रकाशित की गयी । इस पुस्तक का विमोचन परमपूज्य गुरूजी ने किया । इस पुस्तक की प्रस्तावना देश के प्रख्यात मनीषी डा. सम्पूर्णानन्द ने लिखी । इसकी भूमिका में सम्पूर्णनन्द जी ने लिखा कि पं. दीनदयाल के लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं भविष्य का संकेत करने वाले है । वास्तव में यदि पण्डित जी की चेतावनी की ओर समुचित ध्यान दिया गया होता तो कश्मीर की इतनी दुर्दशा नहीं होती । सन् 1966 में नहर जल संधि पर हस्तक्षेप करने जब तत्कालीन प्रधानमंत्री पं0 जवाहर लाल नेहरू पाकिस्तान जा रहे थे, पं. दीनदयाल जी ने उक्त अवसर पर ही क्या कश्मीर पर समझौता हितकर होगा? शीर्षक लेख में देश की जनता को सतर्क रहने का निर्देश दिया था और कहा था–''जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है कश्मीर के बारें में उसे पाकिस्तान के साथ केवल इसी प्रश्न पर विचार करना है कि भारतीय भू–खण्ड के उस भाग से वह कब और किस

प्रकार हटने वाला है जिस पर उसने भारत के साथ विश्वासघाती आक्रमण कर अवैध कब्जा जमा रखा है ।''

पण्डित जी ने ''एकात्म मानववाद'' नामक अलौकिक रचना करके भारतीय जीवन दर्शन को वर्तमान संदर्भ में प्रस्तुत कर सारे संसार को नवीन दिशा देने का सुखद कार्य किया । उन्होंने ममता समता और बन्धुत्व की भावना को प्रतिष्ठापित करने के लिये एकात्म मानववाद का दर्शन प्रस्तुत किया । मूल सिंद्धान्त के रूप में एक सुसंस्कृत शक्तिशाली समाज के निर्माण की रूपरेखा इसमें निहित है । डा. राममनोहर लोहिया ने पं. जी के विचारों से प्रभावित होकर कहा था–''उपाध्याय जी किसी भी समाजवादी से ज्यादा समाजवादी है ।" सिद्धान्त और नीति नामक पुस्तक में पण्डित जी ने लिखा है कि ''समाज की कोई प्रगति तब तक नहीं आंकी या मानी जा सकती जब तक समाज के सबसे निचले स्तर पर बैठे आदमी का उत्थान नहीं होता उसका आर्थिक जीवन स्तर ऊंचा नहीं होता ।''

पण्डित जी ने एक मौलिक चिन्तक श्रेष्ठ पत्रकार प्रभावित वक्ता के रूप में राष्ट्र की अतुलनीय साहित्यिक सेवा की । तन्मयता और कुशलता से सम्पादन कार्य किया और भावी लेखकों का मार्गदर्शन करते हुये आचार संहिता के अन्तर्गत स्वच्छ एवं निर्भीक पत्रकारिता को प्रोत्साहित किया ।

"कथनी करनी एक सी
पाया हदय विशाल
रहे समर्पित राष्ट्रहित
पण्डित दीनदयाल"

प्रत्येक विषय के बारे में उनको ज्ञान था । वे धर्म, अर्थ,, काम, मोक्ष जैसे विषयों को आसानी से कम पढ़े लिखे लोगो तक को समझा देते थे । ऐसा लगता था कि हर विषय के बारें में उनका ज्ञान जन्मजात है । संघ से प्रतिबन्ध हटने के बाद जब वे जेल से बाहर आये थे उन्होंने कुछ विशिष्ट लेख लिखे –

1. भारतीय राष्ट्रधारा का पुनः प्रवाह
2. भगवान कृष्ण

3. राष्ट्र जीवन की समस्यायें
4. भारतीय राजनीति की मौलिक भूल
5. लोकमान्य तिलक की राजनीति
6. भारतीय संविधान पर दृष्टि
7. जीवन का ध्येय तथा आत्मानुभूति।

(घ) रचनात्मक कार्य -:

सामाजिक बुराईयों को दूर करने के लिये पं. दीनदयाल जी मानसिकता पैदा करना चाहते थे उनका कहना था कि छुआछूत जैसी बुराईयों को दूर करने के लिये समता, ममता, समरसता तथा सकारत्मकता का भाव चाहिये । उनका मानना था कि ऐसी सभी बुराईयों की जड़ में परायेपन की भावना रहती है । इसलिये अपनत्व भाव का निर्माण होना बहुत जरूरी है । और अपनत्व भाव का निर्माण एकात्मता के विचारों से ही हो सकता है । दूसरे व्यक्ति के शरीर में भी वही आत्मा व्याप्त है जो मेरे शरीर में । वह दूसरे घर में पैदा हुआ है इतने मात्र से वह पराया नहीं । जब इस प्रकार का एकात्मकता का भाव निर्माण होता है तभी दूसरे व्यक्ति की पृथकता की पीड़ा का भी बोध होता है । जैसे –

"आत्मानं प्रतिकूलानि न समाचरेत।" छुआछूत और ऊँच–नीच का भाव हमारे हिन्दू घरों की महिलाओं के आग्रह पर अधिक निर्माण होता है इसका कारण स्त्रियों की अशिक्षा है इसलिये स्त्रियों में सामाजिक शिक्षण और सामाजिक जागृति पर पण्डित जी बल देते थे एवं स्वयं रचनात्मक कार्यक्रमों जैसे सहभोज, मलिन बस्तियों की सफाई, दुखीः दरिद्र व्यक्ति की सेवा के माध्यम से एकात्मक भाव कायम रखने की कोशिश करते थे । वह कहते थे कि कोई भी महिला अपने जन्मजात अपंग और अपाहिज बच्चे को भी प्यार कर सकती है क्योंकि उसके मन में यह भाव होता है कि यह बच्चा मेरे जिगर का टुकड़ा है मेंरा अपना है । इस प्रकार के अपनत्व का भाव यदि उनके अन्दर जागृत किया जाये तो वे समाज के किसी व्यक्ति को स्नेह देने में पीछे नहीं रहेंगी । इसी आस्था पर पण्डित दीनदयाल जी अपनत्व के भाव को प्राथमिकता देकर कार्य करते थे और

कार्यकर्ताओं से समाज में एकता निर्माण करने के लिये अपनत्व भाव जागृत का आग्रह करते थे ।

सामाजिक समरसता स्थापित करने के लिये दीनदयाल जी अलग से काम करने के स्थान पर अपने व्यवहार का आदर्श उपस्थित करते थे । जहां–जहां इस तरह के काम की आवश्यकता होती थी । वहां–वहां कार्यकर्ताओं को उन्होंने प्रोत्साहित किया । उनके मार्ग में आने वाली कठिनाईयों को सरल बनाने की कोशिश की व अपने कार्यकर्ताओं को काम करने के लिये इन क्षेत्रों में भेजा । वे स्वयं भी आग्रह करते थें कि प्रवास के समय उन्हें हरिजन बस्ती में ही ठहराया जाये । वह किसी हरिजन के घर रूक कर उसके घर समाज के प्रतिष्ठित लोंगों को ले जाया करते थे तथा उसे कहे हुये वर्ग से जोड़ने का सफल प्रयास करते थे और यहां तक हरिजन बस्तियों में झाडू लेकर सफाई कार्य तक उन्होंने किया था ।

अन्त्योदय कार्यक्रम पण्डित जी का एक महान रचनात्मक कदम था । इस कार्यक्रम के माध्यम से वह समाज के सबसे निचले स्तर पर बैठे मनुष्य तक विकास की किरणों को पहुंचाना चाहते थे । असहाय, बेजुबान, निरक्षर और साधनहीन लोंगो को लाभान्वित करके राष्ट्रीय विकास की धारा को गतिशील बनाना चाहते थे । वह दरिद्रनारायण को अपना आराध्यदेव मानकर उनकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझने लगे थे । उनकी कथनी और करनी एक जैसी थी । उनका कहना था "वे लोग जिनके सामने रोजी–रोटी का सवाल है जिन्हें न रहने के लिये मकान है और न तन ढकने के लिये कपड़ा । अपने मैले–कुचैले बच्चों के बीच दम तोड़ रहे है गांवों और शहरो के उन करोड़ों निराश भाई–बहनों को सुखी व सम्पन्न बनाना हमारा लक्ष्य है।"

पण्डित जी कहा करते थे कि "केवल नारेबाजी से कोई काम नहीं चलेगा । जब तक उस मानव को जो ऐसे क्षेत्रों में रहता है जहां आज प्रकाश नहीं है जहां दरिद्रता और दैत्य का साम्राज्य है, जहां उसके पांव मे बिवाई फटी हुयी है, जिसे जूता पहननें के लिये नहीं हैं उस निरक्षर निरूत्साही और किंकर्त्तव्य विमूढ़ मानव को स्वस्थ और सुन्दर समाज का दर्शन नहीं करा देते, तब तक

प्रत्येक विचारशील एवं संवेदनशील व्यक्ति को ऐसे समाज के निर्माण के लिये सतत कार्यरत रहना चाहिये ।"

पण्डित जी ने राष्ट्र के विराट को जागृत करने का श्रेष्ठ रचनात्मक कार्य अपनाया था। अपने गहन विचारों के द्वारा राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के हदय में राष्ट्र भक्ति की भावना भरकर एक संगठित एवं शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण चाहते थे । उनके शब्दों में –"राष्ट्र का स्वरूप "एकजन" की सामूहिक मूल प्रकृति द्वारा निर्धारित होता हैं यही चिति है"। "चिति" से जागृत और एकीभूत हुयी समष्टि की प्राकृतिक छात्र शक्ति अनिष्टों से रक्षा करने वाली शक्ति "विराट" कही जाती है । यही "विराट" है जो "चिति" के प्रकाश से जागृत होता है और हम कहते है कि राष्ट्र जाग उठा है । "विराट" राष्ट्र का प्राण है तो "चिति" आत्मा है । जिस प्रकार प्राण शरीर के विभिन्न अंगों को शक्ति प्रदान करता है बुद्धि को ताजा रखता है और मानसिक शारीरिक संतुलन ठीक रखता है उसी प्रकार राष्ट्र में किसी शक्तिशाली "विराट" के रहने से ही लोकतन्त्र सफल हो सकता है तथा सरकार कारगर हो सकती है । जब "विराट" जागा हुआ होता है तो विभिन्नता पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न नहीं करती तथा राष्ट्र के लोग एक दूसरे के साथ सहयोग करते है । यजुर्वेद में भी "वयं राष्ट्रे जागृयामः पुरोहितः" मन्त्र द्वारा यहीं मंशा व्यक्त की गयी है कि हम जागते रहेंगे यानि राष्ट्र को जागृत रखेंगे । राष्ट्र के अंग–अंग के रूप में यह जीवन कल्पना उनकी मौलिक उदभावना एवं प्रतिभा का परिणाम है उसी के आधार पर राष्ट्रीयता की व्यापक एवं उदात्त अभिव्यक्ति हुयी है । एकता समग्रता और अखण्डता को प्रोत्साहन मिला, गति मिली । इस अवधारणा से वे स्पष्ट करना चाहते थे कि राष्ट्रहित, राष्ट्र इच्छा किसी भी मतवाद जाति, सम्प्रदाय, भाषा, नस्ल प्रांतीयता से नितांत ऊपर है । उसकी रक्षा सब प्रकार से होनी चाहिये । "माता भूमिः पुत्रोअहम् प्राथिब्याः" पुत्रों को सभी प्रकार से ऊपर उठकर सब प्रकार से माता की रक्षा करनी चाहिये ।

1952 के अन्त और 1953 के प्रारम्भ में जम्मू कश्मीर के शेख अब्दुला के अत्याचार, वहां की जनता और उसके विरोध में सत्याग्रह चलाने वाले "प्रजा परिषद" पर बहुत अधिक बढ़ गये । अतः दिल्ली और पंजाब में सत्याग्रह शुरू

हुआ। सन 1952 में ''कश्मीर सत्याग्रह'' की बागडोर पण्डित जी के हाथों में आयी उन्होंनें इस आन्दोलन को रचनात्मक स्वरूप प्रदान किया।

भारतीय जनसंघ के संस्थापक डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी की ''हिन्दू शरणार्थियों'' को बसाने और कश्मीर के भारत में पूर्ण विलय की प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिये सम्पूर्ण भारत में जागरण की लहर उत्पन्न करने का कार्य किया । जगह–जगह बैठकों एवं सभाओ का बृहद आयोजन करके इस सत्याग्रह को विराट जन आन्दोलन का स्वरूप प्रदान किया । ''एक प्रधान एक विधान और एक निशान'' का नारा लगाती टोलियां केशरिया टोपियां पहनें एवं केशरिया ध्वज लिये सत्याग्रह में उतरने लगी । जेले भरने लगी सत्याग्रह का स्वरूप विशाल से विशालतर होता गया । इस आन्दोलन में डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी को जेल में डाल दिया गया । जहां 40 दिन बाद संदिग्धावस्था में 23 जुलाई 1953 में उनकी मृत्यु हो गयी । जिससे आन्दोलन को स्थगित करना पड़ा लेकिन डा. मुखर्जी के सपने को साकार करने के लिये पं0 दीनदयाल जी ने कोई कसर नही छोड़ी । सशक्त सम्पन्न और अखण्ड भारत का सपना उनके हृदय में अंकित था जो उनका मार्ग आलोकित करता रहा।

(ड.) श्रम साधना -:

पं0 दीनदयाल उपाध्याय का यह विश्वास था कि विषम समस्याओं से घिरे इस देश में सब प्रकार का समाधान सम्भव है । आवश्यकता केवल इस बात की है कि देश के कर्णधार और समाज के जागरूक लोग निष्ठापूर्वक इसके लिये प्रयत्नशील हों । उनका कहना था कि यदि भारत की उन्नति होती है तो हम सबको कर्मठ होकर परिश्रम करना होगा । उन्हें अपने अल्प जीवन में ही आभास हो गया था कि स्वतन्त्र होने के बाद आम भारतवासी भौतिक रूप से अधिक सजग हो गया है । उसका ध्यान धन संचय करने में अधिक है । इससे व्यक्तिगत लाभ तो होगा लेकिन देश की उन्नति आपसी सहयोग और अधिक से अधिक परिश्रम से ही सम्भव है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये जो त्याग किया उसे उससे दुगना त्याग व चौगनी तपस्या की आवश्यकता है देश को समृद्धशाली बनाने

के लिये । लेकिन वे इस बात से दुखी थे कि स्वतन्त्रता के पूर्व की तरह अब भी लोग एक–दूसरे का शोषण कर रहे है । उनका मानना था कि भारतवर्ष एक बहुत बडा कुटुम्ब है जिसके हर सदस्य का जन्मसिद्ध अधिकार है कि उसे रोटी, कपड़ा और मकान अवश्य मिले । उसके जीने की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो । कार्य यह सोचकर किया जाना चाहिये कि यह भगवान का कार्य है और हमारा कर्तव्य है । उन्होने लिखा है –

"राजा और रंक पूंजीपति और श्रमिक अमीर और गरीब सबको श्रम की साधना में जुटना होगा । श्रम से परांग मुख राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संरक्षण समाप्त करने होगे । श्रम के लिये भटकती भुजाओं को काम देना होगा । जहां राष्ट्र व्यापी श्रम है वहां निर्धनता और विषमता टिक नहीं सकती । जहां समता और सम्पन्नता है वही शिवत्व और सौन्दर्य है।" भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा में उन्होंने बेरोजगार एवं रोजगार प्राप्त कामचोर दोनो को देश की उन्नति में बाधक बताया है । उन्होंने लिखा है कि जैसे बेगार हमारी दृष्टि में काम नहीं है, वैसे ही व्यक्ति के द्वारा काम में लगे रहते हुय भी अपनी शक्ति भर उत्पादन न कर सकना भी काम नही है । "अण्डर एम्पलायमेंन्ट" भी एक प्रकार की बेकारी है । भारत जैसे देश के लिये जहां श्रम ही हमारी सबसे बड़ी पूंजी है श्रम का सामर्थ्यनुसार अनुपयोग घातक है । अतः विकेन्द्रीकरण के साथ हमें इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि राष्ट्र के उत्पादन में व्यक्ति अपना पूर्ण योगदान दे सके । बिना इसके न्यूनतम स्तर और सामाजिक सुरक्षाओं की गारण्टी द्वारा उपभोग की स्वतन्त्रता बेमानी हो जायेगी ।

उपाध्याय जी स्वयं एक अखण्ड कार्य साधक थे । उनकी कर्म साधना चरैवेति सिद्धान्त पर आधारित थी वैदिक ग्रन्थ "ऐतरेय ब्राहमण" के निम्नलिखित चरैवेति! चरैवेति! शीर्षक मन्त्र पण्डित जी के जीवन के प्रमुख प्रेरणा श्रोत रहे है।

नाना श्रान्ताय श्री रस्तिइतिरोहितशुश्रुम।
पापो नृष, द्वरोजन इन्द्रः इच्चरतः सखा।।

चरैवेति । चरैवेति !

हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित को उपदेश देते हुये इन्द्र कहते है कि "हे रोहित! हम ऐसा सुनते है कि श्रम करने से जो नही थका ऐसे मनुष्य को श्री की अथवा ऐश्वर्य और वैभव की प्राप्ति होती है । बैठे हुये आलसी आदमी को पाप धर दबाता है । इन्द्र उसका ही मित्र है जो बराबर चलता रहता है ।

आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिर्ष्णत तिष्ठतः।

शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः।।

चरैवेति! रैवेति!

बैठे हुये का सौभाग्य बैठा रहता है और खड़े होने वाले का सौभाग्य उठकर खड़ा हो जाता है । पड़े रहने वाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलने वाले का सौभाग्य चल पड़ता है । इसलिये चलते रहो । चलते रहो।

कलिः शयानो भवति सजिहानस्तु द्वापरः।

उत्तिण्ठस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन।।

सोने वाले का नाम कलियुग है अंगड़ाई लेने वाले द्वापर है उठकर खड़ा होने वाला त्रेता है और चलने वाला सतयुगी होता है । इसलिये चलते रहो । चलते रहो।

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदम्बकम।

सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन।।

चरैवेति ! चरैवेति !

चलता हुआ मनुष्य ही मधु (अमृत) प्राप्त करता है चलता हुआ मनुष्य स्वादिष्ट फल चखता है, सूर्य के परिश्रम को देखो जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नही करता । इसलिये चलते रहो । चलते रहो।

विद्यार्थी जीवन से ही पण्डित जी अत्यन्त परिश्रमी रहे है स्वयं विषम परिस्थितियों में अध्ययन करना साथ–साथ अपने कमजोर मित्रों को पढ़ाना और प्रथम श्रेणी में पास होना उनके परिश्रम का ही फल था । पढ़ाई के साथ संगठन का कार्य करते हुये अन्य कार्यकर्ताओं के लिये आदर्श बन गये थे । राष्ट्रधर्म

मासिक पत्रिका के सम्पादन, लेखन से लेकर कम्पोंजिग, बण्डल बांधना और उन्हें वितरित करने तक का कार्य पण्डित जी ने अत्यन्त परिश्रम के साथ किया । बहुत कम समय में जिला प्रचारक फिर सहप्रान्त प्रचारक, जनसंघ के प्रान्तीय महामन्त्री, राष्ट्रीय महामन्त्री एवं राष्ट्रीय अध्यक्ष जैसे गरिमामय दायित्व को सम्भालना कम मेहनत का कार्य नहीं था । भारतीय जनसंघ को देश में दूसरे नम्बर के दल के रूप में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय पण्डित दीनदयाल जी को ही है । अहर्निश प्रवास में रहने वाले पण्डित जी ने कभी परिवहन के सुखद साधनों की अपेक्षा नहीं की । मोटर गाड़ी नहीं मिली तो रिक्शे से चल पड़े, प्रथम श्रेणी में स्थान नहीं तो निचली श्रेणी में ही गुजारा कर लिया । कभी–कभी तो वह जनता जनार्दन के साथ अनारक्षित रेल डिब्बे में ही गठरी बने लम्बी रेल यात्रायें करते थे । अपनी कर्म साधना में उन्होंने साधनो को कभी बाधक नहीं बनने दिया ।

26 जनवरी 1950 को देश मे गणतन्त्र की घोषणा की गयी । भारत का नवीन संविधान स्वीकार हुआ । कांग्रेस के कुशासन और अल्पसंख्यक संतुष्टिकरण की नीति के कारण राष्ट्रीय आत्मा दुखी थी । भारत का विभाजन हो ही चुका था । कश्मीर पर पाक गिद्ध दृष्टि लगाये हुआ था और हमारे नेताओ ने उसे प्रसन्न रखने के लिये 55 करोड दान कर दिये जबकि उससे उल्टे 300 करोड लेना चाहिये था । ''नेहरू लियाकत समझौता'' का अर्थ भारत की गर्दन झुकना ही था ।

तत्कालीन उद्योग मंत्री डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी इस समझौते के घोर विरोधी थे । उन्होंने पाकिस्तान से भूमि लेने की बात कही और उसके न पाने तक समझौता ठुकराने का आग्रह किया । नेहरू जी से मंत्रिमण्डल की बैठक में इस प्रश्न को लेकर झड़प हो गयी । नेहरू जी ने आपके सुझाव अस्वीकार कर दिये । अतः आपने अप्रैल 1950 में मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया तथा संसद में अपनी आवाज को बल प्रदान करने के लिये सभी विरोधियों को मिलाकर एक राष्ट्रीय गणतांन्त्रिक मोर्चा बनाया । डा. मुखर्जी ने विरोधी पक्ष के नेता के रूप में हिन्दू शरणार्थियों को बसाने के लिये कश्मीर के भारत में पूर्ण विलय की प्रतिज्ञा की । अतः आपको आभास हुआ कि कांग्रेस के विकल्प के लिये अखिल भारतीय

स्तर पर एक आदर्शवादी राजनीतिक संगठन खड़ा किया जाना चाहिये । इसके लिये उनहे आदर्शवादी नवयुवको की आवश्यकता का आभास हुआ । वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सरसंघ चालक परमपूज्य गुरूजी के पास गये और अपनी बात को उनके सामने रखा । इधर सन 1948 में पण्डित नेहरू द्वारा संघ पर लगाये गये प्रतिबंध के कारण कार्यकर्ताओं के ऊपर अत्यन्त अत्याचार हुये थे । अतः संघ भी ऐसे अन्यायों का सामना करने के लिये अपना समर्थक एक राजनीतिक दल तैयार करना चाहता था । इसलिये परमपूज्य गुरूजी डा. मुखर्जी की बात से तुरन्त सहमत होकर पं० दीनदयाल जी को उनके सहयोग के लिये राजनीति में भेज दिया । प्रथमतः दीनदयाल जी ने उत्तर प्रदेश का एक सम्मेलन बुलाकर सितम्बर 1951 को प्रादेशिक जनसंघ की स्थापना की और उसी में उन्होनें इसे अखिल भारतीय स्वरूप देने का प्रस्ताव रखा जो सर्वसम्मति से पारित हुआ । लखनऊ के अधिवक्ता श्री राजकुमार जी प्रदेश अध्यक्ष तथा पण्डित दीनदयाल जी प्रदेश महामंत्री चुने गये । दीनदयाल जी जनसंघ को अखिल भारतीय स्वरूप देने में जुट गये और एक माह के अन्दर दिल्ली में 20 अक्टूबर 1951 को अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाया 20 से 22 अक्टूबर तक दिल्ली के साधोमल हायर सेकेन्डरी स्कूल में त्रिदिवसीय सम्मेलन हुआ । 21 अक्टूबर 1951 को डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी की अध्यक्षता में जनसंघ को अखिल भारतीय स्वरूप प्राप्त हुआ ।

प्रथम आम चुनाव में सारे देश में चुनाव लड़ने की योजना बनाई गयी । उत्तर प्रदेश में चुनाव संचालन का भार पं० दीनदयाल के कंधों में डाला गया । मा. नानाजी देशमुख ने उनके सहयोगी के रूप में सारे प्रदेश में घूमघूम कर प्रत्याशी खड़े किये । चुनाव बड़े ही प्रभावी ढ़ंग से लड़ा गया । तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू को अत्यन्त घबराहट हुई इसलिये उन्होंने सारे देश में जनसंघ के विरूद्व अभियान छेड़ा इसे साम्प्रदायिक पुरातनवादी और गांधी जी का हत्यारा तक कह डाला । परन्तु जनसंघ को तीन सींटे मिली, डा0 मुखर्जी स्वयं जीतकर आये और 125 सीटों वाले संम्पूर्ण विपक्ष के नेता चुने गये । कश्मीर के प्रश्न को फिर संसद में उठाया । कश्मीर समस्या के लिये उन्होने पं0 नेहरू को पूरी तरह से दोषी ठहराया । अतः नेहरू जी क्रोध से लाल हो गये और क्रोधावेश में यहां तक

कह गये कि "हम जनसंघ को कुचल डालेंगे।" कश्मीर के भारत में पूर्ण विलय के प्रश्न को लेकर जनसंघ के प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन दिसम्बर 1952 में कानपुर के गणेश उद्यान में आयोजित हुआ जिसमें सत्याग्रह छेड़ने का निर्णय लिया गया । इसकी अध्यक्षता डा0 मुखर्जी ने की । इसी अधिवेशन में डा0 मुखर्जी ने पं0 दीनदयाल उपाध्याय को उनकी प्रखर संगठनात्मक प्रतिभा देखकर अखिल भारतीय महामन्त्री का दायित्व सौंप दिया। अत्यन्त भावावेश में भाषण करते हुये घोषणा की कि यदि मुझे दो और दीनदयाल मिल जाते तो मै देश की राजनीति का नक्शा बदल देता । इसी अधिवेशन में कश्मीर सत्याग्रह संचालन का सम्पूर्ण भार पण्डित जी को सौंपने का ऐतिहासिक निर्णय लिया । केन्द्रीय महामन्त्री बन जाने के बाद पण्डित जी का केन्द्र लखनऊ से बदलकर दिल्ली हो गया और उ.प्र. का संगठन सूत्र मा0 नाना जी देशमुख के हाथों में सौपा गया कश्मीर सत्याग्रह का संचालन डा. मुखर्जी ने किया । डा. मुखर्जी की जेल में संदिग्ध मृत्यु हुयी । सत्याग्रह स्थगित हुआ । जनसंघ को भारी आधात पहुँचा । कार्यकर्ता शोक में डूब गये । संगठन की सारी जिम्मेदारी पण्डित जी के कंन्धों पर आ पडी । पं0 मौलिचन्द्र शर्मा को जनसंघ का अध्यक्ष मनोनीत किया गया । सन् 1953 से 1967 तक पण्डित जी महामन्त्री के नाते पार्टी का संचालन करते रहे । जम्मू कश्मीर प्रजा परिषद का जनसंघ में विलय हुआ । पण्डित जी का अथक प्रयास, परिश्रम अहर्निश चिन्तन रंग लाया, जनसंघ ने गति पकड़ी और शीघ्र ही देश के दूसरे नम्बर की पार्टी बन गयी । अपनी प्रतिभा के बल पर पण्डित जी ने जनसंघ रूपी नन्हे पौधे को सींच–सींच कर पुष्पवित एवं पल्लवित किया तथा एक विशाल वट वृक्ष के रूप में परिणित कर दिया । जिस संगठन का स्थान 1952 और 1957 के चुनाव में नगण्य रहा उसे 1962 के चुनाव में पाँचवें और 1967 के चुनाव में द्वितीय स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया । पण्डित जी ने जनसंघ को केवल राजनैतिक दिशा ही नही दी, विश्व को एकात्मवाद का नितान्त नया और अभूतपूर्व दर्शन भी दिया और मन्त्र दृष्टा राजर्षि के नाते हमारे सामने आये । राजनीति के लिये नैतिकता और मूल्यों पर आधारित राजनीति चलाने पर बल दिया ।

भारतीय जनसंघ के दिन प्रतिदिन बढ़ते हुये प्रभाव को देखकर काग्रेंस में घबराहट उत्पन्न होने लगी। जनसंघ के विरूद्व भ्रामक प्रचार करने लगे। जनसंघ की छवि विदेशों में भी बिगाड़ने का प्रयास किया गया। अतः पण्डित जी ने अमेरिका, पश्चिमी जर्मनी, इंग्लैण्ड तथा पूर्वी अफ्रीका का दौरा करके कांग्रेस द्वारा किये गये प्रचार का जवाब दिया। वहां पर पण्डित जी ने सभाओं को सम्बोधित किया। पण्डित जी के इस प्रयास का जनसंघ को बहुत ही लाभ हुआ। प्रवासी भारतीयों को स्पष्टीकरण प्राप्त हुआ और भारत के प्रति उनकी निष्ठायें बढ़ी तथा सुब्रह्मणस्वामी श्री मनोहर लाल सोंधी तथा डा. नारयण स्वरूप शर्मा जैसे व्यक्तियों को पुनः भारत लौटने की प्रेरणा प्रदान की ।

1963 में जौनपुर के संसदीय उपचुनाव में कार्यकर्ताओं ने जिद करके उन्हें खड़ा कर दिया जबकि उनकी इच्छा नहीं थी। पण्डित जी चुनाव लड़े सिद्धान्तों के आधार पर पूरी शक्ति से लड़े परन्तु कांग्रेस के प्रत्याशी की तरह चुनाव में जातिवाद उभारने तथा वोटों की खरीद करने से स्पष्ट मना कर दिया। अतः पण्डित जी चुनाव हार गये और बडी उदारता के साथ पत्रकारों के बीच अपनी हार को हंसकर स्वीकार कर लिया "अरे भाई मुझे तो हारना ही था, कांग्रेस का प्रत्याशी मुझसे कहीं अधिक योग्य था और बहुत वर्षो से इस क्षेत्र में जनसेवा कर रहा था।" अर्थात सुख और दु:ख जय और पराजय गीता में स्थित प्रज्ञ ऋषि की तरह उनके लिये समान थे ।

1965 में पाकिस्तान ने 'कच्छकेरन' पर अपना दावा किया और हमले प्रारम्भ कर दिये। कांग्रेस की केन्द्रीय सरकार और गुजरात की सरकार दोनों अपनी तथाकथित उदार समझौता वादी नीतियों के कारण पाकिस्तान से 'कच्छकेरन' पर समझौता करने को तैयार हो गये। इसी समय पण्डित जी का गुरू गम्भीर गर्जन सारे देश में गूंज उठा, " पूरा का पूरा कच्छ भारत का है इसकी एक इंच धरती को बड़ी से बड़ी शक्ति किसी दूसरे को नहीं सौंप सकती।"

इस समझौते के विरूद्व देश के जनमानस को जागृत करने के लिये दिल्ली में एक विशाल रैली का आयोजन किया। इस रैली को सफल बनाने के लिये सारे देश का भ्रमण किया। हजारों सभाओं को सम्बोधित किया। और अनगिनत पत्र

लिखे और देश की जनता से तन–मन –धन से सहयोग करने की प्रार्थना की। ''दिल्ली चलो'' का नारा दावानल की तरह सारे देश में धधक उठा। 16 अगस्त 1965 को अपने विराट स्वरूप का दर्शन करके जनमानस को विश्वस्त किया। देश के कोने–कोने से आये पाँच लाख लोग केशरिया ध्वज लहराते हुये ''कच्छ समझौता तोड़ दो वरन गद्दी छोड़ दो'' के गगन भेदी नारों से दिल्ली को गुंजायमान कर दिया। दिल्ली की सड़कों से होती हुयी रैली संसद भवन पहुंची। विजय मिली, सरकार झुकी और कच्छ समझौता टूट गया। इस प्रकार पण्डित जी ने सरकार के प्रति रोष प्रकट करने के लोकतांन्त्रिक तरीकों की नींव डाली। 1962 में डा. रघुवीर जनसंघ के अध्यक्ष चुने गये। डा. लोहिया के उपचुनाव में प्रचार के लिये कन्नौज जाते समय रास्तें में कार दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गयी। जनसंघ के लिये यह दूसरा आघात था। पण्डित जी ने इस झटके को भी झेल लिया और जनसंघ को गतिशील बनाने में लगे रहे। 1967 तक पहुँचते–पहुँचते श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी का पतन प्रारम्भ हुआ। 1967 में पूरे उत्तर भारत के समस्त हिन्दी भाषी प्रान्तों में पंजाब और गुजरात में विरोधी पक्ष की मिली जुली संविद सरकारें प्रस्थापित हो गयी। जनसंघ इन सभी राज्यों में सत्ता का भागीदार बना। यह सभी सरकारें भानुमती का अजीब पिटारा थीं। जिनमें दो परस्पर विरोधी ध्रुव कम्युनिष्ट एवं जनसंघ एक साथ शामिल थे। इस खिचड़ी को पकाने का श्रेय पण्डित दीनदयाल जी को ही था। हालांकि वह जानते थे कि ये सरकारें ज्यादा दिनों तक नही चल पायेंगी, लेकिन इनका कहना था कि ''पहले इस महा शत्रु को मार दो बाद में आपस में निपट लेंगे।'' मत विभिन्नता के कारण यह खिचड़ी सरकारें दो वर्ष के अन्दर ही एक के बाद एक धराशायी हो गयी। लेकिन इन संविद सरकारों से यह लाभ हुआ कि जनता में पहली बार विश्वास हुआ कि कांग्रेस पार्टी को भी सत्ता से हटाया जा सकता है। यह सब पण्डित जी के सफल राजनैतिक चिन्तन का परिणाम था ।

दिसम्बर 1967 भारतीय जनसंघ के लिये महत्वपूर्ण दिन था वह विराट का दर्शन कराने वाले महापुरूष जनसंघ के अध्यक्ष बनकर दक्षिणपथ की ओर अपना पावन सन्देश देने को चल दिये । कालीकट में जनसंघ का राष्ट्रीय अधिवेशन

हुआ और पण्डित जी की अध्यक्षता का समाचार देश के कोने–कोने में फैल गया। और कार्यकर्ता कालीकट पहुँचने के लिये उतावले हो उठे। यहाँ तक की केरल की कम्युनिस्ट सरकार एवं उसके मुख्यमंत्री नम्बूदरीपाद ने जनसैलाब के रास्ते में भरपूर रोड़े अटकाये परन्तु असफल रहे, जनसैलाब के कारण केरल की सड़को पर शोभायात्रा अभूतपूर्व रही ऐसा लग रहा था मानो सम्पूर्ण केरल उमड़कर सड़कों पर आ गया हो और कालीकट की सड़के केशरिया रंग एवं फूलमालाओं से भर गयीं । जयकारों के घोष से गगन गुंजायमान हो गया। पण्डित जी का अध्क्षीय भाषण अभूतपूर्व था । उन्होनें देश की किसी भी ज्वलन्त समस्या को नहीं छोड़ा था सभी का निदान भी प्रस्तुत किया था। कुछ प्रमुख कम्युन्स्टि नेताओं ने अपना नाता संघ से जोड़ लिया वही संदेश पण्डित जी का आखिरी संदेश हो गया। विश्व के सम्पादकों ने उनकी प्रशंसा में अपनी लेखनी तोड़ दी ।

(च) <u>अर्थ चिन्तन -:</u>

पं0 दीनदयाल जी का आर्थिक चिन्तन वास्तविकता पर आधारित था। वे मनुय और मनुष्य के बीच बनावटी सम्बन्धों को पसन्द नही करते थे। उनका मानना था कि जहां एक ओर शोषण हो, गरीबी भुखमरी हो दूसरी ओर अर्थतन्त्र पर एकाधिकार हो वहां मनुष्य का मनुष्य से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध बेकार है। इस प्रकार की आर्थिक विषमता को दूर करके ही व्यक्ति को सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है। पाश्चात्य विचारकों के इस सामाजिक और आर्थिक विषमता से क्षुब्ध होकर इस पर अनेक प्रहार किये और इसको मिटाने के लिये अनेक रास्ते सुझाये हमारे भारतीय विचारकों ने भी इस असमानता का पाश्चात्य दृष्टिकोण से अध्ययन करके इसको समाप्त करने के लिये नये चिन्तन प्रस्तुत किये। उपरोक्त सभी चनितन एकांगी सिद्ध हुये क्योंकि किसी भी विचारक ने भारत की माटी को समझने की कोशिश नही की। प्रत्येक देश की अपनी विशेष ऐतिहासिक सामाजिक और आर्थिक परिस्थितयां होती है और उस समय उस देश के जो भी नेता या विचारक होते है, वे उस परिस्थिति में देश को आगे बढाने में कार्य का निर्धारण करते है। अपनी समस्याओ के समाधान के लिये जो हल उन्होने

सुझाये वे भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में रहने वाले समाज पर पूरी तरह लागू नहीं होते ।

पण्डित जी के आर्थिक परिकल्पना का आधार करोड़ों भूखे नंगे इंसान है। वे कहते थे कि भारतीय संस्कृति में वर्णित पूर्ण मनुष्य की व्याख्या इन्हीं में निहित है। ऐसे किसी सामान्य वयक्ति से देश धर्म, साहित्य के बारे में चर्चा करने पर उत्तर प्राप्त होता है कि –

भूल गये राग रंग, भूल गयी छकड़ी।,
तीन चीज याद रही, नोन तेल लकड़ी।।

अर्थात बहुजन समाज नमक, तेल एवं लकड़ी की चिन्ता में ही दिन, महीने और वर्ष बिताता हुआ अपनी जीवन की घड़िया काट जाता है जीवन के शेष प्रश्न उसके सामने कभी प्रमुख रूप से आते नहीं। ऐसे व्यक्तियों को सम्पन्न बनाने वाली आर्थिक नीति का अनुसरण भारत को करना चाहिये। यही हमारा ब्रत और संकल्प होना चाहिये।

इस मानववादी अर्थशास्त्री ने समाज के सबसे नीचे के व्यक्ति को आधार बनाकर अपना दर्शन प्रस्तुत किया और नई आर्थिक नीति की घोषणा की। रूढ़िवादी विचारकों ने पण्डित जी की इस नई आर्थिक नीति को देखकर यह अनुमान लगाना शुरू कर दिया कि पण्डित जी साम्वादी हो गये, क्योंकि विचारों के शिखर पर शोषण की खिलाफत और आदर्श समाज के लिये राज्य रहित समाज की अवधारणा ने इन्हें भावभूमियो पर खड़ा देखा जहां साम्यवाद की शीर्ष स्थिति है। परन्तु इनके व्यक्तित्व का विश्लेषण इन्हें हीगेल के थीसिस, एन्थीसिस और सिन्थीसिस के सिद्वान्त और कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिस्थापित द्वन्दात्मक भौतिकवाद से कहीं अलग करता है। मार्क्स आदि मनुष्य को केवल भौतिक प्राणी के रूप में देखते है और उनका विचार है कि मनुष्य आर्थिक जरूरतों की प्रेरणा के अधीन सब कार्य करता है परन्तु उपाध्याय जी ने मनुष्य को पूर्ण चेतन के रूप में देखा है

जहां तक मानव पीड़ा का सवाल है और जिस पर पण्डित जी का समूचा आर्थिक चिन्तन दर्शन स्थित है, वित्त पर एकाधिकार के खिलाफ, धन के वितरण

में असमानता के खिलाफ, जमीन पर आवश्यकता से ज्यादा कब्जे के खिलाफ आवाज उठायी गयी है। बड़ी–बड़ी मशीनों, जमीदारों, मिल मालिकों साथ ही साथ हड़तालो पर पाबन्दी, उनके विचारों की मौलिकता है, और इन सबके साथ सामंजस्य पूर्ण स्थिति बनाते हुये उन्होंने मानववादी अर्थशास्त्र की प्रतिस्थापना की। उनके अनुसार अर्थ के उत्पादन को लेकर दो विचार प्रचलित हुये। प्रथम उत्पादन पर अधिक बल देने के कारण अमेरिका आदि देशों में ''पूँजीवाद'' का प्रसार हुआ इसमे पूंजीवाद अधिक धनवान और श्रमिक अधिक गरीब होता गया। दूसरा जब लाभ में श्रमिकों को हिस्सा नहीं मिला तो प्रतिक्रिया होने लगी और नई साम्यवाद प्रणाली विकसित हुयी।

उपाध्याय जी के द्वारा इसके विपरीत अधिक से अधिक उत्पादन समान वितरण और संयमित उपभोग की प्रवत्ति पर जोर दिया गया और कहा कि अर्थ के क्षेत्र में नये जनतन्त्र की आवश्यकता है।

आर्थिक लोकतन्त्र की अवधारणा के सम्बन्ध में दीनदयाल जी ने महसूस किया कि भारतीय चेतना प्रकृति से प्रजातन्त्रीय है। राजनीति के क्षेत्र में हम इसके भाव का स्वबोध कर रहे है आर्थिक क्षेत्र में भी प्रजातन्त्र का उदय जरूरी है। जिस प्रकार राजनीतिक शक्ति का प्रजा में विकेन्द्रीकरण करके शासन की संस्था का निर्माण किया जाता है उसी प्रकार आर्थिक शक्ति का प्रजा भी प्रजा में विकेन्द्रीकरण करके अर्थव्यवस्था का निर्माण और संचालन होना चाहिये। राजनीति की भाँति ही आर्थिक लोकतंत्र में व्यक्ति को अपनी रचनात्मक क्षमता अभिव्यक्त करने का अवसर प्राप्त होता है।

पण्डित जी का कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति को काम अर्थव्यवस्था का आधारभूत लक्ष्य होना चाहिये। उनका सबसे पहले आग्रह था ''प्रत्येक व्यक्ति को काम'' स्वस्थ और सबल व्यक्ति के लिये ग्रहस्थाश्रम की आयु में जीवकोपार्जन की व्यवस्था होनी चाहिये। एक ओर दस वर्ष का बालक और 60 वर्ष का वृद्ध काम में जुटा हुआ है तो दूसरी ओर 25 वर्ष का नौजवान बेकार है इस व्यवस्था को दूर करना चाहिये। भगवान ने हाथ दिये है परन्तु वे स्वतः उत्पादक नही बन सकते, इसके लिये पूंजी का सहयोग चाहिये। उनकी सोच थी, ''क्षमता के अनुसार काम

और आवश्यकता के अनुरूप दाम'' अर्थात सृष्टि में हर मानव को उसकी शक्ति के मुताबिक काम दिया जाये। इस काम का उसके श्रम के अनुसार उसकी आवश्यकता भर दाम मिलना चाहिये। यह दाम उपभोग की सही अवधारणा के अनुकूल ही होना चाहिये क्योंकि उपभोग की सीमा अन्तहीन है।

उन्होंने प्रत्येक मनुष्य को काम मिलने की अवधारणा में आर्थिक लोकतन्त्र की प्राथमिक इकाई को समृद्ध सबल और सशक्त बनाने पर बल दिया । उन्होंने ग्राम, कृषक, लुहार, बढई, जुलाहा, नाई, धोबी और चर्मकार आदि प्राथमिक इकाईयो के अतिरिक्त गांव में लगाये जाने वाले योग्य कुटीर उद्योंगो की समृद्धि पर बल दिया। छोटे–छोटे उद्योंगो को बढ़ावा देने का तात्पर्य यह बिलकुल नही था कि बड़े उद्योंगों को खत्म किया जाये। पं0 जी को बड़े उद्योंगो से कोई नफरत नहीं थी। पं0 जी का मानना था कि कुछ क्षेत्रों में इनकी महत्ता है, परन्तु जीवन के हर क्षेत्र को बड़े उद्योगो से पाट देना बेकारी और बेरोजगारी को बढ़ावा देने के सिवा कुछ नही है। और इस मामले मे वे बड़े उद्योगों के विरोधी थे। उनका विचार था कि जिस प्रकार राजनीति में तानाशाही, व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को पूरी तरह नष्ट कर देती है उसी प्रकार अर्थनीति में किया गया भारी पैमाने में औद्योगीकरण व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को नष्ट कर देता है। ऐसे उद्योगों में व्यक्ति स्वयं एक पूंजी बनकर रह जाता है।

पं0 जी विकेन्द्रकरण के आधार पर उद्योग लगाने के पक्ष में थें। उनका कहना था कि आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति की क्षमता के पूर्ण प्राकट्य का मौका मिलना चाहिये। विकेन्द्रीकरण की प्रकिया में मशीनों के परित्याग की बात नही, परन्तु उनकी कार्य क्षमता, उनके आकार प्रकार इतने वृहत न हो कि मनुष्य के हाथ खाली रह जायें। छोटी मशीनों का उपयोग और बड़ी मशीनों का परित्याग विकेन्द्रीकरण की मूल भावना में निहित है। उपाध्याय जी बड़ी मशीनों को राजकीय क्षेत्र में लगाने के पक्षधर थे परन्तु व्यक्तिगत क्षेत्र में नहीं। इसीलिये अर्थ के केन्द्रीकरण का विरोध करते हुये कहते थे कि जब लोगो को बड़े पैमाने पर उत्पादन करने का अवसर नहीं मिलेगा तो पूंजी एकत्र नहीं होगी। और असमानता नहीं आयेगी ।

उपाध्याय जी का मानना था कि औद्योगिक विकेन्द्रीकरण की तरह कृषि क्षेत्र में भी विकेन्द्रीकरण होना चाहिये। समूल उपजाऊ भूमि को सभी में बांटना होगा । इसके लिये उन्होंने जमीदारों का समर्थन नहीं किया। बल्कि जमीन की हद बन्दी की घोषणा की। उनका कहना था कि आर्थिक जमीन का सबमें बटवारा हो जाना बहुत जरूरी है। इसके बाद उन्होंने आर्थिक असन्तुलन खत्म करने की बात कही। उनका विचार था कि आर्थिक ढांचे में ज्यादा से ज्यादा 1:20 का अनुपात होना चाहिये और इस अन्तर को धीर–धीरे कम करने की दिशा में पहल करनी चाहिये। इसके लिये सम्पत्ति के अर्जन पर सीमा लगाने की जरूरत नहीं है। उपभोग पर नियंत्रण से काम चल जायेगा। देश में धन की वृद्धि हो पर उसे कुछ ही लोग न हजम कर जाये।

उपाध्याय जी अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में समन्वयवादी थे। उनका कहना था कि न तो हमें समाजवाद चाहिये और न ही पूंजीवाद वरन् मनुष्य की प्रगति और प्रसन्नता हमारा ध्येय है। इसके लिये उन्होंने काम के निर्धारण पर बल दिया। खेत के मालिकों और कारखानों के मालिकों के साथ मजदूरों का सम्बन्ध होना चाहिये। धन में सबका बराबर भाग होना चाहिये क्योंकि धन की पूंजी श्रम की पूंजी है अतः अन्य दोनो को उचित मात्रा में होना चाहिये।

पण्डित जी ने जिस आर्थिक सूत्र का प्रतिपादन किया उसमें उपयुक्त बातें ही समन्वित है। प्रत्येक को काम का अधिकार समवितरण कलकारखाने और कृषि आय में भाग निर्धारण सब को एक सूत्र में पिरोया। उनका आर्थिक सूत्र –

$$ज \times क \times य = ई$$

यहाँ 'ई' समाज की प्रभावी इच्छा का द्योतक है जिसकी पूर्ति की उसमें शक्ति है। ज समाज मे काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या का द्योतक है। 'क' काम करने की अवस्था और व्यवस्था का द्योतक है तथा 'य' यन्त्र का द्योतक।

इस सूत्र के अनुसार अगर हम चाहते है कि 'ज' निश्चित रहे जो प्रत्येक को काम के सिद्धान्त के अनुसार आवश्यक है तो 'इ' के अनुपात में 'क' और 'य' को बदलना होगा। आर्थिक क्षेत्र की तीन मूलभूत वस्तुओं–मनुष्य, श्रम और मशीन

तीनों का समन्वय है। अर्थव्यवस्था का उद्देश्य है जिस अर्थव्यवस्था में यह समन्वय नहीं होगा वहां विषमता जन्म लेगी ।

(छ) पण्डित जी का व्यक्तित्व -:

पण्डित दीनदयाल जी के व्यक्तित्व में 'सादा जीवन उच्च विचार' की लोकोक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती थी । उनकी वेशभूषा में साधारण सा कुर्ता, धोती, पैरों में चप्पल, कंधे पर गमछा और लटकता हुआ थैला और थैले में दो-चार पुस्तकें बस यही उनके शरीर पर रहता था।भारतीय जनसंघ के महामन्त्री/अध्यक्ष, एक महान चिन्तक, सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी पण्डित दीनदयाल जी की एक साधारण वेशभूषा थी । उन्हें देखकर यह आभास नहीं होता था कि एक साधारण सी ग्रामीण वेशभूषा में एक महान दार्शनिक, विचारक, एक राष्ट्रीय संस्था के सर्वमान्य नेता से मिल रहे हैं ।

राष्ट्र के लिये समर्पित एक निष्काम कर्मयोगी के रूप में उपाध्याय जी का जीवन उच्च आदर्श और सादगी भरा अभूतपूर्व उदाहरण था । शालीनता के साथ विनम्रता स्वयं विदेह पर भारतीय नागरिकों से सीधा तादातम्य यही उनकी विशेषता थी ।

माननीय अटल बिहारी बाजपेयी के शब्दों में -"पण्डितजी एक छोटे से गांव से उठकर पूरे देश में छा गये थे परन्तु उन्होंने गांव से अपना नाता नहीं तोड़ा क्योंकि वे मानते थे कि भारत गांवों में बसता है । 'हर हाथ को काम और हर खेता को पानी' उन्हीं का निर्देश था । पण्डित दीनदयाल जी एक व्यक्तिमात्र नहीं थे । उनके जीवन में व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अद्भुत समन्वय था । दर्शन एवं वर्तन, विचार एवं आचार, वृत्ति एवं कृति में यदि कहीं अभेद और संगीत का साक्षत्कार करना हो तो पण्डितजी के जीवन चरित्र से अधिक उत्तम उदाहरण नहीं मिलेगा। जब आज के युग में राजनीतिज्ञों के आचरण एवं आदर्शों में भारी विभिन्नता दिखाई देती है तब उन जैसे कर्मयोगी के स्मरण से प्रेरणा प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है । इसका कारण यह है कि पण्डित जी सही अर्थों में बीतरागी थे और इसलिये लोग उनके चेहरे तक से परिचित नहीं थे । उनको

अपने नाम एवं प्रसिद्धि से कोई मोह नहीं था जबकि आज देश में यह हालत है कि राजनेता यह रोज जानने की कोशिश करता है कि उसकी कितनी शोहरत हुई है । अखबारों में कितनी बार उसका नाम छपा है । भारतीय जीवन का जैसा साक्षात्कार उन्होंने दिया था, वह उन्हें महानतम विचारकों की श्रेणी में स्थापित कर देता है । राजनीति और अध्यात्म का अपूर्व समन्वय उन्होंने प्रस्तुत किया था । उनकी पारदर्शी दृष्टि, निर्मल बुद्धि और प्रखर राष्ट्रभक्ति की पावन त्रिवेणी का प्रवाह उनकी गहराई को छू लेता था । इसलिये जो व्यक्ति एक बार उनके सम्पर्क में आ जाता था वो हमेशा के लिये उनका हो जाता था ।

पण्डित दीनदयाल जी का सम्पूर्ण जीवन संघर्ष करते हुए विषम परिस्थितियों में व्यतीत हुआ माता–पिता का साया बचपन से ही सर से उठ गया । यह अकिंचन, विनत, बेसहारा बालक अपनी प्रतिभा, कुशाग्र बुद्धि और स्वावलम्बन के बल पर एम.ए. तक कक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता रहा । सभी प्रकार के आडम्बरों से दूर न्यूनतम आवश्यकताओं तक सीमित नितान्त सादगी भरा सतत् कर्मरत उनका जीवन किसी महान तपस्वी, सन्यासी से कम नहीं था। अपनी पुस्तक शंकराचार्य में एक स्थान पर उन्होंने सन्यास को परिभाषित करते हुए लिखा है 'सन्यास व्यक्ति के लिये संसार का त्याग नहीं अपितु संसार के लिये व्यक्ति का ही अनुराग है । सन्यास की यह परिभाषा उनके स्वयं जीवन पर अक्षरशः चरितार्थ होती थी। आत्म श्राद्ध सम्पन्न कर सन्यास को स्वीकार किये हुए एक पूर्ण विरक्त जैसा जीवन था उनका । आपने सारे आचारों–विचारों में शुचिता और पवित्रता के जाज्वल्यमान मूर्ति की तरह थे पण्डित दीनदयाल जी ! तब क्या वे जंगल में बैठे हुए तपस्वी थे ? नहीं उनका भी एक वृहद परिवार था। उनके मन में उसकी अपार चिन्ता थी। अपने सर्वाधिक प्रिय समाज को सुख सम्मान दिलाने हेतु उन्होंने अपने खून के एक–एक कण को भी सुखाया और फिर उसी जीवन यज्ञ में अपने खून की अन्तिम बूंद की भी आहुति दे दी ।

शारीरिक दृष्टि से उनका व्यक्तित्व अत्यन्त सामान्य था । बाह्य दृष्टि से अपने को साज संवार कर आकर्षक बनाने का उन्होंने रत्ती भर प्रयास नहीं किया। उन्होंने सामान्य जन मानस में अपने प्रति कल्पनातीत श्रद्धा उत्पन्न कर दी

थी । वे न देश के प्रधानमन्त्री थे न राष्ट्रपति । सभी प्रकार की पद प्रतिष्ठा से अलिप्त प्रचार प्रसिद्धि से सर्वथा दूर और राजनैतिक चमत्कार नारेबाजी में उनकी कोई रूचि नहीं थी लेकिन दिल्ली में उनके पार्थिव शरीर को आपके अन्तिम प्रणाम करने पांच लाख से भी अधिक जनता उमड़ पड़ी थी ।

पण्डित जी अगणित गुणों के धनी थे जिनके एक इशारे पर हजारों सहयोगी अपने प्राण तक न्योछावर करने को तैयार हो जाते थे। ऐसा दैदीप्यमान व प्रेरणादायक व्यक्तित्व था पण्डित दीनदयाल जी का । वे सूर्य जैसे थे जिसका स्वभाव ही प्रकाश देना है वे फूल जैसे थे जिसका स्वभाव ही सुगन्ध बिखेरना है, वे कीचड़ में खिले हुए कमल की तरह थे । उनका व्यक्तित्व राजनीतिक दायरे में सीमित होने वाला नहीं था। जब परमपूज्य गुरू जी ने उनको संघ के दायित्व से मुक्त करके राजनीतिक क्षेत्र में काम करने का आदेश दिया तो वे विह्वल होकर बोल उठे थे – "मुझे क्यों कीचड़ में डालना चाहते हैं ? मुझे तो संघ की हाफ पैन्ट पहिनकर स्वयंसेवकों के साथ चलने फिरने में ही जीवन का परम आनन्द है।" श्री गुरूजी ने भी उत्तर दिया था–"बस इसी कारण तुमको उस क्षेत्र में भेजा जा रहा है जो कीचड़ में रहकर श्री कमल पत्र जैसा अलिप्त रहता है वही उस क्षेत्र में काम करने योग्य है ।"

पण्डित जी की रहनी और सादगी के विषय में कुछ संस्मरण भी हैं एक बार पण्डित जी जहां ठहरे थे वहां अपनी बनियान और कपड़े रख कर कुछ देर के लिये बाहर चले गये । जैसे वे लौट कर आये पूछने लगे "मेरी बनियान और कपड़े कहां हैं ? एक कार्यकर्ता ने उनकी फटी हुई बनियान की जगह नई बनियान लाकर रख दी थी और कपड़े धोकर टांग दिये थे । इस पर पण्डितजी ने कहा .... अभी तो वह एक दो माह और चलती साथ ही कपड़ों को फिर धोना शुरू कर दिया । वे कहने लगे, "मैं कपड़े अपने आप धोता हूँ दूसरे के धोने से मेरी आदत में बदलाव आ सकता है ।"

माननीय अटल जी भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष चुने गये थे, तमाम कार्यकर्ता स्टेशन पर मालायें लिये हुए पण्डित जी और अटल जी के लिये प्रतीक्षारत थे इसी बीच ट्रेन आयी वहीं दुबला–पतला व्यक्तित्व लिये पण्डित जी

जैसे ही प्लेटफ़ार्म पर उतरे कार्यकर्ता माला पहनाने के लिये आगे बढ़े । पण्डित जी ने एक भी माला नहीं पहनी और विनम्रता पूर्वक बोले, "अरे अटल जी को पहनाओ जाओ, वे आगे वाले डिब्बे में हैं।" अतः संघ प्रचारक की अहंकार शून्यता प्रचार परागमुखता व सादगी का जो व्रत उन्होंने लिया उसका उन्होंने जीवन पर्यन्त निर्वाह किया ।

श्री जगजीवन राम जी के ये उद्‌गार पण्डित दीनदयाल जी के व्यक्तित्व का निचोड़ है—"दीनदयाल जी केवल भौतिक चिन्तक ही नहीं थे वरन् मानव के इतिहास का सन्देश देकर तो वे युग पुरूष हो गये । मानव जीवन के सभी पहलुओं और विषयों का गहरा अनुशीलन किया और जो विचार दिये वे मानव जीवन की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ थे । उन्होंने प्राचीन और नवीन विज्ञान और दर्शन तथा अध्यात्म और भौतिकता के बीच अत्यन्त मौलिक ढंग से समन्वय स्थापित कर यह प्रतिपादित किया कि जीवन को वास्तविक सुखी बनाने के लिये केवल रोटी की नहीं उसके साथ अध्यात्म की भी जरूरत है। अपनी अल्पायु में भी हिन्दु संस्कृति की विशेषता के अनुरूप शास्वत आधुनिकता का मन्त्र देकर हमें और समूचे मानव समाज को चिरन्तन सुख का मार्ग दिखाया ।"

(ज) अन्तिम यात्रा-:

11 फरवरी 1968 को भारतीय जनसंघ के संसदीय दल की बैठक नई दिल्ली में होना निश्चित हुयी । क्योंकि फरवरी में संसद का बजट सत्र होता है । उस निमित्त तैयारी करनी पड़ती है इसी तिथि को बिहार प्रदेश भारतीय जनसंघ की कार्यकारिणी की बैठक पटना में होने वाली थी । 10 फरवरी को प्रातःकाल बिहार प्रदेश जनसंघ के संगठन मंत्री श्री अश्वनी कुमार ने फोन पर पण्डित जी की स्वीकृति प्राप्त कर ली । लखनऊ से सांयकाल 6 बजे वलने वाली पठानकोट स्यालदा एक्सप्रेस से पण्डित जी पटना के लिये रवाना हुये । श्री रामप्रकाश गुप्त (तत्कालीन उप मुख्यमंत्री उ0प्र0) तथा पीताम्बरा दास जी अनेको कार्यकर्ताओं के साथ पण्डित जी को स्टेशन तक विदा करने गये । पण्डित जी सदैव अपने साथ

बहुत थोड़ा सामान रखते थे उस समय भी उनके पास एक सूटकेश बिस्तरा और पुस्तकों का झोला तथा एक टिफिन था ।

"स्यालदाह पठानकोट एक्सप्रेस सीधी पटना नहीं जाती हैं । अतः मुगलसराय स्टेशन पर जब यह गाड़ी 2:15बजे प्लेटफार्म नं0 1 पर पहुँची तो यह बोगी इस गाड़ी से काटकर दिल्ली हावड़ा में जोड़ दी गयी जो लगभग 2:50 पर मुगलसराय से रवाना हुयी । गाड़ी छूटने के लगभग 45 मिनट बाद मुगलसराय स्टेशन के लीवर मैन" ने टेलीफोन पर सहायक स्टेशन मास्टर की सूचना दी कि स्टेशन से लगभग 150 गज पहले बिजली के खम्बा नं0 1276 के नजदीक एक लाश कंकड़ों पर पड़ी हुयी है । पुलिस के सिपाही निगरानी के लिये ड्यूटी पर लगा दिये गये । सहायक स्टेशन मास्टर ने जो मैमों पुलिस को भेजा, आलमोस्ट डैड ।[1]"

प्रातः काल होने तक रेलवे का डाक्टर घटनास्थल पर पहुंचकर जाँच पड़ताल करने के बाद पूर्णतया मृत घोषित कर दिया गया । शव को कोई पहचान न सका और उसे लावारिस घोषित कर दिया गया । लगभग 6 घंटे बाद शव को मुगलसरांय प्लेटफार्म पर लाकर रखा गया । उत्सुकता वश अनेकानेक लोग शव को देखने लगे । जनसंघ के एक कार्यकर्ता ने शव को पहचान लिया । "और बोला अरे यह तो जन संघ के अध्यक्ष पं. दीनदयाल जी उपाध्याय है ।" पलभर में यह दुखद समाचार सारी जनता में फैलगया । पूज्यनीय गुरूजी को फोन पर सूचित किया गया । संसदीय दल की बैठक समाप्त कर दी गयी । देश के कोने–कोने से जनंसघ के कार्यकर्ता /अधिकारी, दीनदयाल जी के मित्र–आत्मीय उनके अन्तिम दर्शन के लिये दिल्ली पहुँचने लगे क्योंकि उनका शव भारतीय वायुसेना के विमान से दाहसंस्सकार हेतु दिल्ली 30, राजेन्द्र प्रसाद मार्ग लाया गया था । लगभग पांच लाख लोगों ने उनकी शवयात्रा में भाग लिया । पुष्पवर्षा माल्यार्पण भावभीनी अश्रुपूरित श्रदांजलि और रूदन सिसकियों का प्रवाह बना रहा

---

[1] पं. दीनदयाल उपाध्याय – व्यक्ति दर्शन, अध्याय– 2, अन्तिम दर्शन–सम्पादक, कमल किशोर – गोयनका

तथा अभागिन दिल्ली किंकर्तव्यबिमूढ़ सी अपनी छाती पर वज्राधात सहती रही । शवयात्रा छः बजे निगम बोध घाट पहुंची । शव को चिता पर रखा गया इसके पश्चात् 6.45 बजे अन्तिम श्रद्धांजलि अर्पित की गई। अनेकानेक वरिष्ठ अधिकारियों एवं नेताओं ने इसमें भाग लिया । 7.06 बजे मंत्रोच्चार के बीच अग्नि प्रज्जवलित कर दी गयी । शोक विह्वल जनता अपने आपकों भी सम्भालने में असमर्थ्य थी । जन समूह भी सिसकियों से ऐसा लग रहा था मानों हर एक ने अपना निजीलाल खो दिया हो । अनेकानेक नेता सामाजिक कार्यकर्ता संगठन एवं पत्रकारों ने श्रद्धांजलि अर्पित करते हुये अपनी–अपनी ह्रदय वेदना को व्यक्त किया ।

डा. जाकिर हुसैन राष्ट्रपति भारत गण्तन्त्र – "मुझे श्री दीनदयाल जी की मृत्यु की खबर सुनकर गहरा आघात लगा ।"

श्री वी.वी. गिरी उपराष्ट्रपति, भारत गणतन्त्र – श्री उपाध्याय भारत मां के महानपुत्र थे । उनके निधन से एक बहुत बड़ा राष्ट्रवादी कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति भारत ने खो दिया है ।

श्रीमती इन्दिरागांधी, प्रधानमंत्री भारतसरकार "श्री उपाध्याय देश के राजनीतिक जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे थे ।"

जनसंघ और कांग्रेस के बीच मतभेद चाहे जो भी हो, मगर श्री उपाध्याय सर्वाधिक सम्मान प्राप्त नेता थे उन्होनें अपना जीवन देश की एकता और संस्कृति को समर्पित कर दिया था ।

श्री नीलम संजीव रेड्डी – अध्यक्ष लोकसभा – "श्री उपाध्याय एक सवार्थ रहित और निष्ठावान कार्यकर्ता थे । उनको देश गरीब बना रहेगा ।" ?

चौधरी चरण सिंह, मुख्यमंत्री उत्तर प्रदेश–"श्री उपाध्याय देश के सार्वजनिक जीवन में अग्रणी व्यक्ति थे, उनके निधन से देश का जन – जीवन विपन्न हो गया है ।"

श्री चन्द्रशेखर जो बाद में देश के प्रधानमंत्री बने "दीनदयाल जी जीवन भर हमारे ऋषियों के आदेश पर चलते रहें, इसके लिये उन्होनें सामाजिक सेवा के क्षेत्र को चुना ।"

श्री गुरू जी मा.सा. गोलवरकर सरसंघ चालक राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ, – "पण्डित दीनदयाल जी एक विरोधी दल के प्रमुख व्यक्ति थे । उनका यह कर्तव्य था कि जो अनिष्ट दिखे और त्रुटि पूर्ण दिखाई दे उसके विषय में अपने मत वे असंदिग्ध शब्दों में प्रगट करें । परन्तु उनके ह्रदय में कोई कटुता नहीं थी । शब्दों में कोई भी कोई कटुता नहीं थी ।"

श्री रतनलाल जोशी तत्कालीन सम्पादक, दैनिक हिन्दुस्तान,–"राजनीति में अनेक नेता आयेगें पर यह अभागा राष्ट्र दीनदयाल के लिये तरसेगा ।"

श्री फज़लुल रहमान हाशमी, रंगमंच कलाकार "कला का एक हाथ टूट गया है राजनीति आहत है भक्ति मन्दिर की एक दीवार गिर गई है ।"

राष्ट्रकवि सोहन लाल द्विवेदी "फिर रक्त रंजिता हुयी दिशा दिन में ही छाई निविड़ निशा कैसा यह व्रजनिपात हुआ ?

यह चला छोड़कर कौन साथ,
हम लगते है जैसे अनाथ,
कैसा आकस्मिक घात हुआ"?[1]

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय की राजनीति विरासत के सबसे प्रमुख उत्तराधिकारी एवं तत्कालीन जनसंघ के अध्यक्ष माननीय अटल बिहारी बाजपेयी द्वारा श्रद्धाज्जंलि स्वरूप व्यक्त विचार आज भी सुसंगत है –

"हमारा मित्र पथ प्रदर्शक और नेता चला गया । ऐसा लगता है जैसे दीपक बुझ गया हो और चारों ओर अन्धेरा हो नेत्रदीप बुझ गया हो, अपने जीवन दीप जलाकर अन्धकार से लड़ना होगा । सूरज छिप गया, हमें तारों की छांव में अपना मार्ग ढूढंना होगा ।"

श्री वचनेश त्रिपाठी, पण्डित दीनदयाल जी के साथ रहकर पत्रकारिता का कार्य करने वाले राष्ट्रधर्म पांञजन्य के प्रमुख लेखक, "सिर बांध कफनियां शहीदों की टोली निकली । गीत हरदम गुनगुनाते वाले पण्डित जी 11 फरवरी सन् 1968 को खुद शहीद हो गये ।"

---

[1] उत्तर प्रदेश सन्देश, पं0 दीनदयाल उपाध्याय विशेषांक – सितम्बर 1991 अंक 9
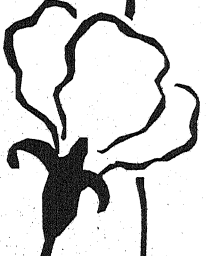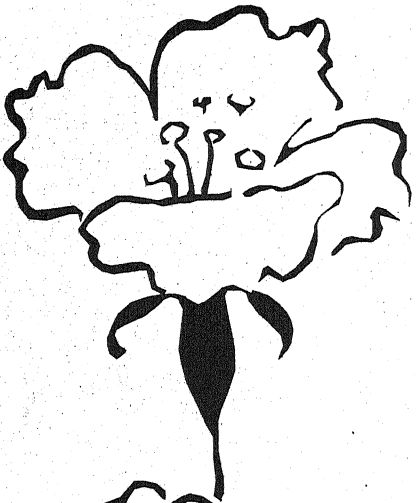
अध्याय
चतुर्थ

अध्याय चतुर्थ

''महात्मा गांधी के मौलिक दार्शनिक एवं शैक्षिक विचार''

शिक्षा का महत्व -:

(अ) शिक्षा का अर्थ-महात्मा गांधी के मौलिक दार्शनिक विचार एवं शैक्षिक विचार -:

महात्मा गांधी ऐसे व्यक्ति थे जिन्होनें स्वयं अपने अनुभवों, मन व हृदय की विशेषताओं एवं गुणों से तथा अपने कर्मो से अपना मार्ग प्रशस्त करते हुये एक इतिहास का निर्माण किया है । वे भारत के पुनर्निर्माता है । इन्होनें राष्ट्रीय नेता के रूप में अपने प्रभावी व्यक्तित्व से नये भारत का निर्माण किया है । नूतन भारत के निर्माण हेतु अपने प्रयोग जन्य अनुभवों से एक ऐसी शिक्षा पद्धति को प्रस्तुत किया है जो भारतीय परिवेश में सर्वथा उपयुक्त है । अपने नूतन विचारों से चाहे वह शिक्षा, दर्शन राजनीति धर्म या प्रजातन्त्र हो, प्रत्येक क्षेत्र में उन्होनें क्रांति मचा दी थी । इस प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय विचारक एवं चिन्तक के रूप में सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित कर वे महान ख्याति प्राप्त कर चुके थे ।

महात्मा गाँधी का प्रादुर्भाव ऐसी परिस्थिति में हुआ था जबकि नैतिक मूल्य दिन–प्रतिदिन घटते जा रहे थे । ऐसी स्थिति में उन्होनें नये मूल्यों को देश के समक्ष रखने का संकल्प किया । गाँधी जी ने यह अनुभव कर लिया था कि मनुष्य को इस विकट स्थिति से बाहर निकालने का कार्य केवल नये मूल्य ही कर सकेगें, इसलिये वे समाज में व्याप्त समस्त बुराईयों की सामूहिक शक्ति से अकेले ही लड़ते रहें । विरोध एवं कलंक की परवाह किये बिना सत्य, अंहिसा एवं प्रेम का दृढ़ता से आलम्बन लिये हुये भारतीय राष्ट्र को शांति एवं सुरक्षा प्रदान की थी ।

प्रायः यह देखा गया है कि महान पुरूषों एवं शांति दूतों को उनके जीवन काल में न तो समझा गया है और न ही आदृत किया गया है । किन्तु गाँधी जी के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचार निरर्थक है, क्योंकि उनके जीवन काल में उनकी प्रशंसा व उनके क्रांतिकारी विचारों की ध्वनि विश्व के प्रत्येक कोने में फैल चुकी थी, सांसारिक प्रलोभनो एवं उपहारों से विमुख होकर शाश्वत सत्य की ओर उन्मुख

होने के कारण ही वे विश्व के महान पुरूष बन सके । वे जीवन भर सत्य, अंहिसा, प्रेम न्याय, समानता एवं सुधार के कार्यो में संलग्न रहे । अपनी शिक्षाओं के कारण ही वह असंख्य पीढ़ियों तक स्मरण किये जाते रहेगें । उन्होनें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जैसे दर्शन से लेकर जन्म नियंत्रण तक के विषयों के संबध में अपने श्रेष्ठ विचारों की अभिव्यक्ति की है और उसे अपनी लेखनी द्वारा लिपिबद्ध भी किया है।

गाँधी जी की महानता, उनकी लोकप्रियता, उनके जीवन की सफलता का रहस्य उनकी सत्यता और न्याय निष्ठा में, उनकी सतत् जागरूकता में उनके विश्व प्रेम की भावनाओ में और उनकी निर्भयता में निहित थी । वे एक क्रांतिकारी सुधारक एवं उच्च कोटि के शिक्षाशास्त्री थे । गाँधी जी के विचारों से युक्त लेख भारतीय भाषाओं में ही नहीं बल्कि विश्व की अन्यान्य भाषाओं में छपते थे । इस संबध ब्रजकृष्ण चांदीवाल ने लिखा है – "भारत के समस्त मुख्य दैनिक उनके लेखों को अपने अंको में छापते थे । ...... उनके लेख भारत में ही नहीं बल्कि अन्य देशों में भी भिन्न–भिन्न भाषाओं मे छपते थे ।[1]"

गाँधी जी के महान कृत्यों को देखकर भारतीय ही नहीं वरन् विदेशी विचारक भी चिन्तन करने के लिये–बाध्य हो जाते थे । रोमिला रोम्या ने लिखा है कि –

"गाँधी जी वह मनीषी थे जिन्होनें 30 करोड़ भारतीयों को क्रांति की प्रबल प्रेरणा दी, उन्होनें ब्रिटिश साम्राज्य की जड़े हिला दी तथा जिन्होनें अतीत की 2000 वर्षो की मानव राजनीति में सबसे अधिक शक्तिशाली अस्त्र धार्मिकता का पुटला दिया ।"

<u>महात्मा गांधी का दर्शन व दार्शनिक मत -:</u>

अब हमें महात्मा गाँधी के बिखरे लेखों एवं वक्तव्यों में अनेक दार्शनिक विचारों की खोज करनी है और यह देखना है कि क्या वे दार्शनिक शैली का निर्माण करते हैं ? शिक्षा व दर्शन के अभिप्राय एवं उनके पारस्परिक संबधों की

---

[1] बृज कृष्ण चांदीवाल–"बापू के चरणों में" पृष्ठ–152 सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण–1949

खोज किये बिना इस प्रश्न का उत्तर देना आसान न होगा । प्लेटो ने अपनी पुस्तक "रिपब्लिक" में दार्शनिक की परिभाषा इस प्रकार की है ।

"वह जो प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का प्रेमी है, जो सदैव जानने के लिये लालायित हैं, और कभी ज्ञान से संतुष्ट नही होता, वही वास्तव में दार्शनिक हैं।[1]"

प्लेटो ने उसी क्रम में पुनः स्पष्ट करते हुये कहा है –

"वह ज्ञान के एक भाग का नहीं बल्कि सम्पूर्ण ज्ञान का प्रेमी होता है ।[2]"

इस प्रकार हम देखते है कि दर्शन का विषय सत्य का अन्वेषण करना है । मानव एक विचारशील प्राणी है । हक्सले की मान्यता थी कि इस विश्व में मानव अपने जीवन दर्शन तथा संसार के प्रति अपने विचार के अनुसार जीवन यापन करता हैं, जीवनयापन के पीछे सत्य, आदर्श मूल्य व सिद्धान्त जो कुछ होते है । वही उस प्राणी का जीवनदर्शन कहलाता है । वैयक्तिक भिन्नता के कारण प्रत्येक प्राणी के जीवनदर्शन व दार्शनिक मत विभिन्न रूप में अभिव्यक्त हुये हैं । आल्डुअस हक्सले के अनुसार :–

"व्यक्ति अपने जीवन दर्शन और संसार के प्रति अपने विचार के अनुसार जीवन यापन करता है ।[3]"

गाँधी जी ने जीवन में सत्य को अंगीकार–किया और अंहिसात्मक पथका अनुसरण कर अंहिसा के दर्शन को विश्व के समक्ष रखा । चार्वाक के जीवन में आनन्द उठाने, उमर खय्याम ने मदिरा में मस्त रहने के जीवन दर्शन का प्रचार किया । हम देखते हैं कि उपयुर्क्त चार्वाक एवं उमर खय्याम के भोगवादी दर्शन एवं जीवन से ऊब कर कष्टमय जीवन पद्धति अपनाने के लिये योगदर्शन का जन्म हुआ। यहां तक कि उस परम सत्य रूपी ईश्वर के प्रति अनेक मत मतांतर प्रचलन में आये । ईश्वर के रूप को मान्यता देने के कारण एकत्ववाद दो रूप को मान्यता देने के कारण द्वैतवाद और बहुत्ववाद की कल्पना ने बहुत्ववाद को प्रचारित किया ।

---

[1] प्लेटो – "द रिपब्लिक आनप्लेटो," अनुवादक – बीजोबेट ऑक्सफोर्ड 1888, पृष्ठ – 288
[2] वही पृष्ठ – 252 – प्लेटो
[3] हक्सले आल्डुअस – "एण्डस एण्ड मीन्स" लन्दन, चैटो एण्ड विण्डस पृष्ठ – 252

दर्शन, विचारणा का प्रतिफल है इसलिये वस्तुओं की सम्यक विचारणीय कला को पैट्रिक ने दर्शन का नाम दिया था । विश्व को प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में मानव अतीत से आज तक विचार करता चला आ रहा है । इस प्रकार के विचार से उसे अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त होते है । यही अनुभव ही उसकी जीवन शैली का निर्माण करते है । प्रत्येक दार्शनिक सत्य का अन्वेषण करता है, उसे जानने की इच्छा रखता है । सत्य को व्यवहृयत बनाना चाहता है ।

जहाँ तक गाँधी जी का संबध है हम देखते है कि उनका सम्पूर्ण जीवन "सत्य की खोज" एक प्रयोगशाला है ।

शिक्षा और दर्शन -:

दार्शनिक विचारों के प्रयोगोपरान्त जो संशोधित व स्वाभाविक विकास होता है, वहीं शिक्षा के रूप में मान्य है । अतः दर्शन शैक्षिक प्रयत्न के रूप में प्रति फलित होता है । इसी कारण जॉन एडमस का विश्वास था कि–"शिक्षा दर्शन का गतिशील पहलू है ।[1]"

कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा दार्शनिक विश्वासों का क्रियात्मक पहलू तथा जीवन आदर्शो की प्राप्ति का व्यावहारिक साधन है । उपर्युक्त विवेचना से यह सिद्ध होता है कि शिक्षा मौलिक रूप दर्शन पर आधारित है । इसी कारण महान दार्शनिक, महान शिक्षाशास्त्री भी रहे है । प्रायः यह देखा गया है कि जो दार्शनिक स्वप्न दृष्टा एवं चिन्तनशील रहे है वे ही आगे चलकर उच्च कोटि के शिक्षाशास्त्री भी बने । पश्चिमी देशों में सुकरात से लेकर जान डीवी तथा पूर्व में शंकराचार्य से लेकर गाँधी जी तक के सभी दार्शनिकों की शिक्षाओं व जीवन से हमें यह प्रमाण मिलता है कि शिक्षा दर्शन पर आधारित है । यहां तक कि सुकरात जो एक सिद्धांन्तवादी दार्शनिक थे वे कालांतर में एक क्रियाशील शिक्षाशास्त्री बन गये और सभी काल का उन्हें महान शिक्षक–माना गया। जो सत्य गौतम बुद्ध, अद्वैतवादी शंकराचार्य व मुहम्मद साहब के लिये था। उसे ही ईसामसीह व महात्मा गाँधी ने धारण किया और उसी से अपने जीवन दर्शन का निर्माण किया । इन

---

[1] एण्डमस सर जान – "इवोल्यूशन आवॅ एजूकेशनल थ्योरी" लन्दन मैकमलिन चैप्टर – ।

महान दार्शनिकों एवं शिक्षको की शिक्षाओं से हम आज भी और भविष्य में भी लाभान्वित होते रहेगें ।

हम यह जानते है कि मनुष्य का मन समस्त अच्छाईयों व बुराईयों का जन्म स्थल है अतः उत्तम संसार के निर्माण के लिये शिक्षा रूपी शासन की खोज करना नितांत आवश्यक हो जाता है ।

आधुनिक युग में जार्ज बनार्ड शा, एच डब्लू, वेल्स, वर्टेण्ड, रसेल, आल्डुअसहक्सले, रवीन्द्रनाथ टैगोर, मदन मोहन मालवीय, जान डी वी व महात्मा गाँधी आदि सभी ने प्रथमतः जीवन के तरीको को जाना पहचाना अनुभव किया तथा जीवन की कसौटी पर प्रयोग किया । इसके पश्चात् ही अपने शिक्षा–दर्शन को जगत के समक्ष प्रस्तुत किया ।

दर्शन और राजनीति -:

अब हमारे लिये यह विचार कर लेना उचित होगा कि दर्शन व राजनीति में क्या सम्बन्ध हैं ? यदि शिक्षा कार्य में दर्शन है तो राजनीति कार्य में भी दर्शन ही है । राजनैतिक पद्धति दार्शनिक स्थिति की उपज है । राजनैतिक पद्धति अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने हेतु शिक्षा के सिद्धान्त व प्रयोग दोनों को अपनाती है । इस प्रकार मूर्त रूप में राजनीति दर्शन ही है । कोई भी शैक्षिक सिद्धान्त तब तक मूर्त रूप धारण नहीं कर सकता जब तक इसका प्रतिपादन योग्य दार्शनिक व एक शक्तिशाली पद्धति द्वारा न किया गया हो । अतः प्रत्येक दर्शन में राजनैतिक पद्धति व शिक्षा पद्धति का पाया जाना सामान्य तथ्य हैं ।

महात्मा गांधी का जन्म ही पीड़ित व्यक्तियों के उद्धार के लिये हुआ था । उनका जीवन दर्शन चिरस्थायी सत्य पर स्थापित है। उनका विचार है कि जब इस सत्य का साक्षात्कार मानव अपने जीवन में कर लेगा तो उसे सम्पूर्ण मानवीय आत्माओं से प्रेम हो जायेगा। इसलिये वे राजनीति एवं समाज दोनों को सत्य रूपी धर्म पर अवलम्बित करने का प्रयास करते रहे हैं । गांधीजी ने अपने दार्शनिक मत की अभिव्यक्ति इस प्रकार की है–"मुझे इस नश्वर पृथ्वी का स्वराज्य नहीं चाहिये, मैं स्वराज्य के लिये प्रयत्न कर रहा हूँ जिससे मुक्ति मिलती है। मेरी समझ में

मुक्ति अपने देश और मानव मात्र की सेवा करने से मिलती है, मैं अपने को प्राणी रूप में देखना चाहता हूँ । ...... इसलिये मेरी समझ में धर्म के बिना कोई राजनीति ठीक नहीं होती है । और धर्म के बिना राजनीति मृत्यु के जाल जैसी है, जो आत्मा को मार देती है ।"[1]

हम देखते हैं कि गांधीजी "स्वराज्य" का विस्तृत अर्थ धारण करते हैं । धर्म के विपरीत "स्वराज्य" की वे कल्पना भी नहीं करते हैं । राजनीति, मानव, समाज तथा जीवन का प्रत्येक क्षेत्र गाँधी जी के अनुसार धर्म समन्वित होना चाहिये, परन्तु उनका धर्म संकुचित धर्म नहीं है । वह तो सम्पूर्ण विश्व को अपने में समेटे हुए है । अतः स्वराज्य भी इसी में शामिल है ।

महात्मा गांधी अध्यात्मिक शक्ति की एकता में पूर्ण विश्वास रखते हैं, सत्य का आधार समस्याओं के हल तथा कर्म करने में होना चाहिये । जिस काम में किसी भी प्राणी के अनिष्ट का रन्च मात्र भी प्रवेश हुआ तो वह कर्म अहिंसक कर्म नहीं होगा। गांधीजी के इसी दर्शन पर उनकी शिक्षा बेसिक शिक्षा आधारित है, इनका यह शिक्षा दर्शन एक देशीय न होकर सर्वदेशीय है, इस सम्बन्ध में डा. एम.एस. पटेल ने लिखा है –

"यदि दर्शन जीवन की समस्याओं के लिये प्रासंगिक तथ्यों को यथाक्रम तथा तथ्यपूर्ण दृष्टिकोणों एवं व्याख्या एवं यथार्थवाद से सम्बंधित है तो निःसंदेह गाँधीजी विश्व के महान दार्शनिकों की श्रेणी में हैं ।"[2]

गांधी जी एक ऐसे दार्शनिक थे जो अपने दार्शनिक विचारों को व्यवहार की कसौटी पर कसने के लिये सदैव तत्पर रहते थे । उनके समस्त दार्शनिक विचार प्रायोगिक थे । उन्होंने भारतीय दर्शन को व्यवहारिक रूप प्रदान किया है ।

सत्य के प्रति महात्मा गांधी के विचार -:

महात्मा गांधी ने जीवन में नये मूल्यों की सृष्टि की थी । मानव समाज की सेवा करना उनका धर्म हो गया था। इसलिये वे भारत माता व सम्पूर्ण समाज का अपने को तुच्छ सेवक मानते थे। गांधी जी किसी नये धर्म की स्थापना व नये

---

[1] यंग इण्डिया – अक्टूबर 11, 1928
[2] पटेल एम.एस. – द एजूकेशनल फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी, अहमदाबाद

सत्य का प्रतिपादन करना नहीं चाहते थे। महात्मा गांधी सम्पूर्ण जीवन सत्यान्वेशी रहे। विश्व के महान दार्शनिकों में महात्मा गांधी जी वह महान दार्शनिक थे जिन्होंने लोगों का ध्यान परिवर्तित होने वाले मूल्यों तथ्यों एवं आदर्शों की ओर आकर्षित किया था, और समस्त मानव जाति को जीवन में सत्य की अनुभूति करने की प्रेरणा दी थी। वे पुराने सत्य पर नया प्रकाश डालना चाहते थे । इस प्रकार वे सत्य के शोधक व साधक थे । यही उनकी विशेषता है । जिन मूल्यों को इन्होंने अपने जीवन में अनुभव किया तथा प्रयोग किया एवं खोजा था उन्हें अपने पुस्तक "मेरे सत्य के प्रयोग" में अंकित किया है । गांधीजी स्वयं सत्य के प्रति अपने विचार प्रगट करते हुए लिखते हैं –

"मै तो पुजारी सत्य रूपी परमेश्वर का हूँ वही एक सत्य है और अन्य सब मिथ्या हैं । सत्य मुझे मिला नही हैं, पर मै इसका शोधक हूँ । सत्य के शोधक को रजकण से भी छोटा होकर रहना पड़ता हैं ।[1]"

ब्रजकृष्ण चांदीवाल ने गाँधी जी के संबध में इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है –

"गाँधी जी ने कभी यह दावा नही किया कि वे अवतारी पुरूष थे, उन्होनें कभी किसी नये पंथ को स्थापित करने की इच्छा नहीं की, वह किसी नये सत्य का प्रतिपादन करने नहीं आये थे । वे पुराने सत्य पर नया प्रकाश डालना चाहते थे । वे पुराने सिद्धान्तों को फिर से संसार के सामने रखना चाहते थे ।" गाँधी जी की दार्शनिक विचारधारा गीता दर्शन पर आधारित हैं, गाँधी जी अद्वैतवादी दार्शनिक है । भारतीय दर्शन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है । गाँधी जी शिक्षा व जीवन का अन्तिम व सर्वोच्च लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति आत्म–अनुभूति व सत्य का साक्षात्कार करना मानते है ।

वे ईश्वर व सत्य में भेद नही मानते, उनके लिये ईश्वर सत्य हैं, और सत्य ही ईश्वर है । किन्तु ईश्वर सत्य है कहने की अपेक्षा वे सत्य ही ईश्वर है कहना ज्यादा उचित मानते हैं, क्योंकि ऐसा कहने से वे नास्तिक जो ईश्वर को नहीं मानते वे सत्य की शक्ति को इन्कार नही कर सकते हैं । गाँधी जी समस्त मानव

---

[1] महात्मा गाँधी – आत्मकथा प्रस्तावना, पृष्ठ – 6,7

को सत्य की मात्र चिंगारी मानते है ईश्वर को प्रेम पूर्ण मानते है, उनके अनुसार मानव सेवा, समाज सेवा, देश सेवा, ईश्वरीय सेवा का एक भाग है । इन सेवाओं से ही व्यक्ति ईश्वर की अनुभूति कर सकता है । गाँधी जी का विचार है कि यदि कोई अहिंसक ढंग से सत्य को नही बोल सकता तो सत्य न बोलना ही ठीक है । गाँधी जी के अनुसार मानव को अपने व्यक्तिगत "स्व" को सम्पूर्ण मानव के "स्व" के साथ एकीकरण करके ही आत्मलाभ करना चाहिये । गाँधी जी ने लिखा है –

"सत्य शब्द 'सत्' से बना है । सत् का अर्थ है 'अस्ति' सत्य अर्थात अस्तित्व परमेश्वर का सच्चा नाम ही सत्य अर्थात सत्य है । इसलिये परमेश्वर सत्य है । सत्य के साथ ज्ञान, शुद्ध ज्ञान अवश्यंभावी है । जहां सत्य नहीं है, वहां शुद्ध ज्ञान की सम्भावना नही है । इससे ईश्वर के नाम के साथ चित् अर्थात ज्ञान शब्द की योजना हुयी है और जहां सत्य ज्ञान है वहां आनन्द ही होगा । इसलिये ईश्वर को "सच्चिदानंन्द" कहा जाता है ।"

उन्होंने आगे भी कहा है – "साधरणयता सत्य का अर्थ सच बोलना मात्र ही समझा जाता है, लेकिन हमने विशाल अर्थ में सत्यक प्रयोग किया है विचारों में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है ।"

गाँधी जी के उपर्युक्त कथन से यह प्रतीत होता है कि वे सत्य को दो रूपों में प्रस्तुत करना चाहते हैं, एक निरपेक्ष और दूसरा सापेक्षिक सत्य । सापेक्षिक सत्य प्रायोगीय, सार्वजनिक व वस्तुनिष्ठ सत्य है । यह प्रत्यक्ष ज्ञान को महत्व देता है । किसी अतीन्द्रिय ज्ञान से इसका कोई कोई प्रयोजन नहीं हैं । गाँधी सापेक्षिक ज्ञान के माध्यम से निरेपेक्ष ज्ञान की ओर ले जाना चाहते है ।

सत्य को बिना व्यवहार में लाये सत्य की अनुभूति नही हो सकती । गाँधी जी सापेक्ष सत्य को विशेष महत्व नही देते हैं । बल्कि उसे निरपेक्ष सत्य की अनुभूति का साधन मानते है । सापेक्षिक सत्य के संबध में राधाकृष्णन ने लिखा है–

"इससे हमें केवल सापेक्षिक या अर्थ सत्य का ही ज्ञान हो सकता है । स्यादवाद् हमें अर्ध सत्य के पास लाकर छोड़ देता है । और इन्हीं सत्यों को पूर्ण सत्य मान लेने की प्रेरणा देता है .... वह पूर्ण सत्य नही कहा जा सकता है ।"[1]

हमने पहले ही देखा है कि गाँधी जी का दर्शन गीता के दर्शन पर आधारित है । बिना सम्यक कर्म के कोई भी व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न नहीं हो सकता है । गीता के इस सन्देश को –

"कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन :।"[2]
तथा
"योगस्थ : कुरू कर्माणि सगं त्यक्त्वा धनन्जय :।"[3]

को गाँधी जी ने जीवन में आत्मसात् कर लिया था । गाँधी दर्शन में गीता की भांति विश्वास कर्म व ज्ञान की त्रिवेणी पायी जाती है । इसलिये गाँधी जी यह कहते हैं कि –

"गीता शास्त्रों का दोहन है .... सारे उपनिषद का निचोड़ है .....। आज मेरे लिये गीता केवल बाइबिल नहीं है, केवल कुरान नही है, मेरे लिये माता हो गई है । गीता निराश होने वाले को पुरूषार्थ सिखाती हैं, आलस्य व व्याभिचार का त्याग बताती है ।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गाँधी जी पूर्ण सत्य के पक्षधर हैं, इनके अनुसार सत्य का ही वास्तविक अस्तित्व है । ईश्वर इन्द्रिय व बुद्धि से परे है। इसलिये गाँधी जी चाहते है कि मानव का अनुभव बुद्धि से परे भी होना चाहिये, किन्तु इसके लिये जरूरी है कि मानव में जीवन्त विश्वास हो। महात्मा गाँधी कहते है कि –

"विश्वास छठीं इन्द्रिय की भांति है वह उन तत्वों को सुलझाने में भी काम करता है जो तर्क की सीमा से परे है ।"

---

[1] डा0 राधाकृष्णन – भारतीय दर्शन, भाग प्रथम पृष्ठ – 305–306
[2] गीता – 2/47
[3] गीता – 2/48

गाँधी जी का विश्वास है कि इस संसार में रहकर पाशविक वासनाओं पर संयम प्राप्त कर इन्द्रियजीत होकर पूर्ण सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है । गाँधी जी के इस कथन का यह अभिप्राय नही हैं कि शरीर श्रम या क्रियाशीलता की उपेक्षा की जावे । वे तो "कर्म" को जीवन में ईश्वरानुभूति का माध्यम मानते है । वे सामाजिक जीवन में सेवा के जीवन को ही ईश्वर के जानने व अनुभव करने का सच्चा मार्ग व साधन मानते है । इसीलिये जीवन में शरीर श्रम को महत्व देते है । उनकी मान्यता थी कि ईश्वर को उसकी सृष्टि में उसके कार्यो में ही खोजा जा सकता हैं, या पाया जा सकता है । "सत्य" को "कर्म" से ही प्राप्त किया जा सकता है । उनका विचार है कि ईश्वर को सदैव सक्रिय क्रियाशील समझते हुये दृढ़तापूर्वक जीवन में क्रियाशील रहकर ही तथा उसकी सृष्टि की सेवा करके ही उसे अनुभव किया जा सकता है ।

गाँधी जी की दृष्टि में ईश्वर "सत्य", "शिव" व "सुन्दरम्" है । क्योंकि ये मूल्य शाश्वत तथा वस्तुनिष्ठ मूल्य है । इनका निर्माण मानव मन से नही होता है। गाँधी जी शाश्वत मूल्य का अस्तित्व न तो मानव मन का प्रेक्षपण मानते है और न तो सामाजिक प्रक्रिया की उपज । गाँधी जी सत्य की अनुभूति संसार में रहकर करना व कराना चाहते है । यह अनुभव जीवन की निरन्तरता में निहित है । जब तक जीव को पूर्ण सत्य का अनुभव नहीं होता है तब तक मानव के जीवन की निरन्तरता चलती रहती हैं ।

गाँधी जी ने "पंचकोषों" को जीवन में विजित व अनुभव कर लिया था और अपने जीवन रूपी प्रयोगशाला की प्रयोगिक कसौटी पर परख लिया था । यही सर्वश्रेष्ठ अद्वैतवादी अनुभूति की उनकी व्यावहारिकता एवं मौलकिता थी । मन की एकाग्रता व बुद्धि की सजगता का उन्हें स्वभाविक अभ्यास हो चुका था । इसलिये उनके कार्यों की कोई पूर्ण योजना नही बनती थी, बल्कि समयानुसार तुरन्त कार्य प्रारम्भ हो जाता था, किसी भी समस्या के प्रति समाधानात्मक निर्णय लेने में विलम्ब नही लगता था। उनकी यह प्रकृित मनोमय एवं विज्ञानमय कोषों की अनुभूति की परिचायिका है ।

Source ??

गाँधी जी मानवमात्र में एक ही आत्मात्व की अनुभूति करते थे । दिल्ली उपवास काल में उन्होनें स्वयं कहा था – "प्राणी मात्र में एक ही आत्मा है अतः ममें निर्दय व्यक्ति की आत्मा से भी अपने को अलग नही रख सकता हूँ, मैं अपने ही ढ़ंग से उसी में तल्लीन हूँ ।"

गाँधी जी एकेश्वरवादी थे, उन्होनें लिखा है – "मैं ईश्वर की पूर्ण एकता में और इसीलिये सारी मानवता की एकता में भी विश्वास करता हूँ । शरीर की भिन्नता होते हुये भी मुझमें आत्मा एक है ।"

गाँधी जी सम्पूर्ण मानव को आत्मधारी होने के कारण समान मानते थे । यही गाँधी के गीता दर्शन की नूतन व्याख्या है । इसी पर गाँधीदर्शन व गाँधीवाद या सर्वोदय दर्शन आधारित हैं ।

गाँधी का सर्वोदय दर्शन, दर्शन का वह विचार समप्रत्य है जो ईश्वर को सृष्टिकर्ता तथा उसे जगत में व्याप्त मानकर आत्मा को ईश्वर का अंश स्वीकार करते हुये जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या ईश्वर प्राप्ति था या आत्मानुभूति करना स्वीकार करता हैं, गाँधी जी चाहते थे कि मानव अपने व्यक्तिगत अहम् को सारे जगत के साथ एकाकार करके आत्मलाभ प्राप्त करें । ज्ञान, इच्छा व कर्म की जीवन त्रिवेणी है । सत्य बोलना ही सत्य नहीं है अपितु विचार भाव, भाषण व कर्म में सत्यता का पाया जाना आवश्यक है । उनका कथन है –

"केवल ईश्वर ही सत्य है, संसार माया है, सृष्टि के परिवर्तन में केवल वही स्थिर है ।" अपनी ईश्वर के प्रति आस्था को प्रगट करते हुए उन्होंने लिखा है – "यदि कोई मेरी आंखें निकाल ले, नाक काट ले, मैं नहीं मर सकता हूँ किन्तु यदि कोई मुझसे ईश्वर के प्रति विश्वास हटा दे, तो मैं शीघ्र ही मर जाऊंगा ।" गांधीजी के मतानुसार ईश्वर में विश्वास करने वाला सभी धर्मों में समान रूप से विश्वास रखता है ।

सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने लिखा है–"गाधी जी एक नितांत धार्मिक पुरूष हैं उन्हें मानवता की एकता में अटूट विश्वास है। हम लोग चाहे जिस जाति, यौन,

धर्म या देश के हों, हम सभी उसी परमपिता परमेश्वर की संतान हैं, प्रत्येक धार्मिक पुरूष सारी मानवता के साथ अपने सम्बन्ध में विश्वास रखता है ।"[1]

अहिंसा -:

गांधी जी की अहिंसा की विचारधारा जैन दर्शन के अहिंसक विचार से पर्याप्त समता रखती है । किन्तु गांधी जी की अहिंसा की विचारधारा जैन धर्म की अहिंसा की विचारधारा से व्यापक है । गांधी जी के अनुसार अहिंसा कोई स्थूल वस्तु नहीं है किसी को न मारना ही अहिंसा नहीं है, दुष्ट विचार, असत्य भाषण, बुरा चाहना और किसी वस्तु पर कब्जा करना भी हिंसा है।अहिंसा सत्यरूपी ईश्वर की प्राप्ति का साधन है।अहिंसा साधन और सत्य साध्य है, इसलिये सत्यरूपी, साध्यरूपी सत्य का साक्षात्कार अंहिसा रूपी साधन से ही होता है । गांधी जी के शब्दों में –

"यह अंहिसा स्थूल वस्तु नहीं है । ... कुविचार मात्र हिंसा है ... मिथ्या भाषण हिंसा है, किसी का बुरा चाहना हिंसा है । जगत के लिये जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है .... अहिंसा के बिना सत्य की खोज असंभव है । ..... अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिये ।"

गाँधी जी के अनुसार साधन का बराबर ध्यान रखने से साध्य की प्राप्ति हो जाती है । गांधी जी अहिंसा के दो पक्ष मानते हैं...... 1. निषेधात्मक–जैसे उपरोक्त अहिंसक विचार । 2. रचनात्मक – ईश्वर प्रेम, उसका साक्षात्कार एवं सत्य को जीवन के प्रत्येक क्रियाकलापों में भाषित करना ही रचनात्मक अहिंसा है । गांधी जी सम्पूर्ण जीवन को सत्य के लिये एक प्रयोग मानते थे, इस प्रयोग में अहिंसा ही साधन है ।

पिता की प्रक्रिया से अहिंसा की अनुभूति उन्हें बाल्यावस्था में ही हो गयी थी । इस सम्बन्ध में गांधी जी ने कहा है –

"मेरे लिये यह अहिंसा का प्रथम पाठ था । ..... आज मैं उसे शुद्ध अहिंसा का नाम दे सकता हूँ । ऐसी अहिंसा के व्यापक रूप धारण कर लेने पर उसे

---

[1] राधाकृष्णन – "अकेजनल स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स पृष्ठ – 247"

सम्पर्क से कौन अछूता रह सकता है ? ऐसी व्यापक अहिंसा की शक्ति का नाम तौल करना असंभव है ।"

गांधी जी ने अहिंसा का प्रयोग अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में किया था। यहाँ तक कि वर्ण व्यवस्था में भी उन्होंने अहिंसा का प्रयोग किया है । इस सम्बन्ध में विनोबा जी ने लिखा है –

"वर्ण व्यवस्था की पुरानी कल्पना में नया अर्थ भरकर या उस कल्पना में निहित मूलभूत विचार को ध्यान में रखकर गांधी जी ने उसे स्वीकार किया है, मैं समझता हूँ कि यह उनका एक अहिंसा का प्रयोग है ।"

अहिंसा के प्रति गांधी जी का विचार और दृढ़ हो गया जब उन्होंने "टॉलस्टाय" के ग्रंथों का विशेषकर इनकी 1893 की पुस्तक "द किंगडम ऑफ गॉड इज़ विदिन यू" का अध्ययन किया । गांधी जी ने स्वयं इसे स्वीकारते हुए कहा–

"उस समय तक मुझे हिंसा से परहेज नहीं था, इस पुस्तक के पढ़ने के बाद मेरा संदेह निवारण हुआ और मैं अहिंसा में दृढ़ विश्वास करने लगा।"

गाँधी जी टॉलस्टाय को अपना शिक्षक व गुरू मानते थे । दोनों एक दूसरे से पूर्णतया प्रभावित थे। दोनों स्वप्नदृष्टा थे। दोनों ने भविष्य के कुछ स्वप्न संजोये थे। सत्य हेतु अहिंसा को साधन मानकर महात्मा गांधी जी एक ऐसे निर्भय समाज का निर्माण कर रहे थे, जिसमें न धर्म–भेद हो न जाति–भेद और वर्ण–भेद, जिसमें न कोई ऊँच न नीच, न अमीर न गरीब, न शासक न शासित। गांधी जी के अनुसार जो व्यक्ति अहिंसक होता है, वह निर्भय और विनम्र भी होता है। शांति सैनिक का हथियार अहिंसात्मक सत्याग्रह है ।

निर्भीकता -:

हिंसा का मार्ग भय पर निर्भर है । अहिंसा का निर्भयता पर । अहिंसा में विश्वास करने वाला न किसी से भयभीत होता है न किसी के हृदय में भय पैदा करता है । वह मृत्यु को वरण करने का नियम भी सीखता है, न कि मरने का । सत्य अहिंसा के पुजारी के लिये निर्भयता आवश्यक है । गांधी जी मानते थे कि अहिंसा और सत्य की उपलब्धि निर्भयता से ही हो सकती है । निर्भीक होकर मृत्यु

व चोट का भय त्याग कर हरेक व्यक्ति के ह्रदय को प्रेम व दया से जीतना चाहिये। भय और कायरता गांधी जी के शब्दकोष में नहीं थी।अपने जीवन में गांधी जी ने सभी का वीरता पूर्वक सामना किया था।उनकी यह लड़ाई सत्य, अहिंसा व पशुबल से थी।गांधी जी की महानता उनकी निर्भयता में निहित थी।उनके अनुसार अहिंसा, सत्य व निर्भयता के गुण उसी व्यक्ति में होते हैं जिसमें चरित्र बल होता है।इसीलिये उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत पर विशेष जोर दिया था।

गांधी जी के अनुसार मानव का कर्त्तव्य है कि वह पाप से असहयोग करे अन्याय व अत्याचार का विरोध करे, परन्तु अत्याचार के प्रतिकार का भाव निर्मित करना स्वयं पर आक्रमण करने के समान है । पापी से घृणा न कर पाप से घृणा करना चाहिये। पापी व अत्याचारी एक मानव होने के कारण देवी शक्ति सम्पन्न हैं। उनका अपमान करना उनमें निहित देवी शक्ति का अपमान करना है। गांधी जी के अनुसार निर्भीकता का अर्थ समस्त बाह्य भयों जैसे–बीमारी, शारीरिक आघात, मृत्यु, पदच्युत आदि के भय से मुक्त होना है । समाज में रहकर मानव मात्र से प्रेम करना व सेवा करना ही गांधी जी ईश्वर सेवा मानते थे। इस आदर्श को जीवन पर्यन्त वे निभाते रहे ।

सर्वधर्म समन्वय - वादिता -:

गांधी जी की प्रवृत्ति बचपन से ही धर्म के प्रति थी। वे सनातनी थे, किन्तु वर्तमान सनातन धर्म की संकीर्णता का परित्याग कर उसकी विशालता को ही सच्चा सनातन धर्म मानते थे। उनके नूतन सनातन धर्म में प्रेम का स्थान प्रमुख था। अमित्रता को उन्होंने कभी भी प्रश्रय नहीं दिया। इस कारण यदि उन्हें मानवता का अवतार माना जाये तो कोई भी अतियुक्ति न होगी ।

तत्कालीन सनातन धर्म में व्याप्त अस्पृश्यता, लघुता व बड़प्पन की भावना को गांधी जी समाज के लिये विष तुल्य व काल रूप में मानते थे । उनका मत था कि यदि हिंदू धर्म अपना महत्व बनाये रखना चाहता है तो उसे सवर्ण–अवर्ण का अन्तर समाप्त करना होगा। वे सर्वधर्म समानता को मानने वाले थे । उनके मत से प्रत्येक धर्म एक ही सत्य की ओर ले जाने वाले भिन्न–भिन्न मार्गों का

प्रतिपादन करते हैं। तत्कालीन हिन्दु धर्म की कमियां उन्हें खटक रही थीं । इस सम्बंध में उन्होंने लिखा है –

"हिन्दु धर्म की...... अस्पृश्यता यदि हिन्दु धर्म का अंग हो तो वह सड़ा हुआ फालतू अंग जान पड़ता है। उनके सम्प्रदायों तथा अनेक जाति, उपजातियों के अस्तित्व का औचित्य मैं नहीं समझ सका.........वेद ईश्वर–प्रणीत है, तो बाइबिल और कुरान क्यों नहीं ?" उपर्युक्त कथन उनकी सर्वधर्म समानता की जिज्ञासा को प्रगट करता है। सर्वधर्म समानता की भावना को पुष्ट करने के लिये ही उन्होंने प्रायः सभी धर्मों के धर्म ग्रन्थों का मनन व चिन्तन किया था। "इन पुस्तकों ने मेरे हृदय पर गहरा प्रकाश डाला । विश्व प्रेम मनुष्य को कहां तक ले जा सकता है, इसे मैं अधिकाधिक समझने लगा हूँ ।

<u>सत्याग्रह-:</u>

पिछले पृष्ठों पर यह कहा गयाहै कि गांधी जी ने अपने बाल्यकाल में ही "सत्य" और अहिंसा की शिक्षा प्राप्त कर ली थी । यद्यपि इस शिक्षा का प्रारम्भिक रूप सैद्धान्तिक था । इन सिद्धान्तों को अपने भावी जीवन में व्यवहारिकता प्रदान करने के लिये उन्होंने इनका हर स्थिति एवं परिस्थितियों में चाहे वह सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक एवं राजनैतिक रही हों प्रयोग किया था ।

गांधी जी ने संसार को एक नया दर्शन प्रदान किया था।वह अहिंसात्मक प्रतिरोध तथा एक नूतन मंत्र "सत्याग्रह" था। "आत्म शुद्धि" ब्रह्मचर्य व्रत उनके जीवन में अप्रत्यक्ष रूप से "सत्याग्रह" की सृष्टि कर रहे थे। इस सम्बंध में उन्होंने लिखा है –

"............जो आत्म शुद्धि मैंने की वह मानव सत्याग्रह के लिये ही हुयी हो। आज में पाता हूँ कि ब्रह्मचर्य व्रत लेने तक की मेरे जीवन की मुख्य घटनावली मुझे अप्रत्यक्ष रूप से उसी के लिये तैयार कर रही थी ।"[1]

गांधी जी एक क्रियावादी क्रांतिकारी थे। परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ–साथ उनके क्रिया–कलाप बदल गये। गांधी जी सत्याग्रह को आत्मा की

---

[1] गांधी जी – "सत्याग्रह की उत्पत्ति" आत्मकथा पृष्ठ – 401, नई दिल्ली 1951

शक्ति मानते थे । आत्म संयम, प्रार्थना एवं आत्मबुद्धि से ही सत्याग्रह की शक्ति प्राप्त होती है । गांधी जी ने स्वयं प्रार्थना के विषय में लिखा है– "स्तुति, उपासना, प्रार्थना वहम नहीं है । .... प्रार्थना वाणी का विलास नहीं है । उसका मूल कंठ नहीं हृदय है। अतः यदि हमारा हृदय निर्मल हो जाये, हृदय तंत्र के तारों को हम सुसंगठित रखें तो उससे निकलने वाला सुर गगन गामी होता है ।"

गांधी जी वैज्ञानिक, औद्योगिक तथा सामाजिक उन्नति यहां तक की वास्तविक स्वराज को भी सच्चे रास्ते से ही प्राप्त करना चाहते थे। वे नीति मार्ग के अवलम्बनकर्ता तथा मानव सद्गुणों के विकास के पक्षधर थे। सद्गुण सत्याग्रह से ही प्राप्त हो सकते थे। इसीलिये गांधी जी ने इस सम्बंध में लिखा है –

"स्वर्ण बनाने वाला पारसमणि दो अक्षरों से अर्न्तनिहित है और वह है "सत्य" और "आग्रह"। यदि प्रत्येक भारतवासी सत्य का ही आग्रह करेगा तो भारत को घर बैठे स्वराज्य मिल जायेगा ।[1]

गांधी जी की विचारधारा व दार्शनिकता के बिन्दु सत्य, अहिंसा, निर्भयता व सत्याग्रह हैं । सत्य की प्राप्ति अहिंसा व प्रेम से ही सम्भव है। गांधी जी के अनुसार जो अहिंसक होता है वही सत्याग्रही है। सत्याग्रही निर्भीक व विनम्र होता है। इस प्रकार गांधी जी शांति, प्रेम, वर्गहीन समाज के पोषक थे और स्पृश्यता को कलंक मानते थे। सभी उसी ईश्वर की सन्तान हैं, फिर भेद–भाव कैसा ? श्रम के महत्व के प्रतिपालक एवं सच्चे अर्थों में वे एक क्रियावादी थे। उनकी कथनी और करनी में एकरूपता थी। वे वास्तव में कर्मयोगी थे । हिन्दु धर्म की गहनता का उन्हें ज्ञान हो गया था । हिन्दु धर्म के बारे में उन्होंने लिखा है –

"निष्पक्ष रूप से विचार करने पर मुझे यह प्रतीत हुई कि हिन्दु धर्म में जैसे गूढ़ व सूक्ष्म विचार हैं आत्मा का जैसा निरीक्षण है, दया है वैसा दूसरे धर्म में नहीं।" गांधी जी की जीवन दर्शन की सबसे बड़ी विलक्षणता यह थी कि वे जो वाणी से उच्चारित करते थे उसे कार्य में प्रगट करने की भी शक्ति रखते थे। उनका कथन उनकी आन्तरिक अनुभूति का प्रतिफल होता था । वे सचमुच एक

---

[1] गांधी – "सर्वोदय" रस्किन के "अन्टू द लास्ट" का सार पृष्ठ–48 सं.स.मं. प्रकाशन 1952 नवम संस्करण ।

युगसृष्टा थे। उनकी परम आस्था "परीक्षण" व "खोज" में थी । जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने जो देखा व सुना तथा अनुभव किया उसका पूर्ण मन्थन, चिन्तन व मनन करने के बाद ही उसे प्रगट किया । यही उनके जीवन की विलक्षणता थी ।

ब्रह्मचर्य -:

ब्रह्मचर्य की महत्ता के विषय में उन्होंने लिखा है–"ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण पालन का अर्थ ब्रह्म दर्शन है । ब्रह्मचर्य में शरीर रक्षण बुद्धि रक्षण और आत्मा का रक्षण है । .... इसका मुझे दिन–ब–दिन अधिकाधिक अनुभव होने लगा ।[1]

गांधी जी ने ब्रह्मचर्य के शाब्दिक अर्थ की व्याख्या करते हुए लिखा है – "ब्रह्मचर्य अर्थात ब्रह्मा के .... सत्य की .... शोध में चर्या, अर्थात तत् सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थ में सर्वेन्द्रिय जनेन्द्रिय संयम रूपी को भूल जाना चाहिये ।"

गांधी जी ने ब्रह्मचर्य की महिमा को भलीभांति जान लिया था। यह भक्ति की एक पूर्ववस्था है। भक्ति के लिये मन की पवित्रता, विचार की स्वच्छता, शारीरिक मानसिक शुद्धि हेतु किया गया व्रत ही ब्रह्मचर्य है। मनुष्य की मनुष्यता अपनी इच्छा से अपने को संयमित करने में है। स्वनियंत्रण ब्रह्म प्राप्ति की पूर्वपीठिका है। गांधी जी ने निम्न प्रकार व्यक्त किया है –

"वह (ब्रह्मचर्य) शारीरिक वस्तु नहीं है । .... शुद्ध ब्रह्मचर्य में तो विचार की मलिनता भी नहीं होनी चाहिये । पूर्ण ब्रह्मचारी के मन में स्वप्न में भी विकारयुक्त विचार नहीं आते हैं और जब तक ऐसे विकारी विचार स्वप्न में आते हों तब तक ब्रह्मचर्य को अति अपूर्ण मानना चाहिये ।"

इस प्रकार गांधी जी अपने जीवन में ब्रह्मचर्य, व्रत, उपवास, प्रायश्चित आदि को सबसे अधिक महत्व देते थे । गांधी जी के अनुसार ईश्वर दर्शन से समस्त संशय निवृत्त हो जाते हैं ।

अतः भारतीय दर्शन में जीवन को जितना संस्कारिक बनाने के लिये आवश्यक था । उन आवश्यक तत्वों को उन्होंने अपनाया था । ज्ञान व सत्य के शोधक के लिये यह आवश्यक भी है ।

---

[1] महात्मा गांधी – आत्मकथा, पृष्ठ 160, 61

गांधी जी ने सर्वव्यापी एकात्मक तत्व को भी ब्रह्म की उपाधि से युक्त किया है । उनका अद्वैतवेद विहित अद्वैत ही है । गांधी जी की दार्शनिक विचारधाराओं का जो विवरण अब तक प्रस्तुत किया गया है उस रूप की अब हमें खोज करनी है कि गांधी जी ने सत्य, अहिंसा, प्रेम, सत्याग्रह, मानव सेवा, श्रम आदि विचारों को व्यवहार में किस प्रकार प्रगट किया है । क्योंकि जब तक कोई विचार व्यवहारोपयोगी नहीं बन जाता तब तक हम उसे वास्तविक शिक्षा की परिधि में शामिल नहीं कर सकते हैं ।

गांधी जी द्वारा मानव की अवधारणा -:

गांधी जी व्यक्ति के व्यक्तित्व को महत्व प्रदान करते हैं । गांधी जी की दृष्टि में मानव हाड़–मांस का पुतला ही नहीं है, बल्कि आत्मायुक्त चेतन प्राणी है। उनके जीवन के प्रत्येक विचार में आत्मातत्व के विचार का महत्व निहित है। जब गांधी जी कहते हैं –"व्यक्ति सर्वोत्तम विचारणीय प्राणी है ।"

तब वे मानव आत्मा के महत्व पर जोर देते हैं । मानव व्यक्तित्व को गांधी जी पवित्र मानते हैं क्योंकि मानव में जो आत्मा है वह ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । यही उनका अद्वैत में विश्वास है । वे मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अनिवार्य रूप से उसी ब्रह्म से बंधा हुआ है और अभिन्न है । उनके अनुसार –

"यह आत्मा स्वरूप ईश्वर मानव को ईश्वर सृष्टि का दास बनाती हैं न कि उनका स्वामी ।" इसका तात्पर्य है कि–"जो कुछ एक शरीर के लिये घटित होता है वह सम्पूर्ण सृष्टि और समस्त जीव को प्रभावित करता है ।"
यही कारण है कि महात्मा गांधी जी विश्वास करते हैं कि–"जब एक मानव आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त करता है तब सम्पूर्ण मानव समुदाय उसी सीमा तक उसे प्राप्त करता है और यदि एक पतित हो जाता है तो उसी सीमा तक सम्पूर्ण मानव पतित हो जाता है ।"

महात्मा गांधी के इन तथ्यों में विश्व शिक्षा का सार निहित है। गांधी दर्शन में मानव के मध्य एकता का विचार सार्वभौमिक एकता की अवाधारणा से लिया गया है । उनका कथन है –

"मेरी विचारधारा में उच्च खानदान या वंश परम्परा से प्राप्त श्रेष्ठता नहीं है। मैं मूल अद्वैत सिद्धान्त में विश्वास रखता हूँ । ...... इसलिये किसी भी मानव पर अपनी श्रेष्ठता प्रकट करना मेरे लिये अमानवीय कार्य होगा । .... जो व्यक्ति अपने को दूसरे से श्रेष्ठ समझता है वह उसी समय मानव की कोटि से अपने को नीचे गिरा लेता है और मानव कहलाने का अधिकार नहीं रखता है ।"

इसी एकता के समप्रत्यय को महात्मा गांधी ने थहेन को लिखे पत्र में इस प्रकार व्यक्त किया है –

"सभी मानव समान रूप से पैदा हुए हैं, कोई एक दूसरे से शारीरिक एवं मानसिक रूप से मजबूत व कमजोर हो सकता है इसलिये ब्रह्म रूप से दो की बीच एकता नहीं है परन्तु उनमें एक आवश्यकता एकता उपस्थित है। ......अणुओं के मध्य यह पूछना कि कौन सा अणु बड़ा है यह व्यर्थ है । उसी तरह मानव में कौन सा बड़ा है पूछना व्यर्थ है । वंशानुक्रम से हम सब समान हैं । जातीय अन्तर, वर्ण अन्तर, मन, शरीर का अन्तर, जलवायु और प्रकृति का अन्तर क्षण भंगुर है ।[1]

वर्तमान काल कर्म हमारे भविष्य को उत्पन्न करता है । जैसे आज का हमारा वर्तमान भूतकाल के कर्म का परिणाम है । इसलिये महात्मा गांधी जी कहते हैं कि –

"कर्म का नियम अपरिहार्य व अनमनीय है। इससे बचना असम्भव है । ईश्वर मानव कर्म में किसी भी प्रकार का अवरोध नहीं डालता है । उसने तो नियम बना दिया है और अवकाश ले लिया है ।"

महात्मा गांधी जी ने लिखा है – "किसी ईश्वरीय नियम को तोड़ना उसका परिणाम भोगना है। हम अपने भाग्य के निर्मायक स्वयं हैं। हम वर्तमान को सुधार अथवा बर्बाद कर सकते हैं और इसी पर भविष्य निर्भर है ।" गांधी जी मनुष्य के जीवन और उसके क्रिया कलापों को पूर्व निर्धारित नहीं मानते हैं। वास्तव में यही कर्म के सिद्धान्त के प्रति गांधी जी का विचार था ।

---

[1] हरिजन – 13.3.1937

नैतिकता के लिये चेतना या सद्विवेक तथा स्वइच्छा का होना जरूरी है । गांधी जी ने इसे निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया है –

"कोई भी कार्य जो ऐच्छिक नहीं है, वह नैतिक नहीं होगा । जब तक हम यंत्रवत कार्यशील रहते हैं तब तक नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता । यदि हम किसी कार्य को नैतिक कहना चाहते हैं तो यह सद्विवेक से कर्त्तव्य समझ कर किया जाना चाहिये ।"

वास्तव में इच्छा शक्ति की स्वतन्त्रता और कर्म के नियम में कोई अर्थ भिन्नता नहीं है । कर्म का सिद्धान्त स्वतन्त्रता के भाव को ही प्रकट करता है, क्योंकि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं ही है । अतीत के कार्य की निरन्तरता व्यक्ति की क्रियात्मक स्वतन्त्रता को सूचित करती है । इस प्रकार गांधी जी मानते हैं कि –

"स्वतन्त्र इच्छा शक्ति जिसका हम आनन्द लेते हैं वह उस आनन्द से भी कम है जो यात्री जहाज के डेक पर भीड़ में खड़ा होकर प्राप्त करता है।"

अतः महात्मा गांधी व्यवहार के लिये स्वेच्छा का होना आवश्यक मानते हैं । वे कहते हैं कि –

"यद्यपि हमारी इच्छा शक्ति स्वतन्त्र है, परन्तु हम अपने कार्य के परिणाम को नहीं जानते, केवल कर्त्तव्य ही कर सकते हैं ।[1]

उन्होंने पुनः कहा है – "मनुष्य अपना स्वभाव बदल सकता है, उसे नियन्त्रित कर सकता है किन्तु उसे समूल नष्ट या उखाड़ कर फेंक नहीं सकता है क्योंकि ईश्वर ने मानव को इतनी स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की है .... मनुष्य अपनी आध्यात्मिक विशेषताओं को केवल सुधार कर सकता है ।[2]

महात्मा गांधी जी का मत है कि – "मनुष्य पूर्ण वैराग्य की प्राप्ति से निःसन्देह अतीत की गलतियों के प्रभाव को रोक सकता है ।" यंग इण्डिया में महात्मा गांधी जी ने लिखा है कि – "व्यक्ति अपने प्रारम्भिक शिक्षा के तथा पर्यावरण के प्रभाव को रोक तो सकता है किन्तु समूल नष्ट नहीं कर सकता है ।

---

[1] हरिजन – 06–05–1939

[2] महात्मा गांधी एम.के.–"दक्षिण अफ्रीका सत्याग्रह से" अनु वी.जी.देसाई गणेशन मद्रास 1928पृष्ठ 219

"वैरागी बनने के लिये महान प्रयत्न करके भी कोई व्यक्ति अपने पर्यावरण अथवा प्रारम्भिक शिक्षा के प्रभाव को नष्ट नहीं कर सकता है ।"

अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि व्यक्ति अपने पर्यावरण द्वारा नियन्त्रित होता है । एम.के. बोस के शब्दों में –

"गांधी जी स्वनिर्देशन द्वारा जीवित रहना पसंद करते हैं न कि आदत से" कहने का तात्पर्य यह है कि महात्मा गांधी जी मानव का नैतिक स्तर पर कार्य करते हुए जीवित रहने के लिये विशेष जोर देते हैं । वे पूर्ण स्वतन्त्रता में विश्वास नहीं करते हैं ।

साध्य, साधन तथा सेवा द्वारा अनुभूति -:

मानव सेवा द्वारा आत्मानुभूति – गांधी दर्शन में और साथ ही गांधी शिक्षा में साधन और साध्य दोनों परिवर्तनशील पद हैं, अविभाज्य रूप से दोनों आपस में गुथे हुए हैं, अतः दोनों को पवित्र होना चाहिये। गीता के निष्काम कर्म योग के सिद्धान्त अनुसार शुभ कर्म शुभ परिणाम देते हैं। गीता की इस शिक्षा के आधार पर गांधी जी की मान्यता है कि –

"यदि कोई साधन के चयन की परवाह करे तो साध्य स्वयं अपनी परवाह करता है ।"[1]

साध्य साधन से ही उत्पन्न होता है। महात्मा गांधी ने लिखा है कि – "साधन का सम्बंध बीज से और साध्य का सम्बंध वृक्ष से है .... इस प्रकार साधन और साध्य में बीज और वृक्ष की भांति अत्याज्य सम्बंध है ।"

साधन पर जोर इसलिये दिया जाता है क्योंकि मानव केवल प्रयत्न करने का अधिकारी है न कि कर्म के परिणाम का ।

जीवन का अन्तिम लक्ष्य यहां तक कि शिक्षा का भी अन्तिम लक्ष्य आत्मानुभूति या मोक्ष प्राप्त करना है। अर्थात अपने "सत्य स्व" को जानना है। यही वह लक्ष्य है जो सर्वश्रेष्ठ है और मानव को पूर्ण रूप से वहीं पहुंचने के लिये

---

[1] हरिजन – 11.02.1939

प्रयत्न करना चाहिये, प्लेटो की भांति गांधी जी भी यह बार–बार स्वीकार करते हैं कि मानव जीवन में पूर्णतः अप्राप्य है वे कहते हैं कि –

"जब तक जीव शरीर में आबद्ध है तब तक वह कोई पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। इसका सामान्य कारण यह कि जब तक कोई अपने अहं को विजित नहीं कर लेता तब तक आदर्शात्मक स्थिति प्राप्त करना असम्भव है और अहं से तब तक छुटकारा नहीं पाया जा सकता जब तक कि वह शरीर से आबद्ध है ।[1]

महात्मा गांधी ने लिखा है कि – "शरीर से आबद्ध होने के कारण लक्ष्य हम से दूर हो जाता है और इस दिशा में हमारी जितनी उन्नति होगी उतनी ही अपनी कमियों को पहचानने का अवसर मिलेगा ।[2]

इसलिये आदर्श स्थिति वहीं है जो पूर्ण स्थिति है उसे "शरीर के मात्र अमिश्रण से"[3] ही प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार आदर्श एवं व्यवहार के मध्य "पुल रहित खाई हमेशा होनी चाहिये, जब तक यह अनुभव के लिये संभव हो जाता है तब तक आदर्श आदर्श न रहकर व्यवहार हो जाता है ।"[4]

वास्तव में सन्तोष तो प्रयत्न में है न कि प्राप्ति में, पूर्ण प्रयत्न को ही गांधी जी पूर्ण विजय मानते हैं। मानव का कर्त्तव्य है कि बड़ी से बड़ी उन्नति के लिये सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिये, यद्यपि की मानव पूर्ण पूर्णता को अपने जीवन में कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता है फिर भी प्रयत्न उसके अधीन होना चाहिये ।

हमने देखा है कि महात्मा गांधी मानव की प्रकृति की अखण्डता में विश्वास नहीं करते हैं किंतु उसकी परिपूर्णता में अवश्य विश्वास करते हैं । इसलिये सभी मानव समान रूप से संभावित विकास की क्षमता रखते हैं क्योंकि –

"सभी में आत्मा एक है ।"[5]

---

[1] यंग इण्डिया – 20–09–1928
[2] यंग इण्डिया – 09–03–1922
[3] हरिजन – 17–04–1937
[4] हरिजन – 14–10–1939
[5] हरिजन – 18–05–1940

गांधी जी की मान्यता है कि–"मानव मात्र का आरम्भिक व्यवहार सबसे तुच्छ प्राणी द्वारा किये गये व्यवहार सी ही होता है । यही सार्वभौमिक संभावना है, यही मानव को ईश्वरीय सृष्टि से अलग करती है ।"

इनके विश्वास का ही परिणाम था कि अपने आश्रमवासियों के लिये जिस नैतिक अनुशासन को देना चाहते थे, वे वही प्रमुख गुण थे जिससे उनका व्यक्तित्व संगठित रूप से विकसित हो सका ।

गांधी जी नैतिक व अध्यात्मिक विकास के लिये त्याग व कष्ट को महत्व देते है।, क्योंकि उनका विश्वास है कि –

"आत्मा की शक्ति का विकास उसी सीमा तक होगा जितना कि शरीर को नियन्त्रित किया जायेगा ।"[1]

महात्मा गांधी उसके आगे कहते हैं कि –"ईश्वर साक्षात्कार आमने सामने तो संभव नहीं है जब तक कि आप इन्द्रियों को संयमित न कर लें । यही वह प्रथम वस्तु है जिसे आपको करना है... यही इन्द्रिय संयम को इंकारा जाता है तो इन्द्रियों को बस में करना दूर की बात है ।"

मानव शरीर सेवा के लिये है न कि अनुग्रह या कृपा पाने के लिये । अतः प्रसन्नता का रहस्य "त्याग" में निहित है । इस कारण हमें अपनी आवश्यकता को बस में रखकर जीव की सेवा करनी चाहिये। त्याग व संयम साधन के रूप में है स्वयं में यह साध्य नहीं है। वास्तव में इनका अधिक अभ्यास हानिकारक है क्योंकि यह शरीर सेवा के लिये पूर्ण प्रयोग करने के लिये व्यक्तियों को रोकती है । गांधी जी ने लिखा है –

"दुख उठाने की भी स्वयं की एक सुपरिभाषित सीमा है । दुख उठाना अच्छा और बुरा दोनों है और जब यह अपनी सीमा पर पहुंच जाये तो उसे आगे बढ़ाना मूर्खता ही नहीं वरन् मूर्खता की चरम सीमा होगी ।"

---

[1] यंग इण्डिया – 23–10–1924

गांधी जी के विचार से त्याग वर्तमान जीवन की मांग की अवहेलना करना, सन्यास लेकर जंगल जाना दूसरे संसार के लिये विचार केन्द्रित करना नहीं है ।वे कहते हैं कि –

"दूसरे संसार के रूप में कोई वस्तु नहीं है सभी विश्व एक है । कोई संसार यहां अथवा वहां नहीं है ।"

"इसलिये कार्य न करना त्याग नहीं है बल्कि यह जड़ता है ।"[1]

महात्मा गांधी सभी मानवों में त्याग की भावना का विकास करना चाहते हैं। जिससे कार्य सेवा में बदला जा सके। उससे हम प्रेम व सेवा करने के योग्य हो सकते हैं। महात्मा गांधी समर्पित जीवन व्यतीत करने वाले वह व्यक्ति थे जिन्होंने अपनी समस्त योग्यताओं को त्याग की भावना से सेवा में लगा दिया था ।

"मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है अथवा मोक्ष है और समस्त क्रिया कलाप सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, ईश्वर दर्शन के अन्तिम लक्ष्य से निर्देशित होनी चाहिये ।"

गांधी जी के अनुसार ईश्वर हेतु मानव सेवा एवं ईश्वर से एकाकार होना ही गांधी जी का मन्तव्य था। इस सम्बंध में उन्होंने लिखा है कि –

"समस्त मानवता की तुरन्त सेवा मानव प्रयत्न का आवश्यक भाग है सामान्यतः ईश्वर प्राप्ति का तरीका ईश्वर को उसकी सृष्टि में देखना और उससे एकाकार होना है । यह सभी की सेवा करने से ही संभव है ।"

गांधी जी ने अपने जीवन में मानव सेवा द्वारा ही ईश्वर को खोजने का प्रयास किया था तथा इसी प्रक्रिया द्वारा सत्य का अनुभव भी किया था । एकान्तवास द्वारा मोक्ष की प्राप्ति गांधी जी के लिये विदेशी थी । डी.एम. दत्ता ने इस सम्बंध में अपने विचार अभिव्यक्त करते हुये लिखा है कि –

"भारतीय परम्परा में मानव सेवा द्वारा ईश्वरानुभूति की विचारधारा नवीन नहीं है। ईसा पूर्व के युग में बुद्ध ने .... अद्वैतवादी शंकर ने सेवा के क्रियाशील दर्शन का प्रचार किया । .... किन्तु बादमें शंकर आदि के दार्शनिक सकारात्मक

---

[1] हरिजन – 20–04–1935

एवं रचनात्मक तत्वों को विस्मृत कर दिया गया । .... जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत विचारात्मक दर्शन व माया मोह से उपेत हो पराजय की खाई में जा गिरा । ...... समय से विवेकानन्द ने घोषित किया कि "यदि तुम ईश्वर प्राप्त करना चाहते हो तो मानव सेवा करो। .... रवीन्द्र नाथ टैगोर ने भी रचनात्मक सामाजिक सेवा की शिक्षा दी । .... गांधी जी ने इन समस्त तत्वों को अपने दार्शनिक विचारों में समाहित करते हुए भारत में अपने नूतन सकारात्मक विचारों का प्रयोग कर तथा अपने जीवन में उपयोग कर उन्हें सामाजिक व राजनैतिक रूप प्रदान किया ।[1]

गांधी जी के अनुसार स्थायी सिद्धान्त ईश्वरीय कार्य करना ही मात्र कार्य है । महात्मा जी कहते हैं कि – हम जानते व अनुभव करते हैं कि –

"हम मृत्यु के मध्य निवास कर रहे हैं । अतः अपनी योजनाओं के लिये कार्य करने का क्या महत्व है, जब कि अन्त में वे कुछ नहीं रह जाते । .... हम चट्टान की भांति अपने को मजबूत अनुभव करते हैं पर जब हम सत्यता के साथ घोषित कर सके कि हम ईश्वर के लिये तथा उसकी योजना के लिये कार्य करते हैं तो ऐसी दशा में कुछ भी नष्ट नहीं होता ।[2]

यह ईश्वरीय इच्छा के प्रति नेक समपर्ण है । जब कोई व्यक्ति पवित्र हृदय वाला होता है तब उसकी विवेक शक्ति जो भी करने के लिये प्रेरित करती है ऐसी ही प्रेरणा ईश्वर इच्छा है । एक सेवा पूर्ण जीवन वाला व्यक्ति अपने में विश्वात्मा का पोषण करता है । इसलिये उसमें गतिशील एवं स्वाभाविक नम्रता की उत्पत्ति हो जाती हैं । महात्मा गांधी ने इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हुए कहा है –

"सेवा का जीवन नम्रता का जीवन होना चाहिये .... मानवता की सेवा के लिये किया गया कठिन एवं सतत् परिश्रम क्षण भर विश्राम किये बिना लगातार परिश्रमरत है यदि हम ईश्वर की सेवा करें या उससे एकाकार हो जायें तो हमारे कर्म भी उसी की तरह न थकाने वाले होंगे .... इस प्रकार की व्याकुलता ही

---

[1] दत्ता डी.एम. – "द फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी यूनीवर्सिटी ऑफ विशकान्सन प्रेस कनाडा 1953, पृष्ठ 62–71

[2] यंग इण्डिया – 23–09–1926

वास्तविक विश्राम की रचना करती है । इस प्रकार का न रूकने वाला आन्दोलन स्थाई शांति की कुंजी है ।[1]

महात्मा गांधी के अनुसार परित्याग की भावना से व्यक्ति समाज सेवा में संलग्न रहे तो व्यक्ति व समाज के मध्य कोई भी संघर्ष न उत्पन्न हो । इसी विचारधारा में वास्तविक स्वतन्त्रता व समुदाय का रहस्य छुपा है ।

"स्व" का तात्पर्य स्व प्रकाशन/अभिव्यक्ति -:

इच्छा शक्ति का दुरूपयोग बुराई उत्पन्न करता है।गांधी जी के अनुसार –

"ईश्वर के लिये कोई भी वस्तु न तो अच्छी है और न तो बुरी, परन्तु मानव उन्नति हेतु अच्छाई–बुराई का महत्व है, दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं क्योंकि एक प्रकाश तथा दूसरा अन्धकार का प्रतीक है ।" अच्छाई स्वयं अच्छी है। परन्तु बुराई ऐसी नहीं है बुराई केवल अच्छाईयों के उलझाव द्वारा उत्पन्न होती है और उसी में समाप्त हो जाती है । यह तब होता है जब उसकी सहायता वापस ले ली जाती है । गांधी जी कहते हैं कि –

"पवित्रता ही वह सुरक्षित साधन है जो बुराईयों को कम कर सकता है, बुराईयों को विजित करने के लिये व्यक्ति को अपरिवर्तित अच्छाईयों की मजबूत आधारशिला पर आधारित रहना चाहिये।" मानव शरीर प्रकृति की उपज है इसलिये वह शारीरिक है, किन्तु सद्विवेक तर्क इच्छा शक्ति, भावना और इसी प्रकारके दूसरे गुण व शक्तियों को जो मानव के पास हैं, वह सब आत्मा की ही अभिव्यक्ति हैं । "सत्य" "स्व" ही आत्मा है । लोभ व वासना के कारण यह मनुष्य "स्व" नहीं रह पाता। गांधी जी ने आत्माभिव्यक्ति को इसी सीमित अर्थ में प्रयोग किया है न कि प्रकृतिवादियों के अनुसार प्रयुक्त अर्थ में । "असत्य स्व" को प्रकाशित होने के लिये कभी भी आज्ञा नहीं देनी चाहिये । हां जब वह अभिव्यक्त होने के लिये प्रयत्न करे तो समझना चाहिये कि यही उपद्रव है। परन्तु जब "सत्य स्व" प्रकाशित होगा तथी सत्याग्रह की उत्पत्ति होगी । .... अतः हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम सत्य को जाने पहिचानें। उसे जानने के बाद ही "सत्य स्व" का प्रयोग होगा।"

---

[1] बोस एन.के. – सेलेक्शन फ्राम गांधी, एन.पी.एच., 1948 पृष्ठ–10

गांधी जी के अनुसार–"प्रत्येक व्यक्ति में अच्छाई व बुराई का सम्मिश्रण है । सभ्य असभ्य में अन्तर केवल मात्रा का है ।[1]

जब तक मानव शरीर बंधन में रहेगा तब तक वह अपूर्ण ही रहेगा चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो । गांधी जी ने लिखा है कि – "कोई भी व्यक्ति दोष रहित नहीं है यहां तक कि ईश्वर के बन्दे भी । वह ईश्वर के बन्दे इसलिये नहीं हैं कि वह निर्दोष हैं बल्कि वह अपनी कमियों को जानते हैं .... और उन्हें सुधारने को तत्पर रहते हैं ।[2]

महत्व तो इस बात का है कि मनुष्य केवल पशु नहीं है बल्कि वह एक आत्मा है । यहां तक कि असभ्य व्यक्ति के पास भी अच्छाईयों को सम्पादित करने की सामर्थ्य होती है, यही स्व विवेकयुक्त प्रेरणा जो उसके अन्दर विद्यमान है उसे ईश्वराअनुभूति की प्रेरणा देती है । पशु व मानव में अन्तर इसी आधार पर किया जाता है । गांधी जी का दृढ़ विश्वास है कि –

"स्वाभाविक रूप से मनुष्य ऊपर उठता रहता है ।[3]

वे आगे कहते हैं कि –

"मैं विश्वास करता हूँ कि मानव जाति की सम्पूर्ण ऊर्जा हमें नीचे नहीं गिराती है बल्कि ऊपर उठाती है । यही निश्चयात्मक परिणाम है ।"[4]

महात्मा गांधी के अनुसार नई पीढ़ियों के शिक्षाशास्त्रियों का यह परम कर्त्तव्य है कि इस चैलेन्ज को स्वीकार कर देश को प्रगति मार्ग पर आगे बढ़ायें ।

गांधी दर्शन - कार्यशीलन प्रधान दर्शन है -:

भारत की संस्कृति की सर्वप्रमुख विशेषता व विलक्षणता मानव के सर्वांगीण विकास की रही है। भारत मानव के ऐहिक व परलौकिक दोनों प्रकार की उन्नति का प्राचीन काल से प्रतिपादक रहा है। चार पुरूषार्थों की प्राप्ति प्रत्येक प्राणी के लिये आवश्यक थी। यह है धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। इसलिये प्राचीन भारत के

---

[1] हरिजन – 10–06–1939
[2] हरिजन – 28–01–1939
[3] हरिजन – 18–05–1940
[4] यंग इण्डिया – 12–11–1931

मानव न तो धर्म व मोक्ष की उपेक्षा कर सकते थे और न काम व अर्थ की प्रमुखता ही दे सकते थे । जब तक भारतीय संस्कृति में इन चारों पूरूषार्थों में सामान्जस्य बना हुआ था तब तक भारतीय संस्कृति का उत्कर्ष एवं संवर्धन होता रहा। जब दोनों में सामान्जस्य, समन्वय में संकीर्णता व कमी आई तभी से भारतवासियों का पतन प्रारम्भ हुआ ।

मानव को आत्मनिर्भर बनाने तथा राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से सबल बनाने के लिये व जीवन की व्यवहारिकता को पूर्ण रूप से महत्व देने के लिये 16वीं शताब्दी से यर्थाथवादी दार्शनिकों तथा शिक्षाशास्त्रियों ने विचार करना प्रारम्भ किया किन्तु भारत में वैदिक, ब्राह्मण व बौद्ध तीनों दार्शनिक प्रणालियों में बाह्य रूप से व्यवहारिक पक्ष पर बल दिया गया था, किन्तु इनका आन्तरिक स्वरूप आध्यात्मिक ही था । वे शिक्षा की प्रक्रिया को पूर्ण जीवन की तैयारी मानते थे । वैदिक काल में आध्यात्म के साथ–साथ जीवनोपयोगी तत्वों पर भी बल प्रदान किया जाता था। यजुर्वेद व ऋग्वेद दोनों में इस प्रकार के मंत्र ऋचायें उपलब्ध होती हैं ।

"इषभूर्जभावद"[1]

"त्वया वयं संघात जेष्म"

"अर्थ हस्य तरणि ।"[2]

उपर्युक्त ऋचाओं का भावार्थ है कि विद्यार्थियों को इस प्रकार निर्देश देना चाहिये ताकि वे अपने जीवन में "ईष" अन्नादि पदार्थों को बहुतायत से प्राप्ति कर सकें जिससे वह बलिष्ठ, ओजस्वी होकर अपनी दशा सुदृढ़ कर सकें अर्थात विद्या अर्थकारी अवश्य हो । साथ ही सामाजिक व्यवस्था को मजबूत बनाने के लिये धन महत्वपूर्ण साधन है । धनाभाव अव्यवस्था उत्पन्न करता है । इसलिये शास्त्रों में कहा गया है कि धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति के लिये ही मानव के समस्त क्रिया कलाप होना चाहिये ।

वर्तमान युग "भौतिक युग" तथा वर्तमान सभ्यता "भौतिक सभ्यता" के नाम कही जाती है । भौतिक वस्तुओं को पाने के लिये हर प्राणी प्रयत्नशील है ।

---

[1] यजुर्वेद – 1/16
[2] ऋग्वेद – 3/11/3

आज प्राणियों में धर्म और मोक्ष के बजाय धन प्राप्त करने की प्रबल भावना है । धर्म व मोक्ष की भावना जितनी प्राचीन व मध्य युग में महत्वपूर्ण थी उतनी वर्तमान युग में नहीं है । इसका कारण यूरोप की धार्मिक भावना की संकीर्णता ही थी जिसके कारण सुकरात को विषपान, ईसा को फांसी का वरण करना पड़ा ।

भारत में ऐसी धर्म असहिष्णुता कभी नहीं थी, परन्तु वर्तमान काल में वह मंद पड़ गई है । क्योंकि वैज्ञानिक अनुसन्धान व अन्वेषण ने लोगों के विचारों को विज्ञान परक बना दिया है। तर्क व विचार ही सत्य की कसौटी बन गये हैं। वर्तमान में वे वस्तुयें तथा धारायें ही वास्तविक व सत्य मानी जाती हैं जो तर्क की कसौटी पर खरी उतरती हैं ।

16वीं सदी ने यथार्थवादी मानव जीवन के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक यहां तक कि सारे क्षेत्र को प्रभावित कर दिया था। नये विचार, नई चेतना वस्तु की यर्थाथता का परिज्ञान तथा वैज्ञानिक अनुसंधानों की प्रवृत्ति का जागरण हुआ जिसने हमारे दृष्टिकोणों को बल दिया। मानव जीवन की इस भौतिकवादी सभ्यता के प्रतिक्रिया रूप में स्वामी दयानन्द जी ने "वेदों की ओर लौटो" तथा महात्मा गांधी ने "गांवों की ओर मुड़ो" का नारा लगाया। इन महापुरूषों के इन वाक्यों की मूल भावना यही थी कि हमारा जीवन भौतिकवादी हो गया है इसलिये जीवन को सरल बनाना चाहिये। मानव को सक्षम व शक्तिशाली बनाने के लिये व्यवसायिक आदर्श स्वीकार करना पड़ेगा। व्यावसायिक आदर्श अपनाने का यह अर्थ नहीं है कि हम अपने धार्मिक व पारलौकिक आदर्श को भूल जायें । मानव के सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास का अर्थ होता है मानव को धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष प्राप्ति के लिये चेष्टा करना ।

महात्मा गांधी का व्यक्तित्व व उनके विचार यथार्थवादी दृष्टिकोण से -:

गांधी जी एक समाज सुधारक व उच्च कोटि के दार्शनिक थे । वे विचार को मात्र सैद्धान्तिक रूप में ही नहीं मान्यता देते थे, बल्कि उसे व्यावहारिकता प्रदान करना चाहते थे । वे तात्कालिक प्रयोजन की महत्ता समझते थे। वे जानते थे कि दीन, हीन, दुखी व दरिद्र भारतियों की दशा का सुधार तभी संभव होगा जब वे अपनी परम्परागत व्यावसायिक दक्षता को पुनः प्राप्त कर आत्म निर्भर व

स्वालम्बी बन सके । वर्तमान अर्थ प्रधान समाज में प्रत्येक सामाजिक प्राणी को अर्थोपार्जन के योग्य होना नितान्त आवश्यक है ।

वे मानव की शक्तियों एवं योग्यताओं के विकास के लिये स्वतन्त्रता को आवश्यक मानते थे। वे मनुष्य मात्र की रचनात्मक शक्तियों के विकास को महत्व देते थे । उनका मन्तव्य शिक्षित व्यक्तियों के भीतर से बेरोजगारी की समस्या को समाप्त करना था । इसीलिये उन्होंने लिखा है –

> "मैं बच्चों को पहले पहल उपयोगी दस्तकारी सिखाऊंगा ताकि जिस समय से वे शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ करें उसी काल से उत्पादन करना भी शुरू करें ।"[1]

गांधी जी ने आगे भी कहा है– "हिन्दुस्तान हमारे हाथों से इसलिये गया, क्योंकि हमने स्वदेशी को छोड़ दिया । सूत कातना कोई अलग धंधा नहीं था। कुछ व्यक्ति भी सूत कातते थे, सूत कातना धर्म का कर्त्तव्य समझा जाता था। .... पहले की भांति कातने का काम फिर हाथ में लेना पड़ेगा और उसी से हिन्दुस्तान का उद्धार होगा ।"[2]

गांधी जी मानव शरीर, मन व आत्मा के पूर्ण विकास को ही व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास मानते थे। वे चाहते थे कि मानव अपने वास्तविक स्वरूप को अपनी योग्यताओं को समझ सके। वे चाहते थे कि प्रत्येक प्राणी आत्मानूभुति व आत्माभिव्यक्ति की क्षमता प्राप्त कर सके। इसलिये वे मानव के जीवन में श्रम व क्रिया को विशेष महत्व देते थे ताकि इससे वे स्वालम्बी व आत्मनिभर हो सकें ।

ज्ञान-:

ज्ञान उनके लिये पूर्ण इकाई था। चाहे वह सांसारिक ज्ञान हो या पारलौकिक । वे दोनों प्रकार के ज्ञान को खण्डान्वित रूप में विभक्त नहीं मानते थे। गांधी जी दोनों प्रकार के ज्ञान में सामन्जस्य चाहते थे। वे जीवन के कर्म में

---

[1] गांधी जी – एजूकेशनल रिकंस्ट्रक्शन, पृष्ठ–4

[2] गांधी जी – "गुजरात महाविद्यालय के व्याख्यान" से दिनांक 13–01–1921

समन्वयात्मक दृष्टिकोण धारण करते थे। प्रत्येक प्राणी में सेवा भाव जागरण व इसी भाव का स्थायित्व करना ही ईश्वर की सेवा, भक्ति, उपासना मानते थे ।

इसीलिये उनका रचनात्मक कार्य, सांसारिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के ज्ञान का समन्वयात्मक रूप ही था ।

गांधी जी भविष्य दृष्टा थे। वे भारत की गरीबी को दूर करना चाहते थे। वे भारतीयों में भोजन वस्त्र व आवास की कमी को दूर करने के लिये कृत संकल्प थे । इसलिये उन्होंने भारतीय बालक–बालिकाओं के लिये व्यवहारिक एवं मनोवैज्ञानिक शिक्षा पद्धति पर बल दिया था। वे व्यावहारिक शिक्षा को "करके सीखने पर" व अनुभूति द्वारा प्रदान करना चाहते थे। क्रिया द्वारा प्राप्त ज्ञान ही वास्तविक, व्यवहारिक एवं व्यावसायिक है ।

उनका विचार ऐसे नागरिकों के निर्माण में था जो राष्ट्रहित के साथ–साथ अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव की पूंजी भी बटोर सके । उनका दृष्टिकोण विश्वमानवता का था । वे "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः" सिद्धान्त के पोषक थे। गांधी जी मानव की उत्पादनशीलता को बढ़ाने के पक्षपाती थे। इसलिये मानव के चरित्र पर विशेष बल देते थे । चरित्र बल व उत्पादनशीलता के साथ–साथ गांधी जी मानव के व्यक्तित्व का व सामाजिक पक्षों के विकास पर भी बल देकर उनमें सामाजिक कुशलता उत्पन्न करने के हिमायती थे। वे ज्ञान को "प्रयोग करके", "अनुसंधान करके", "निरीक्षण करके" व अपनी विवेक शक्ति के विकास से प्राप्त करने पर बल देते थे। स्वानुभव को उन्होंने स्वयं अपने जीवन में अपनाया था। गांधी जी परतत्व को भी स्वानुभव का विषय मानते थे ।

वे मानव अहिंसक, प्रेमी, विनम्र, अपरिग्रही, सत्यवादी, कर्मठ, परिश्रमी तथा मनुष्य मात्र से प्रेम करने वाला समाज सेवी बनाना चाहते थे। गांधी जी के जीवन के उद्देश्य आदर्शवाद के निकट तथा उनकी कार्य प्रणाली व्यावहारवाद के निकट पहुंच गयी है। उनका दर्शन मध्यमवर्गीय है । पूर्व व पाश्चात्य दर्शन का समन्वयात्मक रूप ही गांधी जी का दर्शन है। सामाजिक कुशलता, हस्तकला, उद्योग व व्यवसाय को अपनाकर ही प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि किसी देश के

आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विकास की यह जड़ है। चिन्तन प्रक्रिया को उन्होंने मनौवैज्ञानिक आधार प्रदान किया इसलिये वे प्रकृतिवादी भी हैं ।

इस सम्बन्ध में एम.एस. पटेल ने लिखा है–"गांधी जी का दर्शन अपने स्थापना में प्रकृतिवादी आदर्शों में आदर्शवादी और अपनी विधियों एवं कार्ययोजना में प्रयोजनवादी है ।"[1]

गांधी जी ने इन सम्प्रदायों में जो कुछ उत्तम है उसे लेकर अपने संगठित दर्शन का प्रतिपादन किया है। वे मूल रूप से आदर्शवादी हैं किन्तु उनका दृष्टिकोण प्रकृतिवादी व प्रयोजनवादी ही है ।

महात्मा गांधी के दर्शन में व्यक्ति, समाज व लोकतंत्र को समान महत्व वर्तमान एवं इतिहास का प्रभाव -:

विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में तीन शताब्दियों की उन्नति ने ही मानव में गलत धारणाओं को उत्पन्न किया है । शिक्षा के क्षेत्र में बौद्धिक प्रशिक्षण को अन्तिम लक्ष्य के रूप में देखा जाने लगा । मानव में सद्विवेक एवं सुष्ठ विचार समाप्त होते जा रहे हैं और मानव जीवन एक कमरे में यंत्रवत होते जा रहे हैं । मानव के आध्यात्मिक गुणों के ह्रास का यही कारण है। मानव का स्वतन्त्र महत्व समाप्त हो गया है । परिणाम यह हुआ कि सारी शिक्षायें तकनीकी ज्ञान तक ही सीमित हो गईं और साध्य की अपेक्षा साधन पर अधिक बल दिया जाने लगा ।

अन्तिम शताब्दी में यह स्वयं अनुभव होने लगा था कि औद्योगिक उपलब्धि, उन्नति, विकास व प्रगति हानिप्रद साबित हो रही है । इसलिये यह अनुभव किया गया कि तार्किक व्यक्ति को मानव बनाने के लिये उसकी भावनाओं एवं कल्पनाओं को उचित दिशा में निर्देशित कर शिक्षित किया जाये।

पण्डित जवाहर लाल नेहरू के अनुसार – "प्रजातन्त्र की एक प्रवृत्ति है कि वह नेता उत्पन्न करती है, जो या तो तानाशाह अथवा निष्ठुर, दृढ़ और असंवेदनशील राजनैतिक होते हैं । ऐसे तानाशाहों और राजनीतिज्ञों के हाथ में मानव प्रतिष्ठा कष्ट उठाने के लिये बाध्य हो जाती है, शिक्षा, विचार एवं चिन्तन की शक्ति के

---

[1] एम.एस. पटेल – "द एजूकेशलन फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी", अहमदाबाद, नवजीवन, पृष्ठ–176

प्रसार से इसे रोका जा सकता है । अतः इन्हें अवश्य विकसित किया जाना चाहिये ।"[1]

गांधी जी के अनुसार पुस्तकीय शिक्षा व बौद्धिक शिक्षा पर किसी भी प्रकार से जोर व तर्क प्रदर्शित नहीं करना चाहिये। प्रत्येक प्राणी के व्यक्तित्व का आदर किया जाना चाहिये । शिक्षा का कार्य है कि प्रत्येक प्राणी में सामान्य आदेशात्मक समझ उत्पन्न करे। आवश्यकता इस बात की है कि वर्ग–भेद व अलगाव की प्रवृत्ति को रोका जाये । वर्तमान परिस्थितियों में समस्त राष्ट्रों के मध्य हम भावना का विकास किया जाये। शिक्षा के द्वारा पारम्परिक आस्था जैसे सत्यं, शिवं, सुन्दरम् को पुनः प्राप्त करने के लिये प्रयत्न किया जाये। बालक का निर्माण सही दिशा में सोचने के लिये किया जाये तथा इसकी उत्पत्ति ह्रदय की गहराईयों की आस्था से होनी चाहिये । श्रम के महत्व को समझाते हुये उनमें सामाजिक सेवा की भावना को उत्पन्न किया जाये । गांधी जी के अनुसार – "शिक्षा जीवन से सम्बन्धित होनी चाहिये तथा विचार कार्य में बदल जायें ।" शिक्षा का प्रसार भारत की आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिये। अतः गांधी जी ऐतिहासिक तथ्यों एवं समय की मांग व पुकार को पहचानते, जानते व समझते थे। उनके शैक्षिक उद्द्देश्य स्वयं इस तथ्य को प्रगट करते हैं इतने अधिक व्यावहारिक होते हुए भी गांधी जी अपने चारों ओर की वास्तविकताओं की उपेक्षा नहीं कर सके। इस प्रकार गांधी जी ....

"मात्र काल्पनिक नहीं है बल्कि एक व्यवहारिक आदर्शवादी हैं ।"

गांधी जी अपने क्रांतिकारी योजनाओं में भी सनातनी व्यावहारिक आदर्शवादी बने रहे । अपनी इस प्रवृत्ति का प्रयोग इन्होंने शिक्षा तथा राजनीति दोनों क्षेत्रों में किया है । यदि यह कहा जाये कि समाज शिक्षा और परिवार की त्रिवेणी में गांधी जी की इस प्रवृत्ति को देखना कठिन नहीं है, तो अतियुक्त नहीं है।

---

[1] जे.एल. नेहरू साइटेड अन यूनेस्को प्रोजैक्ट्स इन इण्डिया मिनस्ट्री ऑफ ऐजूकेशन, दिल्ली 5, पृष्ठ 70

गांधी जी व्यक्ति व समाज के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को आवश्यक मानते हैं । गांधी जी असीमित व्यक्तिवाद जो सामाजिक कृतज्ञता व सामूहिक दृष्टिकोण की उपेक्षा करता है, सामाजिक मशीन में व्यक्ति को मात्र एक पहिये के दांतों तक सीमित करता है, उसे अस्वीकार करते हैं ।

गांधी जी कहते हैं – "मैं व्यक्ति की स्वतन्त्रता को महत्व देता हूँ परन्तु तुम्हें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि मनुष्य एक महत्वपूर्ण प्राणी है । .... असीमित व्यक्तिवाद तो जंगल के जानवारों का नियम है । सामाजिक प्रतिबन्ध और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मध्य औसत निकालना हम सीख चुके हैं । समाज की भलाई को दृष्टि में रखकर स्वेच्छा से व्यक्ति व समाज को समृद्धशाली बनाना है ।"[1]

गांधी जी के दर्शन में समाज व व्यक्ति दोनों में व्यक्ति का स्थान प्रथम है । मानव सर्वश्रेष्ठ विचारणीय प्राणी है । मनुष्य आत्मा है, किन्तु समाज आत्मा नहीं है । अहिंसक प्रजातन्त्र की उत्पत्ति अहिंसक व्यक्ति पर आधारित है । तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति अहिंसक विचार है तथा व्यक्तिगत स्वराज्य की प्राप्ति में संलग्न है, उन्हीं को अहिंसक प्रजातन्त्र की अधिकतम उन्नति के लिये अधिक से अधिक अवसर दिया जाना चाहिये । यदि अहिंसक व्यक्ति अपने लक्ष्य में असफल हो जाये तो भी उसे उसी पर आधारित रहना चाहिये। यही उसका कर्त्तव्य है । उसे लगातार समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों को याद रखना चाहिये । ऐसा करने के लिये उसे अपनी अतिरिक्त नैतिकता तथा समाज के धर्म को भी ध्यान में रखना चाहिये ।

गोपीनाथ धवन का कथन है कि –

"अहिंसात्मक समाज का धर्म अथवा नीति उसकी चेतना को शक्ति प्रदान करती है । सामाजिक संयोग को अपनाने के लिये यह एक महत्वपूर्ण कारक है । आदर्शात्मक अहिंसक वातावरण में उत्पन्न हुए और शिक्षा पाये हुए बालक स्वाभाविक रूप में अपने भीतर नवीन नैतिकता को धारण करते हैं।[2]

---

[1] यंग इण्डिया – 27–05–1932

[2] गोपीनाथ धवन – द पोलिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी, एन.पी.एच. 1951, पृष्ठ–324

गांधी जी चाहते हैं कि व्यक्ति अपनी योग्यता को सब की भलाई व अपने विकास के लिये प्रयोग करे और समाज भी उन्हें अधिक से अधिक अवसर विकास हेतु प्रदान करे । गांधी जी की रामराज्य की परिकल्पना अब तक के सभी शासन पद्धति का अतिक्रमण करती है किन्तु उनकी यह परिकल्पना प्राचीन भारत के ग्रमीण समुदायों के विचारधारा के निकट है। इस सम्बंध में गांधी जी ने कहा है –

"अहिंसा पर आधारिक सभ्यता का भारतीय ग्रामीण गणराज्य से निकट का सम्बंध है । .... मैं यह जानता हूँ कि मेरी परिभाषा और विचारधारा के अनुकूल उस ग्रामीण गणराज्य में अहिंसा का स्थान नहीं था परन्तु उसके बीज उसमें निहित थे ।"[1]

"गांधी जी पृथ्वी पर स्वर्ग लाना चाहते थे, इस स्वर्ग में न तो दरिद्र होंगे न ऊँच–नीच, न करोड़पति मालिक, न अर्धविवुक्षित नौकर, न तो नशीली दवाईयां या मदिरा आदि के पान करने वाले मनुष्य इस स्वर्ग रूपी पृथ्वी पर पुरूष व स्त्री समान रूप से आदृत होंगे ...... यहाँ छुआछूत का भाव न होगा । प्रत्येक धर्मावलम्बी समान रूप से समादर पायेगा । वे स्वाभिमान व प्रसन्नता व स्वेच्छा से जीविका श्रमिक कहलायेगा ।"[2]

गांधी जी आगे पुनः कहते हैं – "आदर्श पूर्ण रूप से जीवन में कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है ।"[3] फिर भी हमें इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये । गांधी जी आशान्वित थे कि "वर्तमान समय में ऐसे स्वर्णयुग की कल्पना नहीं कर सकता परन्तु मैं निश्चित रूप से विशिष्ट अहिंसक समाज की सम्भावना में विश्वास करता हूँ ।[4]

महात्मा गांधी के दार्शनिक विचारों का शिक्षा के संदर्भ में अध्ययन -:

अब हमें गांधी जी के गत पृष्ठों में वर्णित दार्शनिक विचारों को शिक्षा के संदर्भ में देखना है, क्योंकि हमने यह अनुभव किया है कि गांधी जी का दर्शन

---

[1] हरिजन – 13–01–1940
[2] एम.के. गांधी – दिल्ली डायरी एन.पी.एच. 1948, पृष्ठ–342
[3] यंग इण्डिया – 02–07–1931
[4] हरिजन – 09–03–1940

कल्पनाओं और सनक की उत्पत्ति नहीं है, बल्कि यह मनोवैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में हाल के खोजों द्वारा निश्चित किये गये स्वस्थ मनोवैज्ञानिक प्रदत्तों पर आधारित है । सामाजिक और आर्थिक पक्षों को गांधी दर्शन ने आकस्मिक रूप से स्पर्श नहीं किया है, बल्कि उन्हें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है ।

मनोवैज्ञानिक पक्ष -:

यद्यपि गांधी जी ने न तो मनोवैज्ञानिक विषय का अध्ययन किया था और न तो वे इस विषय के विद्यार्थी रहे हैं, परन्तु वे मानव प्रकृति के सूक्ष्म दृष्टा थे । उन्होंने मानव के व्यवहार को उनके द्वारा किये गये कार्यों द्वारा ही अनुभव किया था । इस प्रकार आधुनिक मनोवैज्ञानिक की भांति वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि मानव की शिक्षा व उनका चरित्र उनकी मानसिक तैयारी द्वारा ही निश्चित होते हैं । मानव वंशानुक्रम से क्षमताओं और संभावनाओं के रूप में कुछ मूल प्रवृत्तियों को लेकर आता है । मानव की स्वाभाविक रूचि व संवेदनात्मक प्रेरणायें अधिगम को प्रेरित करती हैं । अधिगम को पर्यावरण प्रभावित करता है । ज्ञान प्राप्ति व सीखने में मानवीय क्षमतायें, पर्यावरण व क्रिया कलाप व्यक्ति को सहायता देते हैं। इन बिन्दुओं को ध्यान में रखकर शिक्षक मनोवैज्ञानिक प्रदत्तों को स्वस्थ शिक्षा योजना के लिये खोज करता है ।

गांधी जी बालक के मस्तिष्क को सभी प्रकार की सूचनाओं से भरने के पक्ष में नहीं हैं। उनका विश्वास था कि बालक बौद्धिक विकास क्रिया से ही प्राप्त कर सकता है। स्वतन्त्र क्रिया के प्रति बालक की इस प्रवृत्ति को शिक्षा से अलग नहीं मानते हैं बल्कि इसे शिक्षा के केन्द्र के रूप में स्वीकार करते हैं । इसी क्रिया से बालक की मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित किया जा सकता है । इस सम्बंध में गांधी जी ने स्वयं लिखा है कि –

"बालक की शिक्षा शारीरिक श्रम से प्रारम्भ हो किन्तु यह शरीर श्रम शिक्षा से अलग न हो बल्कि बौद्धिक प्रशिक्षण के मुख्य साधन के रूप में हो ।"

गांधी जी ने आगे पुनः कहा है कि –

"आपको बालकों को एक पेशे अथवा अन्य में प्रशिक्षित करना पड़ेगा ।

इस विशिष्ट पेशे के लिये आपको उनके मन, शरीर को, उनके हस्तलेख को, उनके कलात्मक भाव को और इसी प्रकार अन्य क्षमताओं को प्रशिक्षित करना होगा ।"[1]

इस प्रकार गांधी जी बालक के शरीर श्रम व क्रियात्मक क्रिया कलाप पर जोर देते हैं । जिसमें बालक की रूचि का ही महत्व होता है । बालक की रूचियों की पूर्ति हेतु पूर्व बुनियादी शिक्षा की योजना की गई है, उपयुक्त वातावरण के सृजन द्वारा बालकों का सर्वांगीण विकास करने में योजना अपनी मनोवैज्ञानिक सुदृढ़ता का परिचय देती है । वस्तुओं द्वारा शिक्षा में उपयोगी खेल योजना, क्रियाशीलता और समवाय पद्धतियों के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक महत्व अन्तर्निहित है । विभिन्न प्रकारके उद्योगों में बालक की मूल प्रवृत्तियों को उचित रूप से विकसित होने का अवसर मिला है । उनका मार्गान्तरीकरण होता है । बालकों की कल्पना में संवेगों को उचित निर्देशन द्वारा विकसित कर उनके व्यक्तित्व का गठन किया जाता है । गांधी जी ने शिक्षा में शरीर श्रम को महत्व दिया क्योंकि हस्तकला शारीरिक दृष्टिकोण से बालक के शरीर का विकास करती है । थकान को सहने के योग्य शरीर को कठोर बनाती है । बालकों की कार्यकुशलता में वृद्धि करते हुए और अभ्यास की आदत डालते हुए विभिन्न कला और व्यापार में निष्णात बनाकर सामाजिक जीवन को पुष्ट करती है ।

बौद्धिक दृष्टिकोण से हस्तकला की शिक्षा बालक में भौतिक ज्ञान विकसित करती है । उपयोगी एवं जरूरत के प्राकृतिक पदार्थों के प्रति बालकों के उचित दृष्टिकोण का निर्माण करती है । भाषा, गणित, विज्ञान को कला के साथ–साथ पढ़ाया जाता है। जिसे मन व नेत्र में निश्चतता, तीव्रता और निरीक्षण की योग्यता का विकास होता है यह विधि शरीर और हाथ को विभिन्न व्यापारों में उपयोग होने वाले यंत्रों के योग्य बनाती है तथा प्रयोग का मूल्यांकन करने के लिये उनके मन व मस्तिष्क में योग्यता पैदा करती है । हृदय के विकास अथवा भौतिक दृष्टिकोण से हस्तकला बालकों को श्रम विभाजन, मानव रोजगार, पारस्परिक सहयोग जैसे महत्वपूर्ण परिणामों से भिज्ञ कराती है ।

---

[1] हरिजन – 18–09–1937

शरीर श्रम के लाभों से गांधी जी भिज्ञ व सचेत थे । इसलिये वे शरीर श्रम को शिक्षा का माध्यम बनाने पर बल देते हैं । शरीर श्रम बालक को केवल स्वालम्बी ही नहीं बनाता है बल्कि शरीर श्रम के निम्नलिखित लाभों से भी परिचित हो जाता है ।

1. शारीरिक विकास-:

बालक किसी किस्म के हस्तकला के कार्य में संलग्न हो तो वह मजबूत व शक्ति सम्पन्न बनता है । प्रतिरोधक शक्ति व मांसपेशियों की पुष्टता के साथ ही बालक वातावरण को अनुकूल बनाने में समर्थ हो जाता है।

2. मानसिक विकास-:

शरीर श्रम बालक को पदार्थ के संसर्ग मे लाता है और पदार्थ की विभिन्न विशेषताओ से वह परिचित होता है । इस प्रकार उसे भौतिक तत्वों के क्रम का ज्ञान होता है। पदार्थों के साथ कार्य करते हुए बालक विभिन्न कच्चे पदार्थों व यंत्रों जिनको कार्य में लाता है, साफ करता है, व धार देता है, की उपयोगिता का अनुभव करता है, इस प्रकार उनका मस्तिष्क विज्ञान के अर्थ को समझने के लिये खुल जाता है ।

गांधी जी के शब्दों में –

"मेरी योजना में हाथ लिखने या चित्र खींचने से पूर्व यन्त्रों का उपयोग करते हैं । नेत्र अक्षरों के रूप और शब्दों के रूप को देखते हैं । कर्ण वाक्यों और वस्तुओं के नाम व अर्थ को सुनकर ग्रहण करते हैं ।"[1]

गांधी जी ने साक्षरता के प्रशिक्षण को शरीर श्रम से ही देने के लिये कहा है । उनका विचार है कि समस्त प्रशिक्षण स्वाभाविक प्रतिक्रियात्मक और तीव्रतम व सबसे ज्यादा सस्ता होना चाहिये । शरीर श्रम बालक की निरीक्षण, श्रम की शक्ति को विकसित करता है, क्योंकि बालक वस्तुओं को निकट से देखता है, उसका विवरण विस्तृत रूप से संगठित करता है और ठीक–ठाक उसका मापन भी

[1] हरिजन – 20–08–1938

करता है, इससे बालक का बौद्धिक विकास होता है । बालक जिस वस्तु का निर्माण करता है वह उसके श्रम का प्रतिफल होता है । इस प्रकार उसके कार्य से उसे सौन्दर्य–बोध की अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी जी का शिक्षा– दर्शन मानव शरीर व मनोविज्ञान की जड़ में निहित है । गांधी जी कहते हैं–"प्रत्येक हस्तकला की शिक्षा यांत्रिक रूप में जैसा कि आजकल दी जाती है, नहीं दी जानी चाहिये, बल्कि इसे वैज्ञानिक रूप से दिया जाये । बच्चा प्रत्येक प्रक्रिया के क्यों और कैसे को भी जाने ।"[1]

बच्चे खेल व अनुकरण द्वारा सीखना प्रारम्भ करते हैं और धीरे–धीरे वे कुछ उपयोगी वस्तुओं का निर्माण करना सीख लेते हैं । गांधी जी बालक की मूर्त प्रवृत्ति को उपयोग में लाने का लक्ष्य रखते हैं इसलिये गांधी जी बच्चों की खेल प्रवृत्ति की अवहेलना नहीं करते हैं, परन्तु वे मानते हैं कि भौतिक हस्तकला को खेल के रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिये जो भविष्य में अर्थोपार्जन का माध्यम बन सके । तकली से सूत कातने की गांधी जी की कल्पना में समस्त खेल के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त सम्मिलित हैं । डा. एम.एस. पटेल ने लिखा है कि –

"गांधी जी द्वारा अन्वेषित बेसिक क्राफ्ट बालक को जीवन संघर्ष हेतु तैयार करता है । जब हस्तकला का अभ्यास खेल–विधि से किया जाता है, तब यह प्रकृति की शिक्षा हो जाती है । जब बालक सूत कातता है तब वह अपने शरीर के अधिकार क्षेत्र में प्रवेश करता है, अपनी बौद्धिक शक्ति का प्रयोग करता है, और रूचियों को खोजता है जिनका उसके प्रौढ़ जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होता है ।"[2]

सामाजिक पक्ष-:

गांधी जी द्वारा प्रतिपादित शिक्षायोजना के अन्तर्गत श्रम के आयोजन एवं उद्योग की प्रधानता द्वारा वर्ग भेद की गहरी खाई को पाटने की व्यवस्था की गई है । शिक्षा क्षेत्र में पहले सह प्रचलित वर्ग अनुकूलन शिक्षा सिद्धान्त को समाप्त कर सामान्य एवं सार्वजनिक शिक्षा का आयोजन किया गया है । कार्य का समान

---

[1] हरिजन – 31–07–1937
[2] पटेल एम.एस. – एजूकेशनल फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी, पृष्ठ–186

रूप से बंटवारा करके समानता के आदर्श की रक्षा की गई है । श्रम की व्यवस्था और उद्योगों का चुनाव समाज में परिव्याप्त बेकारी की समस्या का उन्मूलन कर प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से गांधी जी की शिक्षा योजना सामाजिक कुशलता का निर्माण करती है । यह जीवन में सादगी उत्पन्न करती है । उनकी शिक्षा पद्धति में अनुशासनहीनता की समस्या उत्पन्न ही नहीं होती है ।

अहिंसक जनतंत्रात्मक समाज-:

मानव की जैवकीय एवं मनोवैज्ञानिक विशेषता शिक्षा व सामाजिक समुदाय को जन्म देती है और समाज बदले में उसके लिये शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था करता है । व्यक्तियों का मेल उनके प्रभावों का दूसरों पर प्रभाव, अन्दर छिपी हुई उनकी क्रियात्मकता, सामाजिक अनुकूलन की आवश्यकता का अनुभव करती है । इस प्रकार शिक्षा सामाजिक कुशलता और उनका सामाजिक पर्यावरण से अनुकूल करने में सहयोग देती है ।

गांधी जी की शिक्षा योजना में प्रेम, सत्य, न्याय, सहयोगी प्रयास, राष्ट्रीय एकता, समानता, मानव–मानव में बन्धुत्व के भाव के आदर्श पर विशेष जोर दिया गया है । गांधी जी का दर्शन उस जीवन दर्शन से कोई सम्बंध नहीं रखता है, जो आत्म सम्मानहीन समाज या समुदाय को बढ़ाने में सहयोग देता है ।

श्रम की श्रेष्ठता में गहन आस्था रखने वालों के कारण गांधी जी हस्तकला को विद्यालयीय जीवन और शिक्षा का अभिन्न भाग मानते हैं । गांधी जी ने नागरिकता को नया अर्थ प्रदान किया है । इस सम्बंध में टी.के.एन. मेनन ने लिखा है कि –

"इन सभी तथ्यों से महत्वपूर्ण बात यह है कि गांधी जी की शिक्षा योजना का लक्ष्य एक नये किस्म की नागरिकता का विकास करता है । वह शिक्षा जो दूसरों पर आश्रित, धनी या गरीब व्यक्ति का निर्माण करती है वह निन्दनीय है । उनकी योजना का लक्ष्य ऐसे कारीगर को बनाना है जो सभी प्रकार के आदरणीय कार्यों को करने तथा अपने पैर पर खड़ा होने के लिये इच्छुक है ।"

गांधी जी के अनुसार जो बच्चे अपने को किसी किस्म के हस्तकला के कार्यों में लगाते हैं तो वे सामाजिक समानता और समाज सेवा के पाठ को केवल अपने देश के लिये ही नहीं बल्कि पूरे संसार के लिये पढ़ते व सीखते हैं, क्योंकि गांधी जी पूरे विश्व को परिवार समझते हैं । इस प्रकार गांधी जी का विश्वास था कि एक सरकार वह है जो सबसे कम शासन करती है । इस प्रकार इन्होंने एक प्रगतिशील अहिंसक समाज के प्रति अपनी आस्था को व्यक्त किया है । यह समाज ऐसा होगा जिसमें वर्ग व जाति का अभाव तथा शोषण अपराध और युद्ध का चिन्ह भी दृष्टिगत न होगा । ऐसे ही समाज को गांधी जी ने सर्वोदयी समाज कहा है । सर्वोदयी समाज की विशेषताओं का वर्णन करते हुए डा. एम.एस. पटेल ने लिखा है कि –

"गांधी जी का शिक्षा दर्शन भारतीय संस्कृति, सामाजिक दशा और भविष्य की आवश्यकताओं पर आधारित है, शिक्षा के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य गांधी के सर्वोदयी समाज की अवधारणा के अनुसार समाज की रचना करना है, ऐसा समाज सत्य, न्याय और अहिंसा पर आधारित होगा । .... इस प्रकार के सामाजिक व्यवस्था की उत्पत्ति स्वयं में लक्ष्य नहीं है, बल्कि जीवन के लक्ष्य "आत्मानुभूति" की प्राप्ति का साधन है ।"[1]

आर्थिक पक्ष-:

गांधी जी की शिक्षा पद्धति बालक को स्वालम्बी व आत्मनिर्भर बनाना चाहती है ताकि समाज व राष्ट्र में आर्थिक दृष्टि से उत्पन्न होने वाली विभिन्न समस्याओं को कुछ सीमा तक हल किया जा सके । गांधी जी का विचार था कि बालक जब विद्यालय छोड़े तो अपनी जीविका कमाने योग्य हो और समाज में एक कमाऊ इकाई के रूप में प्रगट हो । उन्होंने लिखा है –

---

[1] पटेल एम.एस. – "द एजूकेशनल फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी" नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण – 1953

"आपको इस धारणा को लेकर आरम्भ करना पड़ेगा कि यदि शिक्षा को अनिवार्य बनाना है तो भारत के ग्रामों की आवश्यकताओं को देखते हुए हमें अपनी ग्रामीण शिक्षा को आत्म निर्भर बनाना चाहिये ।"

श्री जे.सी. कुमारप्पा ने लिखा है –

"गांधी जी का आर्थिक दृष्टिकोण हिंसा और असत्य के शुद्धिकरण के पश्चात का आर्थिक विचार है ।"

सामाजिक समूह के प्रत्येक सदस्य को अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कुछ कार्य करना पड़ता है । गांधी जी के अनुसार मनुष्य को दूसरों को रंचमात्र भी हानि न पहुंचाते हुए अपना कार्य करके लाभ प्राप्त करना है । प्रकृति से पूर्ण सामन्जस्य रखते हुए अपना कार्य करना ही मनुष्य का आदर्श है । क्योंकि –

"यदि मानव के मध्य शांति और भलाई को लाना है और प्राणी को सच्ची उन्नति की ओर अग्रसर करना है .... तो आर्थिक क्रिया सरल व सामान्य होनी चाहिये ।"[1]

उन्होंने आगे भी लिखा है –

"गांधी जी के आर्थिक आधार का लक्ष्य शुद्ध भौतिक लाभ प्राप्त करना ही नहीं है, बल्कि इस प्रकार की क्रिया में संलग्न मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास और चरित्र की दृढ़ता द्वारा उन्नति के मार्ग पर मानवता को विकसित करना है । किसी का आर्थिक, शारीरिक, नैतिक अथवा अध्यात्मिक लाभ किसी अन्य के आर्थिक, शारीरिक, नैतिक अथवा आध्यात्मिक हानि का कारण नहीं होना चाहिये ।"[2]

प्रमुख दार्शनिक प्रवृत्तियों का गांधी दर्शन में संगति -:

हमें यह खोजना है कि विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का गांधी के शिक्षा के सिद्धान्त में अचेतन रूप से कैसे प्रयोग हुआ है । हमें गांधी जी की शिक्षा की

---

[1] जे.सी. कुमारप्पा – सोशल एण्ड पॉलिटिकल आइडियाज आन महात्मा गांधी, पृष्ठ–37, 38
[2] जे.सी. कुमारप्पा – सोशल एण्ड पॉलिटिकल आइडियाज आन महात्मा गांधी, पृष्ठ–51

योजना तथा अन्य दार्शनिक विचारों में समानता दिखाई देती है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गांधी जी ने विभिन्न दर्शनों का अध्ययन किया था, बल्कि यह तो उनके मस्तिष्क की उपज व खोजों का प्रतिरूप था ।

<u>प्रकृतिवाद -:</u>

प्रकृतिवाद के जिस रूप ने गांधी जी को आकर्षित किया था वह था जैवकीय प्रकृतिवाद । इसका कारण यह है कि यह मानव प्रकृति पर बल देता है तथा बालक की प्रकृति का पूर्ण विकास करना चाहता है । इसलिये यह मानना कि गांधी जी पूर्ण प्रकृतिवादी थे उचित नहीं है, परन्तु उनकी कृतियों में कुछ कथन व वर्णन इस प्रकार है जो उनहें प्रकृतिवादी बनाते हैं ।

रूसो की भांति गांधी जी भी प्रारम्भिक शिक्षा के तरीकों का विरोध करते हैं । उस सभ्यता का विरोध करते हैं जो मनुष्य को प्रायः मानुषी अस्तित्व के लिये बनाती है । पारम्परिक शिक्षा व्यवस्था के विरूद्ध निन्दा वाक्य में गांधी जी ने कहा है –

"मैं विश्वस्त हूँ कि वर्तमान प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था केवल समय की बर्बादी ही नहीं है बल्कि संभावित रूप से नुकसानदेह है। अधिकांश छात्र अपने माता–पिता को छोड़ देते हैं । बुरी आदतों को अपना लेते हैं और शहरी ढंग तरीकों से प्रभवित हो जाते हैं । किसी भी विषय का अल्प ज्ञान तो हो सकता है, किन्तु वह शिक्षा नहीं होती है ।"[1]

<u>पाठ्य पुस्तक के सम्बंध में गांधी जी ने लिखा है</u> –

"जो पुस्तकें उपलब्ध है उनका कोई विशेष लाभ है ऐसा मैं नहीं सोचता हूँ, मैं यह भी आवश्यक नहीं समझता हूँ कि पुस्तकों की संख्या भार से बच्चों को लाद दिया जाये। मैंने सदैव महसूस किया है कि बच्चों की वास्तविक पाठ्य पुस्तक उनका अध्यापक है, मुझे बिल्कुल याद नहीं कि मेरे अध्यापकों ने मुझे पुस्तकों से पढ़ाया था। पुस्तक की अपेक्षा स्वतन्त्र रूप से मुझे जो उन्होंने बताया या सिखाया उन वस्तुओं का पुनःस्मरण आज भी मुझे स्पष्ट रूप से अवगत है ।

---

[1] एजूकेशनल रिकंस्ट्रक्शन – पृष्ठ–60

अपनी आंखों की अपेक्षा कानों के द्वारा बच्चों के अध्ययन करने में कम परिश्रम करना पड़ता है । मुझे यह भी याद नहीं कि मेरे बच्चों ने किसी पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ का अध्ययन किया है ।"[1]

आगे उन्होंने कहा कि –

"गांधी जी अपनी शैक्षिक योजनाओं में बालक को उचित स्थान प्रदान करते हैं । वे प्रचलित पाठ्य पुस्तकों से पूर्णतः असन्तुष्ट थे क्योंकि यह पाठ्य पुस्तकें लगभग अपने देश की सम्पूर्ण संस्कृति को त्याग कर विदेशी संस्कृति पर आधारित थे ।"[2]

गांधी जी हमारी शिक्षा व्यवस्था को विदेशी आयात की वस्तु समझते थे और इसलिये वह हमारी देश की संस्कृति के बिल्कुल अनुपयुक्त है। गांधी जी शिक्षा को ग्रामीण हस्तकला के जरिये देना चाहते थे ।

"वे आशा करते हैं कि अध्यापक ग्रामीण बालकों को उन्हीं के गांव में पढ़ायेंगे ताकि कुछ चयनित हस्तकला के द्वारा बलात् लादे गये प्रतिबन्धों और बाधाओं से मुक्त पर्यावरण में उन ग्रामीण बच्चों की क्षमताओं को विकसित किया जा सके ।"[3]

गांधी जी की स्वतन्त्रता के प्रति धारणा प्रकृतिवाद एवं आदर्शवाद के मध्य की है । प्रकृतिवादी स्वतन्त्रता का नारा लगाते हैं जबकि आदर्शवादी अनुशासन का । गांधी जी दोनों की अतिवादिता से बचते और दोनों के मध्यवर्ती मार्ग का अनुसरण करते हैं, और कहते हैं कि व्यक्ति बहकाने वाली भावनाओं का अनुसरण करने के लिये स्वतन्त्र नहीं है । ऐसी स्वतन्त्रता स्वयं त्याग देनी चाहिये । स्वतन्त्रता में विवेक, बुद्धि के उपभोग का भाग निहित है ।

"वही व्यक्ति मुक्त है जो स्वयं के प्रति सचेत है, जैसे नियमों का निर्मायक भी अपने द्वारा बनाये गये नियमों को मानता है ।"

---

[1] गांधी जी – "आत्मकथा", पृष्ठ–411, 412
[2] यंग इण्डिया – 01–09–1921
[3] गांधी जी – फारवर्ड टू बेसिक नेशनल एजूकेशन

अनुशासन की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहते हैं कि–"यदि बालक–बालिकायें अपने विद्यालयीय दिनों में अनुशासन नहीं सीखते हैं तो उनकी शिक्षा पर व्यय किया हुआ धन और समय सर्वाधिक राष्ट्रीय हानि माना जायेगा ।"

यह अनुशासन बाहर से लादा गया नहीं होना चाहिये । इसे तो जीवन के आन्तरिक स्रोत से स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होना चाहिये। गांधी जी के दृष्टिकोण में –

"स्वैच्छिक अनुशासन स्वतन्त्रता की प्रथम आवश्यकता है ।"[1]

इस प्रकार "स्वैच्छिक अनुशासन" की अवधारणा को प्रतिपादित करके गांधी जी ने आदर्शवाद व प्रकृतिवाद के अनुशासन के रूपों के मध्य निर्मित खाई पर सेतु का निर्माण किया है । इस स्वैच्छिक अनुशासन के विषय में गांधी जी ने लिखा है कि –

"यदि बच्चे अपने "स्व" को खोजना चाहते हैं तो उन्हें अत्यधिक मात्रा में स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिये । यदि वह अपनी क्षमताओं का पूर्ण विकास करना चाहते हैं तो उन्हें उचित अनुशासन व प्रशिक्षण को स्वीकार करने के लिये तैयार रहना चाहिये ।"

गांधी जी द्वारा हस्तकला पर अधिक जोर देने के कारण कुछ शिक्षाशास्त्रियों में गलत विश्वास पैदा हो गया कि गांधी की शिक्षा योजना पूर्णतया हस्तकला केन्द्रित है । यह सत्य है कि हस्तकला गांधी जी की शिक्षा योजना में एक मुख्य साधन है । साधन स्वयं में शिक्षा का केन्द्र नहीं हो सकता क्योंकि यह तो साधन ही है स्वयं में साध्य तो नहीं है । अतः यह सत्यमेव, सिद्ध हो जाता है, कि गांधी जी की शिक्षा योजना का केन्द्र बिन्दु हस्तकला नहीं वरन् बालक ही है । जाकिर हुसैन कमेटी के अनुसार –

"हम यह समझाने में असफल हो जाते हैं कि यह योजना किस प्रकार क्रियाशीलता पर आधारित है और बालक के भौतिक व सामाजिक पर्यावरण के अध्ययन पर अवलंबित है । यह योजना वर्तमान शिक्षा जो पूर्णतः पुस्तक केन्द्रित है कि अपेक्षा निःसन्देह बाल केन्द्रित है ।

---

[1] हरिजन – 18–08–1946

इस प्रकार गांधी जी का प्रकृतिवादी दार्शनिकों में महत्वपूर्ण स्थान सुनिश्चित हो जाता है । वे प्रचलित विद्यालयीय शिक्षा के विरोधी हैं । वे बालक की प्रकृति में विश्वास रखते हैं । बालक की प्रकृति का अनुसरण करने पर बल देते हैं । क्रियाशीलता पर जोर देना बालक की प्रकृति को महत्व देना है । कृत्रिमता के वह विरोधी हैं । वे किसी भी प्रकार से अति प्रकृतिवादी नहीं कहे जा सकते । रूसो की भांति वे प्रकृति व ग्रामीण पर्यावरण को आवश्यक शिक्षा अभिकरण मानते हैं, परन्तु रूसो से इस बात में भिन्न हैं और इस बात को मान्यता नहीं देते हैं कि समाज व मानव के आवश्यक प्रभाव से बालक को अलग रखा जाये । गांधी शिक्षा दर्शन में भौतिक व सामाजिक पर्यावरण एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं ।

आदर्शवाद-:

आदर्शवाद मानव की प्रतिष्ठा और उसकी प्रकृति की विशिष्टता पर बल देता है । हम जानते हैं कि मानव व्यक्तित्व श्रेष्ठ व मूल्यवाद वस्तु है और ईश्वर के श्रेष्ठ कार्यों का संगठन है । एडम्स जोर देते हैं कि शिक्षा के बहुत से आदर्शों में–"आत्मानुभव एक वह एक आदर्श है जो आदर्शवाद से विशेष रूप से सम्बंधित है ।"[1]

यह ध्यान देने योग्य बात है कि आदर्शवादी एवं प्रकृतिवादी उद्देश्यों में मुख्य अन्तर "आत्मानुभव" और "आत्मप्रकाशन" या "आत्माभिव्यक्ति" का है आत्मानुभव को संकुचित अर्थ में नहीं ग्रहण करना चाहिये ओर यह भी नहीं समझना चाहिये कि आत्मानुभव "अलगाववादी दृष्टिकोण" या स्वपूर्ण रूख का प्रतीक है । रस्क ने इंगित किया है कि –

"मनुष्य का उच्च अथवा अध्यात्मिक प्रकृति आवश्यक रूप से सामाजिक है।"[2]

---

[1] सर एडम्स – "द एवेल्यूशन आफ एजूकेशनल थ्यूरी", पृष्ठ–298
[2] रस्क – "द फिलासफिकल बेसिस आफ एजूकेशन", पृष्ठ–43

इसलिये कोई भी व्यक्ति अपनी पूर्ण सम्भावनाओं को सामज की गतिविधियों में भाग लेकर ही अनुभव कर सकता है। यदि हम आत्मानुभव के इस विश्लेषण को स्वीकार करते हैं, तो शिक्षा में सामाजिक उद्देश्य के प्रति पूर्ण न्याय करते हैं ।

आदर्शवादियों का दृष्टिकोण है कि संस्कृति, कला, नैतिकता और धर्म हमें हृदय की वास्तविकता की ओर ले जाते हैं, इसलिये शिक्षा को धार्मिक, नैतिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक होना चाहिये । आदर्शवादी शारीरिक शिक्षा के विरोधी नहीं हैं, बल्कि वे विश्वास करते हैं कि यदि समान रूप से संतुलित व्यक्तित्व प्राप्त करना है तो उपर्युक्त सभी तत्वों में से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है । गांधी जी के अनुसार मानव का सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त करना है और अपने को विश्वात्मा, जो सर्वत्र व्याप्त है से पूर्णतः परिचित कराना है । गांधी जी ने धार्मिक जीवन के पारम्परिक अवधारणा को पुनर्जीवित किया है । जीवन का लक्ष्य आत्मानुभव होना चाहिये । गांधी जी सत्यान्वेषी से यह आशा नहीं करते हैं कि वह अपने को समाज से हटा लें और एकान्त सेवी हो, मानव भीड़ से दूर जीवन यापन करें । मनुष्य को समाज में रहना चाहिये और सत्याग्रह रूपी हथियार से, उपद्रवी शक्तियों से समाज की रक्षा के लिये तैयार रहना चाहिये । मानव प्रतिष्ठा व नैतिक मूल्यों की सुरक्षा के लिये सत्याग्रह को सैदव एक हथियार बनाना चाहिये । भौतिक लाभ हेतु सत्याग्रह का प्रयोग वर्जित है । गांधी जी के शिक्षा के अन्तिम उद्देश्य में आदर्शवाद की झलक देखी जा सकती है –

"आत्म शिक्षा, शिक्षा का एक स्वतन्त्र विषय है यह बात मैंने टॉलस्टाय आश्रम के बालकों की शिक्षा आरम्भ करने से पूर्व समझ ली थी। आत्मा का विकास करने का अर्थ है, चरित्र का गठन, ईश्वर का ज्ञान तथा आत्म ज्ञान प्राप्त करना । इस ज्ञान की प्राप्ति में बालकों की सहायता करना जरूरी है और मैं यह मानता हूँ कि उसके बिना दूसरा ज्ञान व्यर्थ है और हानिकारक भी हो सकता है ।"[1]

---

[1] गांधी जी – आत्मकथा, पृष्ठ–427, स.स.मं., नई दिल्ली, अनुवादक – महावीर प्रसाद पोद्दार

अन्य आदर्शवादियों की भांति शिक्षा द्वारा गांधी जी समान रूप से संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहते थे ।

प्रयोजनवाद-:

प्रकृतिवाद और आदर्शवाद की अपेक्षा हाल में विकसित प्रयोजनवाद नवीन विचारधारा है । प्रयोजनवाद की अवधारणा यह है कि सत्य निर्णय वह है जो अनुभव में संतोषजनक परिणाम प्रदान करता है ।

प्रयोजनवाद प्रकृतिवाद के व्यक्तित्व शून्य अस्तित्व की व्याख्या का विरोध करता है और आदर्शवाद के शैक्षिक निरंकुश राज्य के सिद्धान्त के विरोध में आन्दोलन भी करता है। यह आदर्शवाद एवं प्रकृतिवाद के मिलन बिन्दु का मध्यवर्ती दर्शन है ।

प्रयोजनवाद एक दार्शनिक मनोवृत्ति ही नहीं बल्कि एक दार्शनिक विचारधारा है, जो विज्ञान, तर्क, अनुभव व विवेक पर आधारित है । मानव अनुभव ही प्रयोजनवाद का केन्द्र बिन्दु है, उसी अनुभव से वह सत्य की खोज करता है उनका निर्माण करता है । प्रयोजनवाद उसे ही सत्य मानता है जिसका जीवन में महत्व, प्रयोग व उपयोग हो ।

"गांधी जी पूर्ण सत्य में विश्वास करते हैं, किन्तु सत्य की अनुभूति के लिये प्रयोग आवश्यक है, इसलिये गांधी जी ने अपनी आत्मकथा को मेरे सत्य के प्रयोग की कहानी कहा है । समान रूप से सत्य के लिये अपने असंख्य प्रयोगों की कहानी बताना चाहते हैं । क्योंकि उनके जीवन में कुछ भी नहीं है, यदि है तो वह प्रयोग ही है, जो राजनैतिक होने के साथ–साथ नैतिक व आध्यात्मिक प्रकृति के भी हैं ।"[1]

जिन प्रयोगों का वर्णन उन्होंने अपनी आत्मकथा में किया है वे आध्यात्मिक व नैतिक हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में धर्म का सारत्व नैतिकता ही है प्रयोगवादी प्रयोजनवाद की भांति गांधी जी इस तथ्य में विश्वास करते हैं कि जो कुछ प्रयोग की कसौटी पर खरा उतरे वह सत्य है, इस प्रकार के सत्य के सम्बंध में गांधी जी

---

[1] गांधी जी – आत्मकथा, पृष्ठ–4

किसी भी प्रकार की पूर्णता का दावा नहीं करते हैं । कसौटी के योग्य सत्य गांधी जी के लिये सापेक्षिक सत्य है, इस प्रकार गांधी जी दो प्रकार के सत्य में विश्वास करते हैं, प्रथम सापेक्षिक सत्य जिसे प्रयोग की कसौटी पर कसा जा सकता है । दूसरा पूर्ण सत्य शाश्वत सिद्धान्त अथवा ईश्वर या निरपेक्ष सत्य ।

जब गांधी जी पूर्ण सत्य एवं आत्मानुभव अथवा मोक्ष की बातें करते हैं, तब वे प्रयोजनवादी नहीं प्रतीत होते हैं, इस सम्बंध में यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रयोजनवाद और आदर्शवाद के मध्य अन्तर यह है कि जिस मूल्यों को अनुभव करने के लिये प्रयत्न किया गया है और जिनका मानव ने स्वयं परीक्षण कर लिया है, उन मूल्यों को मानने में है । इस प्रकार प्रयोजनवाद गतिशील आदर्शवाद की सीमा के अन्तर्गत ही है । इस सम्बंध में रस्क ने कहा है –

"नये आदर्शवाद के विकास का प्रयोजनवाद मात्र एक स्तर है जो आध्यात्मिक व व्यावहारिक मूल्यों में एकता स्थापित करता है, और सत्यता के प्रति प्रयोजनवाद एक ऐसा आदर्शवाद है जो पूर्ण न्याय करता है जिसका परिणाम संस्कृति है, जो दक्षता का पुष्प है न कि इसके नकारात्मक रूप का ।"[1]

इन सभी विवरणों से यह अनुभव किया जा सकता है, कि शिक्षा दर्शन में गाँधी जी का प्रयोजनवादी योगदान विशिष्ट कोटि का है । बेसिक हस्तकला शिक्षा का केन्द्र बिन्दु है । पाठ्यक्रम की पाठ्यचर्या में समवाय और एकरूपता, वास्तविक जीवन से शिक्षा का घनिष्ठ सम्बंध, करके सीखने की विधि, वैयक्तिक क्रियाशीलता सामाजिक उत्तरदायित्व का ज्ञान, सत्य की खोज के साधन के रूप में प्रयोग पर जोर, ये ऐसे कुछ गाँधी के प्रमुख प्रयोजनवादी शिक्षा दर्शन की विशेषतायें हैं ।

गाँधी दर्शन का ध्यान पूर्वक अध्ययन करने से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृतिवाद, आदर्शवाद और प्रयोजनवाद एक दूसरे के पूरक हैं न कि विरोधी । आदर्शवाद के मौलिक होने के कारण प्रकृतिवाद और प्रयोजनवाद इसके केवल सहयोगी हैं । क्या रूसो ने शिक्षा दर्शन में उलझे हुए सिद्धान्तों के सम्मिश्रण को प्रस्तुत नहीं किया है ? गांधी जी की शिक्षा दर्शन उस समय प्रकृतिवाद हो जाता है जब वह बालक की प्रकृति और उसके अध्ययन के सम्बंध में विचार करते हैं ।

---

[1] रस्क – "द फिलासफिकल बेसिस आफ एजूकेशन", पृष्ठ–33

गांधी का शिक्षा दर्शन व्यवस्था में प्रकृतिवादी उद्देश्यों में आदर्शवादी और कार्य की योजना और विधि में प्रयोजनवादी है । उनके दर्शन के एक पक्ष पर जोर देना और अन्य पक्ष की अवहेलना करना उनके दर्शन के एक हिस्से को समझना है । शिक्षा दार्शनिक की हैसियत से गांधी जी की महानता इस तथ्य में है कि प्रकृतिवाद, आदर्शवाद और प्रयोजनवाद की प्रमुख प्रवृत्तियां उनके दर्शन में स्वतन्त्र व अलग नहीं हैं, बल्कि वे एकता में गुथी हुई हैं और शिक्षा के सिद्धान्त का उत्थान करती हैं, जो मानव की उच्च आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करनेकी सामर्थ्य रखती है ।

जीवन के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण ही उसकी जीवन शैली का निर्माण करते हैं । जिससे दार्शनिक विचार पुष्ट होते हैं, और शिक्षा का विकास होता है । एफ.डब्ल्यू. थामस एण्ड ए.आर. लाग ने इस सम्बंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है –

"सामान्य रूप से शिक्षा दर्शन जीवन दर्शन ही है, किसी शिक्षा दर्शन का सम्बंध प्रमुख रूप से शिक्षा के उद्देश्य, उस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु आवश्यक शिक्षा योजना, पाठ्यक्रम विधि, अध्यापक शैक्षिक संगठनों के मूल्यांकन हेतु परीक्षा मापन आदि का आयोजन जीवन के मूल्यों व आदर्शों की प्राप्ति हेतु ही होता है ।"[1]

हमने यह भी देखा है कि दर्शन अपने प्रयोजन हेतु शिक्षा पर तथा शिक्षा अपने मार्गदर्शन के लिये दर्शन पर आधारित है । अतः प्रत्येक शिक्षा दर्शनमें निम्नलिखित तीन गुण होना चाहिये –

1. शिक्षा दर्शन मात्र शिक्षा का सिद्धान्त ही न रहे, बल्कि उसे शिक्षा के क्रियात्मक व शैक्षिक विचारों के आलोचनात्मक रूप को तथा वैज्ञानिक पद्धति की बौद्धिक समझ, शैक्षिक समस्यओं के समाधान व सरलीकरण की विधि तथा सीखने वाले के व्यवहार व प्रकृति को सामाजिक सम्बंधों के सन्दर्भ में रचनात्मक स्वरूप प्रदान करना चाहिये ।
2. शिक्षा दर्शन का दूसरा गुण शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण करना है क्योंकि शिक्षा दर्शन के रचनात्मक विकास हेतु यही प्रमुख व

[1] थामस एम.डब्ल्यू. एण्ड लाग ए.आर. – प्रिंसिपल आफ माडर्न एजूकेशन बोस्टन, मिकंलिग, पुष्ठ–39

महत्वपूर्ण पद है । शिक्षा के तात्कालिक व आन्तरिक उद्देश्यों के अनुकूल पाठ्यक्रम शिक्षण विधि, संगठन की परियोजना, सहायक उपकरण तथा विशेष सामग्री को अन्तिम रूप प्रदान करना चाहिये ।

3. शिक्षा दर्शन को शैक्षिक प्रतिनिधि की योजना तथा सिद्धान्तों के मूल्यांकन और संगठन में योगदान करना चाहिये ।

शिक्षा की प्रकृति विकासशील है समाज की परम्परायें एवं परिस्थितियां दार्शनिकों के चिन्तन को प्रभावित करती हैं । उसी चिन्तन का प्रतिफल शैक्षिक उद्देश्य होता है । शिक्षा एक प्रकार की चेतना है यह एक गतिशील विषय है । अतः इसका रूप भी स्थिर नहीं रह सकता । शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य की अंतर्निहित क्षमताओं व योग्यताओं का विकास करना है । शिक्षा व्यक्ति समाज व राष्ट्र के नव निर्माण व पुनर्रचना का आधार स्तम्भ मानी जाती है ।

महात्मा गांधी की शिक्षा के उद्देश्य-:

प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य का एक निश्चित लक्ष्य होता है । परन्तु शिक्षा के उद्देश्य का प्रश्न विवादास्पद है । कुछ शिक्षाशास्त्री शिक्षा का उद्देश्य का निश्चित होना आवश्यक मानते हैं, और कुछ इस सम्बंध में विचार करना व्यर्थ समझते हैं । रॉस, रस्क तथा डे के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य निश्चित होना आवश्यक है, परन्तु जान डिवी शिक्षा के किसी भी लक्ष्य को मान्यता नहीं देते हैं, उनके अनुसार शिक्षा एक विकासात्मक कार्य है, और किसी भी विकासात्मक कार्य का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होता है । फिर भी शिक्षा के उद्देश्यों में तीन विशेषतायें होनी चाहिये –

1. "शिक्षा के उद्देश्य बालक की अन्तर्निहित क्रियाओं और आवश्यकताओं पर आधारित होने चाहिये ।"
2. "उद्देश्यों को ऐसे वातावरण का निर्माण करना चाहिये जो बालकों की स्वाभाविक क्षमताओं को मुक्त व संगठित कर सकें ।"

3. "उद्देश्य सामान्य व अन्तिमन होकर विशिष्ट एवं तात्कालिक होने चाहिये ।"[1]

विशिष्ट एवं तात्कालिक उद्देश्य का तात्पर्य व्यक्ति को सामाजिक कुशलता की प्राप्ति में सहयोग देना है । व्यक्ति में सामाजिक कुशलता का अर्विभाव तभी हो सकता है जब उनमें निम्नलिखित गुण हों –

1. **व्यवसायिक कुशलता** – "व्यक्ति में अपनी जीविका पैदा करने की योग्यता होनी चाहिये ।"
2. **नागरिक कुशलता** – "व्यक्ति को समाज का कुशल नागरिक बनाने की आवश्यकता पर बल देना चाहिये ।"
3. **निषेधात्मक नैतिकता** – "व्यक्ति में दूसरों की व्यावसायिक कुशलता में बाधा उत्पन्न करने की इच्छा न हो ।"
4. **विधेयात्मक नैतिकता** – "व्यक्ति में दूसरों की सामाजिक प्रगति में योग देने की इच्छा होनी चाहिये ।

इस प्रकार यह निर्विवाद सत्य है कि उद्देश्य विहीन शिक्षा का कोई महत्व नहीं है इसलिये शिक्षा का एक निश्चित उद्देश्य होना चाहिये ।

एडम्स ने शिक्षा को उद्देश्य रहित माना था किन्तु अपने विचारों का मंथन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि –

"आत्मानुभूति स्वयं में ज्ञानात्मक आदर्श है ।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों हेतु हुये भी दार्शनिकों ने अपने समस्त कार्यों को एक ही उत्तम लक्ष्य आत्मानुभूति हेतु निर्धारित किया है । समस्त उद्देश्य एक दूसरे से पारम्परिक रूप से जुड़े हुए हैं, भारतीय परम्परा के अनुसार गांधी जी शिक्षा को एक गम्भीर संकल्प व्यवसाय के रूप में मानते हैं । महात्मा गांधी जी के शब्दों में –

---

[1] डिवी जान – डेमोक्रेसी एण्ड एजूकेशन, न्यूयार्क, मैकमिलन, 1916, पृष्ठ 107–110
[2] एडम्स सर जान – एवल्यूशन आफ एजूकेशनल थ्योरी लंदन, मैकमिलन, पृष्ठ–146

"शिक्षा ही एक मात्र वह मूल्यवान वस्तु है जो विद्यार्थियों की क्षमताओं को इस प्रकार विकसित कर सकती है, ताकि वे अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का ठीक–ठीक समाधान करने सें समर्थ हो सकें ।"

इस प्रकार शिक्षा उद्देश्य विहीन व निश्चित निर्देशन से वंचित नहीं है परन्तु एक निश्चित लक्ष्य शिक्षण का अनुशासित निर्देशन है । महात्मा गांधी ने भिन्न–भिन्न काल व स्थान के अनुसार शिक्षा को भिन्न–भिन्न उद्देश्य अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु पूरक है । सामान्य अध्येता के लिये महात्मा गांधी का दर्शन व शैक्षिक विचार एक विरोधी सत्य का बण्डल ही प्रतीत होगा, परन्तु यदि कोई व्यक्ति उनके लेखों व भाषणों एवं कृतियों की गहराई में दृष्टिपात करेगा तो उसे अनुभव होगा कि उनकी शिक्षा के सभी उद्देश्य जीवन के विभिन्न पहलुओं को ही प्रगट करते हैं, किन्तु जब उनके दर्शन के केन्द्र में उनकी संगति कर दी जाती है तो वह स्वयं एक पूर्ण सम्बद्ध ढांचे का निर्माण कर देते हैं ।

अब हमें इस तथ्य की खोज करनी है कि उनके दर्शन में समस्त उद्देश्यों की एक पूर्ण संगति किस प्रकार घटित हुई है । महात्मा गांधी शिक्षा के एक मात्र उद्देश्य बालक का सर्वन्नोमुखी विकास मानते हैं। शिक्षा के उद्देश्य को निश्चित करते हुए उन्होंने लिखा है कि –

"शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक और मानव के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा में पाये जाने वाले सर्वोत्तम गुणों का चतुर्मुखी विकास से है ।"[1]

महात्मा गांधी जी भारत को राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक दासता के बन्धन से हमेशा के लिये मुक्त करना चाहते थे । वे साक्षरता को न तो शिक्षा मानते थे और न तो ज्ञान का आधार ही । इस सम्बंध में उन्होंने लिखा है कि –

"साक्षरता न तो शिक्षा का अन्त है और न प्रारम्भ । यह केवल एक साधन है जिसके द्वारा पुरूष व स्त्री को शिक्षित किया जा सकता है ।"[2]

---

[1] महात्मा गांधी – 31–07–1937 नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद
[2] महात्मा गांधी – "हरिजन" 31–07–1937

शरीर मन और आत्मा जिस विद्या से विकसित हों और परिपुष्ट हो वही वास्तविक शिक्षा है । शिक्षा द्वारा मनुष्य के शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक सभी गुणों का विकास होना चाहिये । असी कारण महात्मा गांधी जी अपने शैक्षिक उद्देश्यों की उपलब्धि हेतु "तीन आर" (रीडिंग, राइटिंग व अर्थमैटिक) की अपेक्षा "तीन एच" (हैण्ड, हैड व हार्ट) की शिक्षा पर बल देते हैं । इन तोनों तत्वों के सामन्जस्यपूर्ण विकास से बालक का सर्वोन्नमुखी विकास संभव है । महात्मा गांधी जी का कथन है कि –

"वाणी में उतार–चढ़ाव उतना ही आवश्यक है जितना कि हाथ के प्रशिक्षण का । शारीरिक कसरत, हस्तकला, ड्राइंग और संगीत की शिक्षा साथ–साथ दी जाये ताकि बालक–बालिकाओं के अन्दर निहित योग्यताओं को सर्वोत्तम रूप से विकसित किया जाये और शिक्षा के प्रति उनकी रूचि जागृत की जाये ।"[1]

महात्मा गांधी के विचार से हमारे जीवन का इस भौतिक एवं परलोक दोनों से सम्बन्ध है। इसलिये उन्होंने शिक्षा के उद्देश्यों को भौतिकवादी एवं आध्यात्मवादी दोनों दृष्टिकोंणों से सम्बंधित किया है ।

प्रथम – तात्कालिक उद्देश्य ।

द्वितीय – अन्तिम उद्देश्य या सर्वोत्तम उद्देश्य ।

शिक्षा के तात्कालिक उद्देश्य -:

1. जीविकोपार्जन अथवा हस्त संस्कृति (कल्चर ऑफ हैण्ड) का उद्देश्य-:

हमने देखा है कि महात्मा गांधी के शैक्षिक सिद्धान्त उनके द्वारा दक्षिण अफ्रीका के टॉलस्टाय फार्म व फोनिक्स बस्ती तथा भारत के साबरमती आश्रम व सेवा ग्राम में किये शैक्षिक प्रयोगों की उपज है । दक्षिण अफ्रीका के प्रयोगों से उन्हें यह ज्ञात हो गया था कि "बालक–बालिकाओं का सर्वतोमुखी विकास करना ही वास्तव में शिक्षा का कार्य है ।"[2]

महादेव देसाई ने इसी तथ्य को व्यक्त करते हुए लिखा है कि –

---

[1] महात्मा गांधी – 11–09–1937 नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद
[2] महात्मा गांधी – 18–09–1937, नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद

"गांधी जी ने अक्सर यह कहा है कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो बालक व बालिकाओं को पूर्ण मानव बना सके, कोई भी शिक्षा उत्तम नहीं कही जा सकेगी जो उपयोगी नागरिक तथा बालक–बालिकाओं को पूर्ण मानव नहीं बनाती है ।"[1]

अतः विद्यार्थियों की समस्त क्षमताओं को समान रूप से विकसित होने के लिये मस्तिष्क हृदय तथा हाथ इन तीनों की एकता तथा उनमें सामन्जस्य अवश्य होना चाहिये । तभी पूर्ण मानव की प्रकृति की पूर्णतः सम्भाव होगी । इसलिये महात्मा गांधी ने एक नूतन विचार हस्तकला द्वारा शिक्षा देना प्रस्तुत किया था । शिक्षा की समस्त प्रक्रिया को किसी हस्तकला या उद्योग को केन्द्र में रखकर ही परिचालित करना चाहिये, क्योंकि मानव की मौलिक आवश्यकताओं (भोजन, वस्त्र, आवास) की पूर्ति के बिना व्यक्ति में उच्च आदर्शों के प्रति विचार ही उत्पन्न न होगा । जीवकोपार्जन सम्बंधी उद्देश्य का अभिप्राय विद्यार्थी की रोजी–रोटी रूपी आवश्यकताओं की पूर्ति से है । यदि शिक्षा हमारी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती है तो वह हमारे लिये व्यर्थ है । कुछ लोगों को शिक्षा का यह उद्देश्य तुच्छ व भौतिकवादी प्रतीत होता है परन्तु यह तथ्य हमें अंगीकार करना पड़ेगा कि यदि हम भौतिक नैतिक और मानसिक प्रगति की कामना करते हैं तो हमें अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को सर्वप्रथम सन्तुष्ट करना चाहिये । इसी विचार से प्रेरित होकर महात्मा गांधी जी ने शिक्षा के तात्कालिक उद्देश्य को मनुष्य की रोजी और रोटी की समस्या का समाधान करना बताया है । वे विद्यार्थी को स्वालम्बी, आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे । स्वालम्बी शिक्षा के लक्ष्य पर महात्मा गांधी किसी प्रमाणिक ग्रन्थ का सहारा लेकर नहीं पहुंचे थे, बल्कि उन्होंने इसकी अनुभूति स्वतन्त्र रूप से की थी । यही उनकी विलक्षणता थी । इस सम्बंध में महादेव देसाई ने लिखा है कि –

[1] देसाई महादेव – प्राईमरी एजूकेशन एण्ड विलेज द इयर बुक आफ एजूकेशन सन् 1940, इवान्स, लन्दन, पृष्ठ–491

"उन्होंने किसी शैक्षिक सिद्धान्त का अध्ययन नहीं किया था । मैं यह भी नहीं सोचता हूँ कि वे 'एमील' नामक किसी ग्रन्थ के अस्तित्व के विषय में जानते थे ।"[1]

महात्मा गांधी ने स्वालम्बन शब्द को दो अर्थों में प्रयोग किया है –

1. हस्तकला केन्द्रित शिक्षा बालकों को स्वालम्बी बनाती है ।
2. यह शिक्षा स्वयं में स्वालम्बी है ।

महात्मा गांधी की इच्छा थी कि प्रत्येक विद्यार्थी बेसिक विद्यालय छोड़ने के पश्चात व्यवसाय को प्राप्त कर स्वयं स्वालम्बी बन सके । दूसरे शब्दों में नई शिक्षा हस्तकला रूपी तत्व द्वारा बालकों को अपनी जीविका कमाने का प्रशिक्षण देकर बेरोजगारी की समस्या का समाधान प्रस्तुत करेगी । इस प्रकार विद्यालयीय पाठ्यक्रम की पूर्णता के पश्चात वे स्वालम्बी बन सकेंगे ।

विद्यार्थियों को आत्मनिर्भर बनाने के लिये महात्मा गांधी बार–बार जोर देते हैं, क्योंकि उनका कहना है–"शिक्षा को बालकों को बेरोजगारी के विरूद्ध एक प्रकार की सुरक्षा देनी चाहिये । सात वर्ष का कोर्स समाप्त करने के पश्चात 14 वर्ष की आयु में बालक को कमाने वाले व्यक्ति के रूप में विद्यालय से बाहर भेजा जाना चाहिये ।"[2]

महात्मा गांधी जी की इच्छा थी कि प्रत्येक बालक अपने माता–पिता के कार्यों में सहयोग प्रदान करे । इस प्रकार की भावना की उत्पत्ति करना वास्तव में स्वयं में शिक्षा है । इस प्रकार वे शिक्षा द्वारा समाज में व्याप्त बेरोजगारी की समस्या को जड़ से काटना चाहते हैं ।

महात्मा गांधी की शिक्षा का माध्यम कर्म है -:

सन् 1902 में डा. जाकिर हुसैन ने अखिल भारतीय नई तालीम के द्वितीय अधिवेशन में शिक्षा का माध्यम कर्म अर्थात् "श्रम" की व्याख्या इस प्रकार की है –

---

[1] महादेव महात्मा गांधी – प्राईमरी एजूकेशन एण्ड विलेज द इयर बुक आफ एजूकेशन सन् 1940, इवान्स, लन्दन, पृष्ठ–436

[2] महात्मा गांधी – "हरिजन" साप्ताहिक 11–09–1937 व 18–09–1937 एन.पी. अहमदाबाद

"हम लोग केवल वर्तमान समय में ही शिक्षा का माध्यम कर्म नहीं मानते हैं, बल्कि प्रत्येक मनुष्य ने यह बात अपने तरीके से कही है । एक व्यक्ति के लिये कर्म सिद्धान्त है । .... उसे पाठ्यक्रम के विषय का एक हिस्सा बनाया जाये । दूसरे व्यक्ति के लिये "कर्म" पाठ्यक्रम का एक विषय रहना चाहिये । तीसरे व्यक्ति के लिये "कर्म" द्वारा उत्पादन होना चाहिये और कुछ ऐसे लोग भी हैं जो "कर्म" को ईश्वर का वरदान भी मानते हैं । उनकी क्रियाशीलता उनकी रचनात्मक शक्तियों का द्योतक है ।"[1]

डा. जाकिर हुसैन ने प्रत्येक प्रकार के 'कर्म' द्वारा ज्ञान प्राप्ति की ओर संकेत किया है । परन्तु गांधी जी ने 'सोद्देश्य पूर्ण श्रम की इकाई' को ही शिक्षा का माध्यम माना है । अर्थात उन्हीं कर्मों द्वारा देनी चाहिये जिनसे विद्यार्थियों की व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके ।

उत्पादक कर्म ही उपयोगी कर्म है, शिक्षा में कर्म के विषय में अन्य देशों में भी चिन्तन किया गया है ।

"रूसो के विद्यालयों में शिक्षा का सिद्धान्त मुख्यतः इसी बात पर आधारित है कि सभी शैक्षिक क्रियाशीलन 'श्रम' पर अवलम्बित रहें । वहां अध्ययन की योजना सम्मिलित एवं संश्लिष्ट समवाय के रूप में विस्तृत क्षेत्र पर आधारित है । .... विज्ञान व मानव शास्त्र के सभी विषयों को श्रम के केन्द्र बिन्दु में और समाज व प्रकृति को उसके अगल–बगल रखकर विभाजित किया गया है ।"[2]

जब से मानव के व्यक्तित्व के सामन्जस्य पूर्ण विकास की बात की गई तभी से मानव व्यक्त्त्वि के इन चार पक्षों–शरीर, हृदय, मन तथा आत्मा के विकास पर जोर दिया जाता रहा है । कर्म के प्रति इंग्लैण्ड की शिक्षा पद्धति का विचार है – "जिस समाज का बालक सदस्य होता है उसकी भलाई को ध्यान में रखते

---

[1] द टू इयर्स आफ वर्क – सेवा ग्राम, वर्धा, पृष्ठ 161–65
[2] द टू इयर्स आफ वर्क – सेवा ग्राम, वर्धा, पृष्ठ 165–66

हुए बालक की समस्त क्षमताओं का विद्यालयीय परिवेश में विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये ।"[1]

गांधी जी पूर्ण मानव विकास हेतु हृदय, मस्तिष्क या मन और हाथ तीनों की एकता पर बल देते हैं ।

महात्मा गांधी जी की शैक्षिक विचारधारा की मौलिकता इस बात में है कि वह समस्त विकास को हस्तकला की शिक्षा द्वारा ही करना चाहते हैं ।

"हरिजन साप्ताहिकी" में गांधी जी ने अपने नये विचार व्यक्त करते हुए लिखा है –

"किसी उद्योग या हस्तकला को बीच में रखकर उसके जरिये ही समस्त सामान्य शिक्षा प्रक्रिया को परिसंचालित करना चाहिये । किसी हस्तकला के विज्ञान व कला के व्यावहारिक ज्ञान के परीक्षण द्वारा ही शिक्षा दी जानी चाहिये । शरीर मन व आत्मा की सभी शिक्षायें हस्तकला द्वारा ही बच्चों को प्रदान की जानी चाहिये ।"[2]

महात्मा गांधी का उपर्युक्त विचार केवल नया ही नहीं वरन क्रांतिकारी भी है । क्योंकि मध्य युग में –

"व्यावसायिक प्रशिक्षण शैक्षिक लक्ष्य से नहीं प्रदान किया जाता था । उस समय हस्तकला, हस्तकला के लिये ही सिखायी जाती थी । बौद्धिक विकास के लिये बिल्कुल प्रयत्न नहीं किया जाता था ।"[3]

यद्यपि उपर्युक्त तथ्य से सहमत होना कठिन है किन्तु हमें इस विचार की सहमति की आवश्यकता भी नहीं है । हमें तो यह देखना है कि गांधी जी ने इस सम्बंध में क्या विचार व्यक्त किया है, गांधी जी ने कहा है –

"मैं नहीं जानता मध्य युग में क्या हुआ था । परन्तु मैं मानता हूँ कि उन दिनों मध्य युग या किसी भी युग में हस्तकला के जरिये सम्पूर्ण शिक्षा देने की

---

[1] हैण्ड बुक आफ सजेशन्स – फार दि कन्सिडरेशन आफ टीचर्स एण्ड अदर्स कन्सर्न्ड इन द वर्क आफ पब्लिक एलीमेन्ट्री स्कूल, पृष्ठ–12

[2] एजूकेशनल रिकंस्ट्रक्शन्स – हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, वर्धा, 1939, पृष्ठ–116

[3] एजूकेशनल रिकंस्ट्रक्शन्स – पृष्ठ–118

बात लोगों के सामने नहीं थी । धंधा केवल धंधे के ख्याल से सिखाया जाता था। अतः यह विचार मौलिक है ।"[1]

इससे प्रतीत होता है कि हाथ की संस्कृति की शिक्षा द्वारा सम्पूर्ण शिक्षा देने की बात महात्मा गांधी जी के अतिरिक्त अन्य किसी ने नहीं की । इनका यह विचार नया ही नहीं बल्कि क्रांतिकारी तथा मौलिक भी है ।

डा० जाकिर हुसैन ने भारत में यूनेस्को प्रोजेक्ट के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि –

"हस्तकला के जरिये शिक्षा प्रदान करने से प्रायः सभी समस्यायें हल हो जायेंगी जबकि किसी अन्य से यह सम्भव नहीं हो सकता है ।"[2]

महात्मा गांधी जी मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और आर्थिक तीनों ही दृष्टि से हस्तकला को श्रेष्ठ समझते हैं । गांधी जी के अनुसार मनुष्य ईश्वर का ही रूप है । जिस प्रकार ईश्वर सृष्टि करता है उसी प्रकार मनुष्य भी निर्मायक है । यदि निर्माण की शक्ति अथवा योग्यता का विकास शिक्षा नहीं कर सकती तो ऐसी शिक्षा व्यर्थ है । छात्रों में इस योग्यता का विकास शरीर श्रम अथवा हस्तकला की शिक्षा से ही सम्भव है । महात्मा गांधी ने अपने शैक्षिक सिद्धान्त की इस प्रकार व्याख्या की है –

"मैं मानता हूँ कि सच्ची बौद्धिक शिक्षा केवल शारीरिक अवयवों, जैसे हाथ, पैर, आंख, कान, नाक आदि के उचित व्यायाम व प्रशिक्षण के जरिये ही प्राप्त हो सकती है .... शारीरिक अवयवों का बुद्धिमता पूर्वक प्रयोग करने से विद्यार्थियों में श्रेष्ठ एवं तीव्रतम ढंग से बुद्धि का विकास से वे सभी क्षमतायें विकसित हो सकती हैं ।"[3]

किसी मूल उद्योग को केन्द्र में रखकर बालक की समस्त योग्यताओं का विकास करना ही महात्मा गांधी की शिक्षा का लक्ष्य है । गांधी जी ने कहा है कि –

---

[1] महात्मा गांधी – "हरिजन" साप्ताहिक 16–10–1937 नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद
[2] डा0 जाकिर हुसैन –यूनेस्को प्रोजेक्ट्स इन इण्डिया, पृष्ठ–22, इटैलियन माइनद्ध
[3] हरिजन – 08–05–1937

"मेरा दृढ़ विश्वास है कि इस प्रकार की शिक्षा से मस्तिष्क व आत्मा का सर्वोच्च विकास होगा । .... वैज्ञानिक ढंग से बढ़ईगीरी की शिक्षा प्राप्त शिक्षक बढ़ईगीरी के साथ–साथ गणित, लकड़ियों के भेद उसके उत्पादन क्षेत्र आदि का भी ज्ञान दे सकता है । इसी प्रकार हस्तकला के ज्ञान से गणित, भूगोल, इतिहास व कृषि शास्त्र का ज्ञान किसी को भी कराया जा सकता है ।"[1]

के.जी. मशरूवाला ने कहा है कि –" .... शिक्षा का उद्देश्य शरीर श्रम की प्रतिष्ठा, ईमानदारी से स्वश्रम द्वारा जीविकोपार्जन के कर्त्तव्य तथा सड़क पर से कूड़ा उठाने वाले मेहतर के कार्य के प्रति उत्तम भाव को पैदा करना है ।"[2]

गांधी जी के अनुसार बालक की शिक्षा में समाज व प्रकृति को भी माध्यम बनाया जाना चाहिये ।

2. ज्ञानात्मक संस्कृति अथवा मस्तिष्क की वृद्धि का उद्देश्य (नॉलेज, कल्चर ऑफ कल्ट ऑफ हेड) -:

जीविकोपार्जन के उद्देश्य के विरोधी प्रायः सांस्कृतिक या ज्ञान के विकास अथवा मस्तिष्क की वृद्धि के शैक्षिक उद्देश्य की चर्चा करते हैं और उससे उसकी अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान करते हैं शिक्षा और ज्ञान का सम्बन्ध आदि काल से कभी मुख्य कभी गौड़ रहा है तथा कभी घनिष्ठ रहा है । शिक्षा की प्रक्रिया में विद्यार्थी स्वयं ज्ञान ग्रहण करता है । आदर्शवादी प्लेटो, विचारों द्वारा ज्ञान प्राप्ति की बात करते हैं जबकि प्रकृतिवादी एवं प्रयोजनवादी अनुभव व प्रयोग से इसकी उपलब्धि मानते हैं ।

व्यक्ति एवं पर्यावरण के मध्य क्रिया–प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप जो प्राप्त होता है वह ज्ञान है । इसे संगठित, सुरक्षित, संचित करना ही शिक्षा या संस्कृति है । इस प्रकार संस्कृति स्वयं शिक्षा हो जाती है । सच्चा ज्ञान वही है जो हमारे संस्कारों में संगठित होता है जिसके द्वारा हम अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल वातावरण बनाते हैं और जिस परिस्थिति या वातावरण में हम रहते हैं उसके

[1] हरिजन – 31–07–1937
[2] हरिजन – 04–12–1937

अनुकूल हम अपनी इच्छाओं और उद्देश्यों को भी बदलते हैं । ज्ञान दो प्रकार से अर्जित किया जाता है । प्रथम–बिना शिक्षण के खोज द्वारा तथा दूसरा शिक्षण द्वारा दोनों प्रकार के ज्ञान का हमारे जीवन में महत्व होता है । किन्तु ज्ञान ही मात्र संस्कृति नहीं है । इसे सदैव ध्यान में रखना चाहिये । डा. राधाकृष्णन ने कहा है –

"वह ज्ञानजो उत्सुकता को शान्त करता है वह संस्कृति से भिन्न है । संस्कृति तो व्यक्ति को चमकाती है । संसार के नायकों की जन्म तिथि याद करना .... जहाजों के नाम याद करना तथा हाल के महत्वपूर्ण व्यक्तियों की जानकारी प्राप्त करना संस्कृति नहीं है ।"[1]

उन्होंने आगे पुनः कहा है कि – "किन्तु जीवन के तथ्यों के प्रति मानसिक गुणों द्वारा ही संस्कृति की पहचान की जा सकती है ।"[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के शिक्षाशास्त्रियों ने ज्ञान को ही अपने शैक्षिक लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन माना है ।

व्यावहरिक दार्शनिक होने के कारण गांधी जी को संस्कृति के प्रति अवधारणा विशेष रूप से गांधीवादी है । उनके अनुसार सत्याग्रही के लिये ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है, ज्ञान हृदय की संस्कृति को बहुत सहयोग देता है । प्रेम व सत्य का ज्ञान एक दूसरे के पूरक व सहयोगी भी है । अज्ञानी द्वारा प्रदर्शित प्रेम को इस संकुचित क्षेत्र से बाहर निकाल सकता है । जब मानव अपने भीतर निहित सत्यता की खोज करने में संलग्न होता है तभी सात्विक प्रेम की उपज होती है । अतएव व्यक्ति के चरित्र का मूल्यांकन करने हेतु ज्ञान आवश्यक है । बिना ज्ञान के ईश्वरानुभूति असंभव है । गांधी जी विश्वास करते हैं कि व्यक्ति व समाज दोनों का विकास जीवन के पांच नैतिक गुणों–सत्य, अहिंसा, इन्द्रिय निग्रह या आत्मनियन्त्रण, अस्तेय और अपरिग्रह पर आधारित है । उन्नतिशील नैतिकता के सम्बंध में गांधी जी ने उपर्युक्त पांच गुणों की व्याख्या अपने जीवन दर्शन के

---

[1] डा० राधाकृष्णन – "फ्रीडम एण्ड कल्चर" मद्रास नतेशन, पृष्ठ–37
[2] डा० राधाकृष्णन – पृष्ठ–23

अनुसार प्रस्तुत की है जो उनके मौलिक चिन्तन व आन्तरिक सूझबूझ का द्योतक है।

गांधी जी के अनुसर सत्य का परीक्षण व पुर्नसुधार सदैव होता रहता है। वास्तव में सत्य वह है जो – "तुम्हें तुम्हारी आन्तरिक आवाज बताती है ।"[1]

इसलिये – "उनकी सम्मति के अनुसार सत्य का अनुसरण करना किसी भी प्राणी के लिये अहितकर नहीं है ।"[2]

गांधी जी के अनुसार सापेक्षिक सत्य जो स्थिर नहीं है उसे गम्भीरता से मानते हए निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये । अहिंसा अपने क्रियात्मक रूप में –

"प्रेम के सिवा कुछ नहीं है, प्रेम अपने पड़ोसियों से अपने मित्रों से ही नहीं बल्कि उनके साथ भी करना चाहिये जो हमारे शत्रु हैं ।"[3]

गांधी जी का विश्वास था कि जो व्यक्ति मनुष्य मात्र की सेवा करने का भाव रखता है या करना चाहता है उसे प्रथमतः स्वैच्छिक विपन्नता को स्वीकार करना पड़ेगा । उसकी विपन्नता "त्याग" है जिसे व्यक्ति प्रसन्नता एवं शान्ति के सुनहरे दरवाजे के रूप में अंगीकार करता है । उसकी आवश्यकता अपरिग्रह और अस्तेय से ही है । एण्ड्रूज ने लिखा है कि गांधी जी कहते हैं कि –

"...... यदि कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक ग्रहण न करे तो संसार में विपन्नता समाप्त हो जाये और भूख से कोई व्यक्ति इस विश्व में न मरे ।"[4]

आत्म नियन्त्रण अथवा इन्द्रिय नियन्त्रण के लिये ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है । ब्रह्मचर्य अविवाहित जीवन के अपेक्षा और अधिक भाव गरिमा से युक्त है । गांधी जी ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि –

"विचार, शब्द, वाणी और कार्य तीनों में यहां तक कि समस्त इन्द्रियों में, सभी कालों में तथा सभी स्थानों में नियंत्रण करना ही ब्रह्मचर्य है ।"[1]

---

[1] यंग इण्डिया – 31–12–1937 (वीकली) नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद
[2] गांधी एम.के. – "हिन्दु धर्म" द नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद 1950ए पृष्ठ–284
[3] तेन्दुलकर डी.जी. तथा झवेरी बी.के. – महात्मा, वाल्यूम। बम्बई 1951, पृष्ठ 204
[4] एण्ड्रूज सी0एफ0 – महात्मा गांधी, आइडियाज, एलेन एण्ड अनविन, लंदन, 1929, पृष्ठ–106

स्वादेन्द्रिय पर नियन्त्रण वास्तव में ब्रह्मचर्य जीवन का साधन है । स्वादेन्द्रिय का पूर्ण नियन्त्रण समस्त इन्द्रिय का स्वयं में नियन्त्रण है । नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर ही सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन की प्रगतिशील पुनर्योजना सम्भव है । अतः शिक्षा का उद्देश्य यही होना चाहिये जिससे सामाजिक बुराई को विद्यार्थी दूर करने में समर्थ हो सके । इस सिद्धान्त के आधार पर बड़े में छोटे का समावेश होने का अर्थ ध्वनित होता है । अथवा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आध्यात्मिक स्वतन्त्रता में स्थान है ।

सर्वांगीण तथा सामन्जस्यपूर्ण विकास का उद्देश्य-:

हमने देखा है कि गांधी जी बालक का सर्वतोमुखी विकास करना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मानते हैं और इसे ही शिक्षा कहते हैं । वे बालक की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों को इस प्रकार विकसित करना चाहते हैं ताकि उनका सामन्जस्यपूर्ण विकास हो सके । उनके अनुसार सच्ची शिक्षा वह है जो हमारी भावनाओं, संवेदनाओं, जन्मजात क्षमताओं, मानसिक, शारीरिक एवं आध्यात्मिक एवं जीवन के सभी पहलुओं को समान रूप से विकसित करे । हमने देखा है कि महात्मा गांधी जी ने उद्देश्य की तह तक पहुंचने के लिये अनेक प्रयोग व व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त करने के बाद ही उसे प्रतिपादित किया है । उनके उद्देश्य प्रयोग सिद्ध हैं । अपने प्रारम्भिक स्तर पर उनका प्रयोग सीमित विद्यार्थियों पर किया गया था परन्तु बाद में यह मानव व्यवहार की जड़ तक पहुंच गया था । उनके शैक्षिक विचार मस्तिष्क की अपेक्षा अर्न्तआत्मा की पुकार से प्रभावित हैं । संस्कृति को वे मानसिक कार्य का परिणाम नहीं मानते बल्कि यह आत्मा का ही मूल है जिसे मानव व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है, व्यक्ति के व्यवहार को देखकर ही उसके संस्कृत तथा कुसंस्कृत होने की परख की जाती है सन् 1946 में कस्तूरबा बालिका आश्रम नई दिल्ली की लड़कियों को सम्बोधित करते हुए गांधी जी ने कहा है कि –

[1] यंग इण्डिया – 05–06–1926, वाल्यूम–11, गनेशन मद्रास 1927, पृष्ठ–274

"मैं शिक्षा में साहित्यिक पक्ष के बजाय सांस्कृतिक पक्ष को अधिक महत्व देता हूँ । संस्कृति बालिकाओं के लिये मुख्य वस्तु है । इन्हें अपने बोलने, बैठने, चलने, कपड़े पहनने और छोटे से छोटे कार्य एवं व्यवहार में अपनी संस्कृति को व्यक्त करना चाहिये ।"[1]

महात्मा गांधी जी इसे शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मानते हैं, उनके अनुसार हमारा मस्तिष्क द्वेष एवं अभिमान के कुहासों से इस प्रकार ढक लिया जाता है कि हम वस्तु को उसके वास्तविक रूप में नहीं देख पाते । अतः शिक्षा का कार्य यह है कि वह हमारी आत्मा पर चिपके हुए गन्दे विचारों का बोझ को और न बढ़ाये बल्कि उन्हें दूर करे ।

ट्रॉन्सवाल के टॉलस्टाय फार्म में उन्होंने यह अनुभव किया था कि यदि हृदय को सच्चा प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है तो मानसिक प्रशिक्षण बेकार हो जाता है । इसके लिये ड्राइंग्स, संगीत और हस्तकला के अध्ययन पर बल देते हैं । महात्मा गांधी ने कहा है कि –

"ट्रॉन्सवाल फार्म में मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई उन बालक बालिकाओं के सर्वांगीण विकास हेतु प्रशिक्षण देने में जिनके लिये मैं प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी था ।"[2]

यदि महात्मा गांधी जी एक व्यावहारिक अनुभवी एवं प्रयोगात्मक दार्शनिक न होते तो उनका आज शिक्षा जगत में कोई महत्व न होता ।

सर्वांगीण विकास हेतु अपनी मूर्त विधि के प्रारूप को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है –

"आपको विद्यार्थियों को एक या अन्य पेशे में प्रशिक्षत करना होगा । इस विशिष्ट पेशे को केन्द्र मानकर हस्तकला द्वारा प्राप्त ज्ञान से उनके मस्तिष्क, शरीर, आत्मा, लिखावट, सौन्दर्य भावना आदि का पूर्ण विकास भी करना है ।"[3]

---

[1] महात्मा गांधी – टू द स्टूडेन्ट, द नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1949, पृष्ठ – 291
[2] हरिजन – 18–09–1937, नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद
[3] हरिजन – 18–09–1937

गांधी जी की दृष्टि में हस्तकला की शिक्षा सर्वांगीण विकास हेतु आवश्य क है । उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि –

"अच्छा हस्तलेख शिक्षा का आवश्यक अंग है । बालकों को लिखना सीखने से पहले ड्राइंग की शिक्षा दी जाये, बच्चे को देखकर सीखने दो । जैसे ही वे अन्य वस्तुओं का चित्र खींचना सीख लें तो उन्हें सिर्फ अक्षर लिखना सीखने दो, तभी वे सुन्दर लेख प्रस्तुत कर सकेंगे ।"[1]

हम देखते हैं कि इसलिये गांधी जी तीन "आर" की अपेक्षा तीन "एच" पर विशेष महत्व देते हैं । पूर्ण मनुष्य का निर्माण करने के लिये इन तीनों "एच" हाथ, हृदय व मस्तिष्क का उचित एवं सामन्जस्यपूर्ण मिश्रण आवश्यक है ।

शारीरिक विकास का उद्देश्य-:

महात्मा गांधी जी का विश्वास है कि मस्तिष्क व हृदय का शिक्षण शरीर के अंगों के उचित व्यायाम और प्रशिक्षण पर निभर करता है । हम देखते हैं कि शरीर में ही आत्मा, मानव मस्तिष्क का निवास है । यदि शारीरिक विकास उचित रूप से नहीं होता है तो अन्य के विकास की यथार्थ कल्पना निराधार है क्योंकि "स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क" निवास करता है। अतः जीवन के आधार रूपी शरीर का पुष्ट बलवान एवं सुडौल होना आवश्यक है । संगीत विषय वैसे ही रोचक एवं आनन्ददायक है । शारीरिक प्रशिक्षण में संगीत की शिक्षा का स्वयं महत्वपूर्ण स्थान है । संगीत शरीर के आन्तरिक अवयवों को संतुलित एवं पुष्ट करती है । संगीत का और हृदय का घनिष्ठ सम्बंध है । संगीत द्वारा शरीर व हृदय दोनों शिक्षित एवं प्रशिक्षित होते हैं । गांधी जी ने इस सम्बंध में कहा है – "संगीत की शिक्षा (म्यूजिकल ड्रिल) से मैं अनिवार्य रूप से शारीरिक प्रशिक्षण देना चाहता हूँ ।"[2]

शरीर प्रशिक्षण को शिक्षा का एक भाग स्वीकार करते हुए गांधी जी ने लिखा है –

---

[1] महात्मा गांधी – "आत्मकथा" पृष्ठ–28

[2] महात्मा गांधी – एजूकेशन रिकन्स्ट्रक्शन द्वितीय संस्करण, हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, सेवा ग्राम वर्धा, पृष्ठ–63

"मैं शारीरिक शिक्षा को आवश्यक समझता था । यह शिक्षा अनायास मिल रही थी, आश्रम में नौकर तो थे नहीं, इसीलिये आश्रम वासियों को ही धुलाई करने, रसोई बनाने, बागवानी करने, गढ्ढे खोदने पेड़ काटने और बोझ ढोने के कार्य स्वयं करने पड़ते थे, इससे उनके शरीर अच्छी तरह गढ़ जाते थे । ऐसे कामों में उन्हें आनन्द आता था इसलिये उन्हें दूसरी कसरत या खेल खेलने की जरूरत नहीं पड़ती थी ।"[1]

नैतिक चारित्रिक और हृदय की संस्कृति के विकास का उद्देश्य-:

अन्य शिक्षाशास्त्रियों की भांति महात्मा गांधी भी शिक्षा का लक्ष्य नैतिक विकास करना, चरित्र निर्माण करना व हृदय की संस्कृति का निर्माण करना मानते हैं । इसलिये चरित्र निर्माण पर गांधी जी बहुत बल देते हैं ।

"पर मैंने हृदय की शिक्षा को अर्थात चरित्र के विकास को सदा प्रथम स्थान दिया है। चरित्र को मैंने उनकी शिक्षा का आधार माना है । बुनियाद मजबूत हो तो और बातें वे अवकाश मिलने पर, मित्रों की सहायता से या अपने आप सीख सकते हैं ।"[2] हम देखते हैं कि गांधी जी ने चरित्र निर्माण को बड़ा महत्व दिया है। एक बार उनसे पूछा गया—जब भारत स्वतन्त्र हो जायेगा तब आपकी शिक्षा का क्या उद्‌देश्य होगा ? उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया—"चरित्र निर्माण"। यहां तक कि ज्ञान की उपादेयता को वे मात्र चरित्र निर्माण के लिये ही मानते थे । उनके अनुसार समस्त ज्ञान का लक्ष्य चरित्र निर्माण करना ही है । स्वयं की पवित्रता का महत्व चरित्र निर्माण के लिये है । चरित्र के बिना शिक्षा, और पवित्रता के बिना चरित्र व्यर्थ है । महात्मा गांधी ने कहा है कि –

"व्यक्तिगत पवित्रता समस्त चरित्र निर्माण अथवा मजबूत शिक्षा निर्माण का आधार होना चाहिये ।"[3]

महात्मा गांधी जी विद्यालय को चरित्र निर्माण की एक संस्था मानते हैं, क्योंकि समाज अपने बच्चों को विद्यालय इसलिये भेजता है ताकि वे चरित्रवान

---

[1] महात्मा गांधी – "आत्मकथा" पृष्ठ–422–23
[2] महात्मा गांधी – "आत्मकथा" पृष्ठ–422
[3] महात्मा गांधी – "टू द स्टूडेन्ट्स" एन.पी.एच. अहमदाबाद, पृष्ठ–106

सुन्दर पुरूष व स्त्री बन कर सामाजिक गतिविधियों में अपना सुष्ठ योगदान दे सकें । गांधी जी के अनुसार ज्ञान का महत्व केवल चरित्र निर्माण के लिये ही है । गांधी जी ने लिखा है –

"यदि हमारे सभी ज्ञान, वैदिक मंत्रों का उच्चरण संस्कृत भाषा का ज्ञान, लैटिन और ग्रीक आदि भाषायिक ज्ञान हमें पूर्ण हृदय की पवित्रता के योग्य नहीं बनाते हैं तो उनकी उपयोगिता हमारे लिये व्यर्थ है । .... चरित्र निर्माण के लिये विद्यालय व कॉलेज फैक्ट्री हैं माता–पिता अपने बच्चों को वहां भेजते हैं ताकि वे सुन्दर स्त्री–पुरूष बन सकें ।"[1]

हम देखते हैं कि चरित्र का निर्माण अन्य द्वारा नहीं बल्कि स्वयं द्वारा होता है । पुस्तकों के पृष्ठों से व्यक्ति के चरित्र को नहीं बनाया जा सकता। गांधी जी के अनुसार वह निरक्षर किसान सही रूप में शिक्षित है जो साक्षर न होते हुए भी जीवन के व्यवहार करने की विधियों को भली भांति जानते हैं । "हिन्द स्वराज्य" में उन्होंने कहा है –

"किसान अपनी जीविका ईमानदारी से कमाता है .... वह जानता है कि अपने माता, पिता, पत्नी, बच्चों व ग्रामीणवासियों के साथ कैसा व्यवहार किया जाये । वह नैतिकता के नियमों का पालन करता है, परन्तु वह अपना नाम नहीं लिख सकता है । अच्छा ज्ञान देकर .... क्या आप उनकी प्रसन्नता में एक इन्च की भी बढ़ोत्तरी कर पायेंगे ?"[2] हम देखते हैं कि महात्मा गांधी जी के शिक्षा दर्शन की जड़ भारतीय जीवन और संस्कृति में है । महात्मा गांधी केवल सैद्धान्तिक विचार ही नहीं बल्कि व्यावहारिक दार्शनक हैं । जिस तत्व को उन्होंने प्रयोग किया, उनको प्रचारित किया, और जिसे प्रचारित किया उसे प्रयोग भी किया । उन्होंने लिखा है कि – "सच्ची शिक्षा साक्षरता का प्रशिक्षण नहीं बल्कि चरित्र निर्माण करना है ।"[3]

---

[1] महात्मा गांधी – "टू द स्टूडेन्ट्स" एन.पी.एच. अहमदाबाद, पृष्ठ–106–107
[2] महात्मा गांधी – "हिन्द स्वराज" गनेशन मद्रास–1921, पृष्ठ 63–64
[3] पटेल आर.एस. – गांधी जी की साधना (गुजराती) नवजीवन, पृष्ठ–111

हमने देखा है कि उनके शैक्षिक, प्रयोग का मुख्य लक्ष्य चरित्र निर्माण व सेवा करना है तथा ह्रदय की संस्कृति को विकसित करना ही रहा है । यद्यपि हमने देखा है कि महात्मा गांधी जी साक्षरता को विशेष महत्व नहीं दते हैं किन्तु वे इसको त्यागने के पक्ष में भी नहीं है, जैसा कि उन्होंने कहा है –

"परन्तु मैं समझता था कि अक्षर ज्ञान की शिक्षा तो थोड़ी बहुत देना ही चाहिये इसलिये श्री प्राण जी देसाई और श्री केलेन बैक के .... सहयोग से मैंने कुछ कक्षायें प्रारम्भ की थीं ।"[1]

आत्मानुभूति या शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य-:

गांधी जी के अनुसार शिक्ष का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति की मुक्ति है .... "सा विद्या या विमुक्तये है ।" विद्या वही है जो मुक्त करती है । गांधी जी के अनुसार मुक्ति के दो अर्थ हैं । वर्तमान जीवन में सब प्रकार की दासता से स्वतन्त्रता, वह दासता आर्थिक, राजनीतिक और मानसिक हो सकती है । जब तक मनुष्य इनमें से किसी भी एक बन्धन में बंधा हुआ है तब तक उसकी प्रगति असम्भव है । इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य सभी प्रकार की दासता के बन्धन से मुक्त करना है । दूसरे अर्थ में मुक्ति का अर्थ आध्यात्मिक स्वतन्त्रता । इस आधार पर बड़े में छोटे का समावेश करना है, अर्थात राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आध्यात्मिक स्वतन्त्रता में स्थान है । अतः शिक्षा संस्थाओं में दिये जाने वाले ज्ञान को आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का मार्ग दिखाना चाहिये । हम देखते हैं कि महात्मा गांधी जी शिक्षा द्वारा सांसारिक बन्धनों से आत्मा की मुक्ति चाहते हैं । अतः शिक्षा को चाहिये कि वह व्यक्ति को जीवन में उच्चतर आदर्शों के प्रति प्रेरित करे ।

अब हमें यह अन्वेषित करने का प्रयास करेंगे कि शिक्षा के समस्त तात्कालिक उद्देश्यों की महात्मा गांधी जी के अन्तिम उद्देश्य में किस प्रकार संगति है । गांधी जी की मान्यता है कि शिक्षा का उच्चतम उद्देश्य आत्मानुभूति व ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करना है । अन्य सभी उद्देश्य इसी उद्देश्य के अधीन हैं ।

---

[1] महात्मा गांधी – "आत्मकथा" द नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, पृष्ठ–408

मनुष्य का सभी प्रयास इसी उद्देश्य हेतु होना चाहिये । महात्मा गांधी ने लिखा है कि –

"आत्म शिक्षण शिक्षा का एक स्वतन्त्र विषय है .... आत्मा के विकास करने का अर्थ है चरित्र गठन, ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना, आत्म ज्ञान प्राप्त करना । मैं यह मानता था कि इसके बिना दूसरा ज्ञान व्यर्थ है और हानिकारक भी हो सकता है ।"[1]

और पुनः कहते हैं –"यह वहम सुना है कि आत्म ज्ञान चौथे आश्रम (सन्यास) में मिलता है । पर यह सार्वजनिक अनुभव है कि जो चौथे आश्रम तक इस अमूल्य वस्तु को मुलतवी रखते हैं वे आत्म ज्ञान नहीं पाते, बल्कि बुढ़ापा और दूसरा दया जनक बचपन पाकर "भुविभारभूता होकर जीते हैं ।"

महात्मा गांधी जी ने सन्यासी एवं ब्रह्मचारी की जीवन शैली को समान माना है । इस सम्बंध में यंग इण्डिया में लिखा है कि –

"ब्रह्मचारी व सन्यासी का जीवन आध्यात्मिक दृष्टि से समान है ।"[2]

गांधी जी प्रत्येक विद्यार्थी को सन्यासी मानते हैं । विद्यार्थियों को अपने जीवन को आत्म संयम की मजबूत नींव पर आधारित कर लेना चाहिये । हमने देखा है कि महात्मा गांधी जी हृदय की संस्कृति के प्रशिक्षण पर विशेष जोर देते हैं, क्योंकि हृदय की संस्कृति का सम्बंध चरित्र गठन एवं आध्यात्मिक स्वतन्त्रता से है । हृदय की विशिष्टताओं का प्रभाव मस्तिष्क, मन तथा हाथ की समस्त क्रियाओं पर पड़ता है । मानसिक कार्य तथा हस्तकार्य दोनों का हमारे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है । महात्मा गांधी जी अनेक उद्देश्यों को जीवन के विभिन्न पहलुओं में निष्णांत होने के लिये ही प्रस्तुत करते हैं और उन्हें एक सर्वव्यापी सर्वोच्च उद्देश्य में समाहित कर लेते हैं । आत्मानुभव रूपी उद्देश्य सभी तात्कालिक उद्देश्यों को अपने में सम्मिलित कर लेते हैं । पूर्ण रचनात्मकता एकता की तस्वीर भी प्रस्तुत

---

[1] महात्मा गांधी–"आत्मकथा" अनुवादक हनुमान प्रसाद पोद्यार, स.मा.म. नई दिल्ली–1951, दशम संस्करण, पृष्ठ–42

[2] महात्मा गांधी – 29–01–1925, अहमदाबाद

करता है । महात्मा गांधी जी का आत्मानुभव रूपी उद्देश्य काल्पनिक नहीं बल्कि व्यवहारिक है ।

गांधी जी मानते हैं कि शिक्षा को वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं के प्रति आंख नहीं मूंदना चाहिये । इसलिये अपने बाद के जीवन में स्वानुभूति के लक्ष्य पर उतना जोर नहीं देते हैं जितना कि तात्कालिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति पर देते हैं । वे एक व्यावहारिक दार्शनिक थे । इसलिये उनकी शिक्षा का सम्बंध करोड़ों भारतीय जनमानस के पालन पोषण की समस्या से जुड़ा था । इसलिये मानव के अस्तित्व के लिये उन्होंने एक ऐसे समाज की आवश्यकता का अनुभव किया था जहां शांति हो तथा उन्नति करने की अधिक सम्पन्नता हो ।

महात्मा गांधी जी ने संसार त्यागने की बात नहीं की है, बल्कि सांसारिक कार्यों को करते हुए आत्मानुभूति की ओर बढ़ने की बात की है । उनका विचार है कि यदि आत्मानुभूति के आदर्श को समक्ष रखकर जीवन के समस्त कार्यों को किया जाये तो वह संसार हमारे रहने के लिये उत्तम स्थान हो जोयगा तथा समस्त मतभेद व संघर्ष जो आज समाज की एकता को भंग करने में लगे हैं उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा और स्वर्ग और रामराज्य की कल्पना साकार हो जायेगी ।

महात्मा गांधी के अन्तिम उद्देश्य "आत्मानुभूति" का लक्ष्य मानव जाति के उच्च नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति हेतु ऊपर उठाना है जिसे प्राप्त कर वे सदैव आनन्द का अनुभव कर सकेगें । महात्मा गांधी आत्मा विहीन व्यक्तित्व की रचना व विकास में विश्वास नहीं करते हैं, बल्कि प्रेम, अहिंसा व सत्य से युक्त निर्माण की आकांक्षा करते हैं । वे व्यावहारिक स्वप्न दृष्टा थे और अपने विचारों को कार्य रूप देना जानते थे । उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि –

> "मैं स्वपन दृष्टा हूँ । वास्तव में मैं व्यावहारिक स्वप्न दृष्टा हूँ में अपने स्वप्न को वास्तविकता में यथा सम्भव परिवर्तन करना चाहता हूँ ।"[1]

आत्मानुभूति हेतु स्वयं की पवित्रता आवश्यक है क्योंकि गांधी जी के अनुसार –

---

[1] हरिजन – 19–11–1933

"ईश्वर से अलग करके अच्छाई को सोचना एक निर्जीव वस्तु की कल्पना करना है .... इसलिये सभी अच्छाईयां नैतिक हैं यदि अच्छाईयों व गुणों का वास हमारे भीतर माना जाता है तो उनहें ईश्वर से सम्बन्धित करके ही सोचा जाय और उत्पन्न किया जाये ।[1]

गांधी जी जीवन के लिये नैतिकता को बहुत महत्व देते हैं, व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति इसी पर आधारित है । प्रेम नैतिकता का सार है ।

महात्मा गांधी जी के अनुसार – "हस्तकला केन्द्रित शिक्षा" जो कर्म के दर्शन पर आधारित हैं, चरित्र निर्माण में महत्वपूर्ण कारक है, क्योंकि कर्म में मन, बुद्धि व शारीरिक अवयवों का सामन्जस्य होता है । प्रेम व सहयोग की भावना स्वयं कर्म में निहित है। अतः विद्यार्थियों को कार्य की प्रतिष्ठिा से सत्य, अहिंसा व प्रेम की वास्तविक शिक्षा प्रदान करनी चाहिये। एक सत्यवादी जीवन की समस्त समस्याओं का निर्भीकता से सामना करता है । जो कार्य से प्रेम करता है वह कर्मशील होता है ।

महादेव देसाई ने लिखा है कि – "निर्भीक एवं सत्यवादी बालक किसी भी विषम परिस्थिति में घबराता नहीं है बल्कि उसका सामना करता है .... वह अपने विद्यालय के सभी कमजोर छात्रों की रक्षा तथा जो उसकी सहायता चाहते हैं उन छात्रों की विद्यालय तथा विद्यालय के बाहर समस्त छात्रों में उसकी सहायता भी करता है ।"[2]

महात्मा गांधी जी ने स्वयं इस पवित्रता व निर्भीकता के भाव को अपने विद्यार्थियों में उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था । इसलिये वे चाहते हैं कि अध्यापकों एवं प्रोफेसरों को अन्य कक्षा विषयों की भांति अपने छात्रों को शिष्टाचार की भी शिक्षा देनी चाहिये । महात्मा गांधी जी विद्यालयों को चरित्र निर्माण की फैक्ट्री ही नहीं बनाना चाहते हैं बल्कि वे विद्यालयों से यह आशा करते हैं कि वे विद्यार्थियों को एक आदर्श पुरूष व स्त्री के रूप में परिवर्तित करने का काम

---

[1] हरजिन – 24–08–1947
[2] देसाई माहदेव – "विथ गांधी जी इन सीलोन, गनेशन मद्रास 1928, पृष्ठ–109

करेंगे । इस प्रकार हम देखते हैं कि महात्मा गांधी के उपर्युक्त शैक्षिक उद्देश्यों को मुख्य रूप से हस्त, मस्तिष्क और हृदय की संस्कृति के उद्देश्य आत्मानुभूति व सामाजिक तथा अहिंसक लोकतांत्रिक समाज की स्थापना के उद्देश्य के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है ।

1. हस्त संस्कृति
2. मस्तिष्क की संस्कृति
3. सर्वांगीण व समान्यजस्य पूर्ण विकास
4. शारीरिक विकास का उद्देश्य
5. नैतिकता, चारित्रिक व हृदय की संस्कृति के विकास का उद्देश्य
6. लोकतंत्रीय समाज की स्थापना व नागरिकता के गुणों के विकास का उद्देश्य
7. व्यैक्तिकता एवं सामाजिकता के विकास का उद्देश्य
8. आत्मानुभूति अथवा मुक्ति का उद्देश्य

यदि सामाजिक जीवन को प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों के अनुसार संगठित किया जाना है तो उसकी आधारशिला शारीरिक श्रम तथा उत्पादक कार्यों पर डालनी पड़ेगी अन्यथा वह समाज सच्वे रूप में लोकतन्त्रीय नहीं हो सकता । इसलिये ऐसी शिक्षा का आवश्यकता है जो उनमें नागरिकता के गुणों का विकास करे, बेसिक शिक्षा में इस तथ्य की ओर पूरा–पूरा ध्यान दिया गया है। जाकिर हुसैन समिति ने लिखा है –

"आधुनिक भारत में नागरिकता देश के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन में विस्तार से लोकतन्त्रीय जीवन में विस्तार से लोकतन्त्रीय होती है । .... नई पीढ़ी को अपनी समस्याओं अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को समझना चाहिये ।"

महात्मा गांधी जी के सामाजिक एवं वैयक्तिक उद्देश्य -:

गत पृष्ठों में हमने महात्मा गांधी जी द्वारा प्रस्तुत किये गये तात्कालिक एवं अन्तिम या सर्वोच्च उद्देश्यों के सम्बंध में सुविस्तार व्याख्या की है । अब हमें यह खोजना है कि महात्मा गांधी जी के शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक है या वैयक्तिक अथवा दोनों में कोई संगति है ।

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है । बिना समाज के व्यक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है । व्यक्ति समाज में ही उत्पन्न हो पुष्पित, पल्लवित होता है और उसी में उसके जीवन का अन्त भी हो जाता है। मनुष्य की समस्त क्रियायें सामाजिक पर्यावरण के सन्दर्भ में ही सम्पन्न होती हैं। इसलिये शिक्षा का एक उद्देश्य समाज की प्रगति, विकास और उसके सदस्यों के कल्याण की भावना का विकास करना भी है । शिक्षा के इस उद्देश्य के कारण वैयक्तिक विकास के पक्षीय उद्देश्य की कमियों दूर हो जाती हैं । शिक्षा व्यक्ति का विकास इस प्रकार करे ताकि वह समाज पर भार स्वरूप न होकर उसका उपयोगी एवं कमाऊ सदस्य हो सके ।

कुछ लोग शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य की अपेक्षा वैयक्तिक उद्देश्य पर विशेष जोर देते हैं । उनके अनुसार सामाजिक संस्थाओं का लक्ष्य और उनका अस्तित्व व्यक्ति के जीवन को उन्नत एवं खुशहाल बनाने के लिये ही हो । नन0 ने यद्यपि समाजिक उद्देश्य की अपेक्षा वैयक्तिक उद्देश्य पर बहुत बल दिया है । किन्तु वैयक्तिकता के अतिवादी रूप के समर्थक नहीं थे । उन्होंने लिखा है –

"व्यैक्तिकता जीवन का आदर्श है" और प्रत्येक शिक्षा व्यवस्था को "व्यक्ति" की उच्चतम "श्रेष्ठता" प्राप्त करनी चाहिये क्योंकि प्रत्येक पुरूष एवं स्त्री की स्वतन्त्र क्रियाओं द्वारा ही मानव जगत में अच्छाई फैलती है ।"[1]

अतः शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का उन्नयन करना है । अब हमें महात्मा गांधी जी के विचारों का इस सन्दर्भ में अध्ययन करना है और यह देखना है कि उनका किस ओर झुकाव है । उनके लेखों कृतियों एवं भाषणों के संग्रह के

---

[1] नन सर टी. परसी – "एजूकेशन इट्स डाटा एण्ड फर्स्ट प्रिंसिपुल्स" लंदन, एडवर्ड, आर्नोल्ड, पृष्ठ–4

अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि उन्होंने अलग–अलग समय व स्थान पर सामाजिक एवं व्यैक्तिक उद्देश्य रूपी आदर्श का समर्थन किया । महात्मा गांधी जी कहने में संकोच नहीं करते कि –

"व्यक्ति एक सर्वोच्च विचारणीय प्राणी है ।"[1]

एन.के. बोस ने गांधी जी के विचारों के सम्बन्ध में लिखा है कि –

भय के कारण राज्य की शांति में वृद्धि होती है जिसे मैं (गांधी जी) अच्छा नहीं समझता हूँ । यद्यपि शोषण को बाह्य रूप से कम करते हुए राज्य मानव की भलाई के लिये कार्य करता है, किन्तु जिस व्यैक्तिक के मूल्य में समस्त समाज की उन्नति निहित है उसका विनाश करके वह मानव जाति की बहुत बड़ी हानि ही करता है ।"[2]

इसमें सन्देह नहीं है कि महात्मा गांधी वयैक्तिकता को सुरक्षित रखना चाहते हैं क्योंकि भौतिक व आध्यात्मिक विकास के लिये वे इसकी सुरक्षा आवश्यक मानते हैं । प्रत्येक व्यक्ति में स्वयं की चारित्रिक विशेषता होती हैं प्रभाव, प्रकृति, योग्यता में कोई भी दो व्यक्ति समान नहीं पाये जाते हैं । इसलिये वे जाति, रंग, नस्ल का ध्यान दिये बिना प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व अथवा वैयक्तिकता का आदर करते हैं । उनके विचार से समाज वह है जहां सभी को अपने व्यक्तिगत चरित्र को हानि पहुंचाये बिना सम्पूर्ण मानव जाति की भलाई के लिये अपनी भूमिका निभानी पड़ती है । महात्मा गांधी जी का विश्वास है कि यदि व्यक्ति का उचित विकास किया जाता है तो समाज का जिसका वह सदस्य होता है स्वयं विकास जो जायेगा । उन्होंने लिखा है कि –

"मैं अनुभव करता हूँ कि यदि मैं व्यक्ति के चरित्र निर्माण में सफल हुआ तो समाज स्वयं अपनी देख–रेख कर लेगा ।"[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वह समाज में व्यक्ति के स्थान को कितना महत्व देते हैं । महात्मा गांधी जी राज्य व समाज में भेद नहीं मानते हैं । राज्य

---

[1] यंग इण्डिया – 13–1–1924 नवजीवन प्रेस ।
[2] बोस एन.के – "सेलेक्शन फ्राम गांधी" नवजीवन प्रेस, पृष्ठ–27
[3] वाशवर्न कार्ल्टन – "रेर्माक्स आव मैनकाइन्ड" 1932, पृष्ठ – 104–05

भी उनकी दृष्टि में एक सामाजिक संगठन है । इसलिये सामाजिक सेवा को शिक्षा का अनिवार्य हिस्सा मानते हैं । विद्यार्थियों से वे कहते हैं –

"विद्यालय में अपनी शिक्षा को जारी रखते हुए तुम्हें मेरे द्वारा दिखाये गये सेवा के आदर्श को अपने सामने रखना चाहिये, पैसा कमाने वाले आदर्श को कभी नहीं रखना चाहिये ।"[1]

इस प्रकार शिक्षा का यह भी उद्‌देश्य होना चाहिये कि वह विद्यार्थियों में त्याग व सेवा का भाव उत्पन्न कर सके, यदि ऐसा नहीं करती है तो शिक्षा की कोई उपादेयता (विनियोग) नहीं है ।

मानवता की सेवा उनके लिये ईश्वर सेवा है । इसलिये उनके उच्च आदर्श में समाज सेवा का भाव ही निहित है। महात्मा गांधी ने स्वीकार किया है –

"मैं भारत का एक तुच्छ सेवक हूँ और भारत की सेवा करने का प्रयत्न कर रहा हूँ । मैंने अपने बचपन के दिनों में ही खोज लिया था कि भारत की सेवा मानवता की सेवा की विरोधी नहीं है ।"[2]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि महात्मा गांधी ने दो विरोधी आदर्श सामाजिक उद्देश्य व व्यैक्तिक को समय–समय पर अभिव्यक्त किया है । तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि उन्होंने शिक्षा में इन दोनों उद्देश्यों की संगति किस प्रकार की है ? वास्तविक तथ्य यह है कि महात्मा गांधी जी ने दोनों विचारों के अतिवादी रूप से बचकर मध्यवर्ती मार्ग को अपनाया है । उन्होंने इन दोनों उद्‌देश्यों में संतुलन स्थापित किया है । सामाजिक सेवा का उद्देश्य व व्यैक्तिकता के विकास का उद्देश्य अलग–अलग विश्लेषित करते हुए उन्हें संश्लेषित भी किया है । उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है –

"मैं व्यक्ति की स्वतन्त्रता को महत्व देता हूँ, परन्तु तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अपनी वर्तमान स्थिति से,

---

[1] हरिजन – 10–03–1946 अहमदाबाद
[2] हरिजन – 17–11–1933, अहमदाबाद

सामाजिक उन्नति की आवश्यकताओं से, अपने व्यैक्तित्व से समायोजन की क्रिया को सीखकर ही ऊपर उठा है । अप्रतिबन्धित व्यैक्तिकता तो जंगली जानवरों का नियम है । मैंने व्यैक्तिक स्वतन्त्रता और सामाजिक प्रतिबन्ध का औसत निकालना सीख लिया है । पूरे समाज के कल्याण के लिये अपनी स्वयं की इच्छा से सामाजिक प्रतिबन्ध के अधीन होने से व्यक्ति तथा उस समाज का जिसका वह सदस्य होता है दोनों को लाभ मिलता है ।"[1]

महात्मा गांधी जी की वैयक्तिक व सामाजिक विकास में गहरी रूचि है। इसलिये दोनों की अन्योन्याश्रितता में विश्वास रखते हैं । उनका कथन है –

"मैं विश्वास करता हूँ कि यदि एक मनुष्य आध्यात्मिक विकास लाभान्वित होता है और यदि कोई व्यक्ति पतित होता है, तो सारा संसार उसी सीमा तक पतित हो जाता है ।"[2] महात्मा गांधी जी की दृष्टि में व्यैक्तिक विकास और सामाजिक उन्नति उसी सीमा तक अन्योन्याश्रित है जब तक वह एक दूसरे के पूरक हैं । महात्मा गांधी जी का विश्वास है कि व्यैक्तिकता का विकास सामाजिक परिवेश में ही हो सकता है, क्योंकि मनुष्य का स्वभाव आत्मसम्मान की भांति सामाजिक ही है । समाज से व्यक्ति व व्यक्ति से समाज को अलग नहीं किया जा सकता है । प्राचीन काल में दोनों का साथ–साथ विकास होता था और दोनों आपस में संयुक्त थे । कृपलानी के अनुसार –

"व्यक्ति व समाज की हानि पर ही इसके आपसी सम्बंधों की अपेक्षा की जा सकती है । किसी एक पर अधिक बल देना दूसरे को हानि पहुंचाना है । किसी एक पर जोर संतुलन को नष्ट करता है, क्योंकि यही संतुलन सभ्यता की शाश्वत आवश्यकता है । विश्व की अधिकांश परेशानी इसी संतुलन के कारण है । एक ओर व्यक्ति अपने उपद्रवी प्रवृत्ति के कारण समाज में भ्रम पैदा करता है, तो दूसरी ओर समाज व्यक्ति को इतना दबा लेता है कि संस्कार व व्यक्तित्व दोनों ही समाप्त हो जाते हैं और वह केवल अपने आप चलने वाला यंत्र हो जाता है ।

---

[1] हरिजन – 27–05–1939, अहमदाबाद
[2] यंग इण्डिया – 04–12–1924, अहमदाबाद

इस प्रकार व्यैक्तिकता के पूर्व पक्ष एवं समाज के ऊपर पक्ष के विपरीतार्थ के मध्य मानवता इधर उधर हिलने लगती है ।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महात्मा गांधी जी अपने जीवन दर्शन व शिक्षा में समाज व व्यक्ति के बीच उचित संतुलन संयोजन व उनकी संगति करने में सफल हुए हैं, महात्मा गांधी जी ने विश्व को यह अनुभव करा दिया है कि समाज सेवा व आत्मानुभूति के उद्देश्यों में कोई संघर्ष नहीं है । महात्मा गांधी जी ने कहा है – "मनुष्य का अन्तिम व सर्वोच्च उद्देश्य ईश्वरानुभूति करना है । व्यक्ति की समस्त क्रियाओं, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक व आर्थिक ईश्वर दर्शन के अन्तिम उद्देश्य के लिये ही निर्देशित होनी चाहिये । सभी मानवों की तात्कालिक सेवा करना हमारे प्रयत्न का अनिवार्य भाग होना चाहिये, क्योंकि ईश्वर को पाने का एक मात्र तरीका उसे उसकी सृष्टि में देखना है और उससे एकाकार होना है । .... मैं तो सम्पूर्ण का एक अंश व टुकड़ा हूँ और मैं शेष मानवता से अलग होकर उसे नहीं प्राप्त कर सकता ।"

महात्मा गांधी का आत्मानुभूति हेतु सेवा व त्याग का आदर्श शिक्षा में आधुनिक प्रवृत्तियों का विरोधी नहीं है । महात्मा गांधी जी भी व्यक्तित्व के विकास के लिये सामाजिक परिवेश का होना जरूरी मानते हैं ।

---

[1] आचार्य कृपलानी जे.पी. – "द लेटेस्ट बैण्ड" सेवाग्राम, हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, पृष्ठ–77

बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम शिक्षा के उद्देश्यों का दर्पण है -:

हम देखते हैं कि पाठ्यक्रम वह साधना है जो शैक्षिक प्रक्रिया के आधार का निर्माण करता है । पाठ्यक्रम की प्रकृति एवं विषय सूची शिक्षा के उद्देश्यों पर आधारित है, क्योंकि यदि शिक्षा को सीखने–सिखाने की प्रक्रिया माना जाये तो शिक्षा में इसके लिये एक साधन की आवश्यकता पड़ती है, वह होता है पाठ्यक्रम । किसी भी शिक्षा योजना में उद्देश्य एवं पाठ्यक्रम में निकट का सम्बंध खोजना प्रायः कठिन नहीं है ।

उद्देश्यों के आधार पर पाठ्यक्रम में भी विविधता होती है -:

सन् 1944 के शिक्षा अधिनियम में यह प्राविधान किया गया था कि शिक्षा द्वारा–

"समाज के आध्यात्मिक, नैतिक, मानसिक और शारीरिक विकास को प्राप्त किया जाना चाहिये ।"[1]

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को सर्वोत्तम विकास हेतु –

"उम्र, योग्यता और अभिरूचि को ध्यान में रखकर निर्देशन व प्रशिक्षण के लिये पाठ्यक्रम में विविधता का प्राविधान किया गया था ।"

वर्तमान युग में पाठ्यक्रम के व्यवसाय परक बनाने पर बल -:

वर्तमान युग औद्योगिकी एवं तकनीकी का युग है । वैज्ञानिक उपलब्धियों ने लोगों के दृष्टिकोण को अर्थपरक बना दिया है इसलिये कार्य को जीवन में प्राथमिकता दी जाने लगी है । शिक्षा के अर्थ का सम्बंध वर्तमान जीवन के सन्दर्भ से लगाया जाने लगा है । हम देखते हैं कि इंग्लैण्ड का शिक्षा मंत्रालय भी इस बात पर बल प्रदान करता है –

---

[1] एजूकेशन एक्ट, 1944 – एच.एम.एस.ओ. सेक्शन–7

"सभी माध्यमिक शिक्षा को व्यावसायिक शिक्षा कुछ सीमा तक अवश्य प्रदान करनी चाहिये, क्योंकि एक अच्छी शिक्षा सम्पूर्ण जीवन के लिये तैयार करती है न कि किसी विशेष जीवन पक्ष के लिये । .... माध्यमिक स्तर पर शिक्षा को पुरूष या स्त्री को समुदाय में कार्य करने के योग्य बनाना चाहिये ताकि वे जीविकोपार्जन के योग्य हो सकें ।" इस प्रकार शिक्षा का कार्य हो जाता है कि व्यक्ति को अपनी रोजी–रोटी कमाने की क्षमता पैदा करने में योग्य बनायें । सम्पूर्ण भारत की एकता को बनाये रखने में वर्तमान शिक्षा, साहित्यिक उदार शिक्षा, असमर्थ है । परन्तु हम देखते हैं कि महात्मा गांधी जी की शिक्षा योजना का उद्देश्य एक भिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम का निर्माण करना है ।

पाठ्यक्रम क्रियाशील जिम्मेदार व्यक्तियों का निर्माण करने वाला होना चाहिये-:

महात्मा गांधी जी चाहते थे कि नयी सामाजिक व्यवस्था हेतु क्रियाशील जिम्मेदार सत्याग्रही के निर्माण हेतु पाठ्क्रम का निर्धारण होना चाहिये। इसलिये इनके पाठ्यक्रम में शुद्ध साहित्यिक विषयों का अभाव पाया जाता है । लाभप्रद शैक्षिक क्रियाशीलन पर महत्व दिया जाता है । हम देखते हैं कि किसी शैक्षिक योजना के पीछे एक उपयोगी लक्ष्य होता है । बहुत पहले अरस्तु ने पाठ्यक्रम निर्माण के लिये यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि –

""इसमें कोई सन्देह नहीं कि बच्चों को वही लाभप्रद वस्तुऐं जो आवश्यक हों, पढ़ाई जानी चाहिये ।" हमारी वर्तमान पीढ़ी के शिक्षा परिषद के द्वारा ऐसा ही संकेत किया गया है ...... "पाठ्यक्रम को बच्चों में आदत, कुशलता, रूचि और भावनाओं को प्राप्त करने व विकसित करने के लिये प्रभावी होना चाहिये । क्योंकि उन्हें अपनी भलाई तथा समाज की भलाई के लिये इसकी आवश्यकता होगी ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक बालक को अपनी भाषा बोलने, पढ़ने और लिखने की योग्यता अर्जित करनी चाहिये और उन्हें कुछ ज्ञान गणित तथा नाप तौल का भी होना चाहिये । इस प्रकार उन्हें एक ओर शारीरिक स्वास्थ्य के प्रशिक्षण को महत्व तथा दूसरी ओर व्यावहारिक एवं प्रयोगिक निर्देशन के महत्व से

परिचित कराया जाना चाहिये । अतः प्रारम्भिक पाठशालाओं के पाठ्यक्रम से इन तत्वों को कदापि न निकाला जाय ।

पाठ्यक्रम के विषयों का आधार उपयोगिता होनी चाहिये -:

पाठ्यक्रम में उन्हीं विषयों को शामिल किया जाना चाहिये जो उपयोगी हों । अतः वर्तमान काल में ज्ञान व कौशल में वृद्धि करने वाले विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जा रहा है। इसलिये प्रयोजनवादी, उपयोगितावादी सिद्धान्त तथा विद्यालयीय अध्ययन विषय वस्तु को बालक की क्रियाशीलता, रूचि तथा अनुभव पर आधारित करने का पक्ष लेते हैं । आदर्शवादी महात्मा गांधी की शिक्षा योजना का लक्ष्य प्रयोजनवादियों की भांति केवल भौतिक मूल्यों के लिये बालकों को योग्य बनाना ही नहीं बल्कि पूर्व से जो मूल्य उनमें अर्न्तनिहित हैं उनकी अनुभूति कराना है । गांधी जी एक नैतिक व्यक्ति का निर्माण करना चाहते हैं क्योंकि सच्चे अर्थ में ऐसा ही व्यक्ति सामाजिक जीवन व्यतीत करने के योग्य होता है ।

बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम की विद्यालयीय क्रियाओं में दो प्रकार के कार्यों की योजना होनी चाहिये । प्रथम वर्ग की क्रियाओं को विषय के रूप में नहीं रखा जा सकता, बल्कि उसे तो सम्पूर्ण विद्यालयीय पर्यावरण में व्याप्त होना चाहिये, ताकि बालकों का चरित्र व व्यवहार उत्तम बनाया जा सके । दूसरे वर्ग की क्रियाओं में मात्रभाषा, कला जैसे संगीत एवं हस्तकला जिसमें बढ़ईगिरी, बुनाई, कताई आदि रचनात्मक कार्यों को तथा विज्ञान, गणित स्थानीय व सामाजिक विज्ञान, इतिहास, भूगोल आदि को सम्मिलित किया जाता है ।

हम जानते हैं कि मानव की आध्यात्मिक क्रियायें बौद्धिक, नैतिक एवं सौन्दर्यात्मक हैं । इन क्रियाओं का प्रयोग सत्यं शिवं और सुन्दरम्, की प्राप्ति के लिये होना चाहिये । व्यक्तित्व के समरूप विकास हेतु शरीर रक्षात्मक क्रियाओं को पाठ्यक्रम में स्थान देना चाहिये क्योंकि बिना शारीरिक स्वास्थ्य एवं आध्यात्मिक वृद्धि के शिक्षा व व्यक्ति दोनों अपाहिज हो जाते हैं ।

पाठ्यक्रम के विषय जीवन से सम्बन्धित होने चाहिये-:

हम जानते हैं कि शिक्षा जीवन के लिये होती है । बालक के शरीर मन व आत्मा की क्षमताओं का विकास ही सम्पूर्ण जीवन का विकास माना जाता है । शिक्षा व पाठ्यक्रम दोनों का जीवन से घनिष्ठ सम्बंध है । महात्मा गांधी ने इसी कारण इन क्षमताओं के विकास के लिये हस्तकला केन्द्रित पाठ्यक्रम पर बल प्रदान किया है । हस्तकला का जीवन से घनिष्ठ सम्बंध है, जीवन से सम्बन्धित पाठ्यक्रम के मौलिक अर्थ की व्याख्या करते हुए एरिक जेम्स ने लिखा है कि –

"जिन लोगों ने व्यावहारिक क्रियायें कभी नहीं की हैं .... वे जीवन से सम्बन्धित तथ्य के प्रति स्पष्ट विश्लेषण करने में असमर्थ होते हैं, परन्तु सत्य तो यह है कि सौन्दर्यात्मक अनुभव दार्शनिक चिन्तन, नैतिक व राजनैतिक समस्याओं से सम्बंधित वाद–विवाद जीवन से किसी भी प्रकार असम्बन्धित नहीं हैं .... पाठ्यक्रम का सम्बन्ध हमारे जीवन से होना चाहिये ।"

उत्तम प्रकार के पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विशेषतायें होनी चाहिये -:

1. पाठ्यक्रम में शिक्षा के उद्देश्य की छाप हो ताकि संसार को बालक समझ सके ।
2. पाठ्यक्रम की शिक्षा से बालकों को सामुदायिक जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव हो ।
3. विषयों द्वारा जीवन के महान कार्यों एवं आदर्शों को उद्घाटित करने की खोज की जाये ।

हमने गत पृष्ठों में देखा है कि महात्मा गांधी का शिक्षा का उद्देश्य हस्त, मस्तिष्क एवं ह्रदय की संस्कृति के विकास पर बल देने के कारण पाठ्यक्रम में तीन 'आर' (पढ़ना, लिखना और गणित) की अपेक्षा तीन 'एच' से सम्बन्धित विषयों को शामिल किया गया है । सन् 1953 के माध्यमिक शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन का कहना था कि –

"माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य अच्छे नागरिक बनने के लिये प्रशिक्षित करना है ताकि देश के नव युवक आर्थिक विकास और समाज की पुर्नरचना करने में अपनी भूमिका को प्रभावी ढंग से अदा कर सकें ।"

स्पष्ट चिन्तन, विचार, ग्रहणशीलता, अनुशासन, सहयोग, सामाजिक, संवेदनशीलता, धैर्य व देशभक्ति की भावना के विकास के साथ–साथ सर्वाधिक महत्व की वस्तु है–"उत्पादनशीलता, तकनीक एवं व्यवसायिक दक्षता" का विकास करना । महात्मा गांधी के विचार से मुदलियार आयोग के विचार साम्य रखे हैं, किन्तु महात्मा गांधी के विचारों में नवीनता यह है कि इन्होंने उपर्युक्त विचारों में "सत्य", "अहिंसा" और "प्रेम" को और जोड़ दिया है । बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में क्रियाशीलन को विशेष महत्व दिया गया है । महात्मा गांधी जी का मत है कि "मैं सर्वप्रथम बच्चों को उपयोगी हस्तकला सिखाऊंगा ताकि जिस समय वह शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ करे, उस समय से उत्पादन करना भी शुरू कर दे ।" इस प्रकार हम देखते हैं कि महात्मा गांधी उपयोगी क्रियाशीलन को महत्व देते हैं ।

समाज का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम -:

1. आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उत्पादन करना ।
2. समाज को व्यवस्थित करना ।
3. प्रकृति के साधनों को खोज करने के रूप में विभाजित है ।

इसलिये महात्मा गाँधी का पाठ्यक्रम उद्योग, समाज एवं भौतिक परिवेश केन्द्रित हैं । उनका कथन है कि – "इस प्रकार की शिक्षा से मस्तिष्क एवं आत्मा का सर्वोच्च विकास होगा। हस्तकला ..... की शिक्षा वैज्ञानिक ढ़ंग से दी जायेगी । बालक हस्तकला के प्रत्येक प्रक्रिया के कारणों को समझता जायेगा ।"

शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो -:

महात्मा गाँधी के अनुसार बच्चों की शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिये । मातृभाषा को पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करने में बल देते हैं ।

मातृभाषा का उचित शिक्षण समस्त शिक्षा का आधार है प्रभावी ढ़ंग से बोलने, परिशुद्ध एवं स्पष्ट रूप से पढ़ने व सीखने की क्षमता के बिना कोई भी व्यक्ति अपने विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर सकता हैं । ...... सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि मातृभाषा ...... उनको सम्पन्न वंशानुगत संस्कृति और पूर्वजों के विचारों भावनाओं एवं आंकाक्षाओं से परिचित करती हैं ।

इस प्रकार यह समाजिक शिक्षा का महत्वपूर्ण साधन हैं ।

समवाय शिक्षा -:

बेसिक शिक्षा आयोग समाज एवं प्रकृति इन तीनों में समवाय करके आगे बढ़ती हैं । ज्ञान की अखण्डता को ध्यान में रखकर विषयों को सम्बन्धित करके पढ़ाना ज्ञान की रक्षा करना तथा सामाजिक एवं प्राकृतिक परिवेश में सह सम्बन्ध की अनुभूति कराना भी है । मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति अनेक क्रियाशीलनों के चाहें वे रचनात्मक हो या सृजनात्मक या रंजनात्मक हो करना पड़ता है । उसी प्रकार सूत कातने या उत्पादन की प्रक्रिया के माध्यम से गणित, इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, साहित्य की जानकारी दी जा सकती है ।

स्वालम्बन -:

महात्मा गाँधी ने लिखा है कि "आपको इस निष्ठा से काम करना होगा कि भारतवर्ष में गाँव की आवश्यकतायें क्या है तथा उनके अनुकूल इस शिक्षा को अनिवार्यतः स्वालम्बी बनाना ही होगा ।"

शिक्षा योजना की सफलता उसके स्वालम्बी बनने पर ही आंकी जा सकती है । कार्य का चुनाव यदि विकास को दृष्टि में रखकर किया जायेगा और समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल होगा तो आर्थिक पहलू के दोष से बचा जा सकता है । इस प्रकार हम देखते है कि वह बेसिक शिक्षा जीवन की ठोस परिस्थितियों पर आधारित हैं । वस्तुतः बेसिक शिक्षा "जीवन द्वारा जीवन के लिये हैं ।"

प्रौढ़ शिक्षा -:

महात्मा गाँधी के समस्त नागरिकों को चाहें वे युवक हो या वृद्ध सभी की शिक्षा का प्रबन्ध करने के पक्षधर है । हमने देखा है कि टॉलस्टाय फार्म, फीनिक्स बस्ती, साबरमती आश्रम सभी जगह इन्होनें सभी को साक्षर बनाने का प्रबन्ध कर रखा था । बेसिक शिक्षा की योजना व पाठ्यक्रम की विषयवार सूची महात्मा गांधी जी की बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम "क्रियाशीलता युक्त पाठ्यक्रम" है । इसके निम्न लिखित विषय है –

1. बेसिक क्राफ्ट या हस्तकला
2. मातृ भाषा
3. गणित
4. सामाजिक अध्ययन
5. समाज विज्ञान
6. चित्रकला
7. संगीत
8. हिन्दुस्तानी

उपर्युक्त सभी विषय मूल उद्योग को आधार मानकर उससे ही सम्बन्धित करके पढ़ाये जाते है । जिन विषयों का आपस में स्वाभाविक सम्बन्ध रहता है । उन्हें एक ही ज्ञान के क्षेत्र में रखा जाता है । जैसे इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र को समाजशास्त्र के अर्न्तगत रखा जाता हैं ।

शिक्षण विधि -:

यद्यपि महात्मा गाँधी एक धार्मिक व्यक्ति थे । किन्तु मानव व्यवहार क्षेत्र के विशेषज्ञ भी थे । इसीलिये उन्होनें क्रियात्मक विधि – करके सीखने, स्वानुभव द्वारा सीखने जैसी विधियों का महत्व दिया है । क्रिया द्वारा ज्ञान को विकसित करना उसकी शिक्षण विधि का मुख्य आधार हैं ।

हमने देखा है कि महात्मा जी उद्देश्य पूर्ण शिक्षण व निर्देशन में विश्वास करते है किन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि बालक को केवल पढ़ाया जाय और सीखने के लिये अवसर न दिया जाये । महात्मा गाँधी जी प्रकृतिवादियों और प्रयोजनवादियों की भांति अधिगम की क्रियाशीलन विधि (एक्टीविटी मेंथड) के

पक्षधर हैं । क्योंकि उन्होनें अन्य आदर्शवादियों की अपेक्षा शिक्षा की आधुनिक विधियों के निर्माण एवं खोज में अधिक योगदान दिया है । गाँधीवादी विचारधारा की कुछ विशिष्ट विशेषताओं के कारण—बेसिक शिक्षण विधि प्रोजेक्ट विधि की अपेक्षा पूर्णतः नवीन है । हस्तकला केन्द्रित शिक्षण विधि की उपज शैक्षिक उद्देश्यों से हुयी है । यही इस विधि की विशेषता हैं ।

प्रकृतिवादी, आर्दशवादी तथा प्रयोजनवादी समस्त शिक्षा शास्त्री प्रायः इस बात पर सहमत कि विद्यालयों में शिक्षा इस प्रकार दी जानी चाहिये ताकि बालक की क्रियाशीलता रूपी शक्ति का प्रवाह रूक न सकें । विद्यालय की समस्त क्रियाओं में चाहें भाषा सम्बन्धी कार्य हों, या गणित या भूगोल इतिहास तथा विज्ञान को सीखने सम्बन्धी कार्य हों, बालक ही करने वाला एवं सृष्टा है इसलिये अन्वेषण तथा क्रियाशीलन का आनन्द प्राप्त करने का उसे ही अधिकार हैं । "बोर्ड ऑफ एजुकेशन" के अनुसार प्राइमरी विद्यालयों में –

"पाठ्यक्रम क्रिया प्रधान तथा अनुभव प्रधान होना चाहिये। उसे ज्ञान व तथ्यों को संगठित कराने तथा प्राप्ति कराने वाला नहीं होना चाहिये ।"

इस प्रकार हम देखते है कि माध्यमिक पाठ्यक्रम और विधि का सम्बन्ध– गाँधीवादी विचार का उत्तरदान ही हैं न कि पाश्चात्य विचारों का अनुकरण । हम जानते हैं कि –

"कठोर प्रकृतिवाद मस्तिष्क का सिद्धान्त है जो .... तर्क एवं सत्य का आश्रय तो लेता हैं किन्तु भावनात्मक .... मूल्य के प्रति स्वाभाविक रूप से उदासीन है महात्मा गाँधी ने इस कठोर – प्रकृतिवाद के सिद्धान्त में भावना का पुट दे दिया था ।" महात्मा गाँधी रूसो की भांति पारम्परिक शिक्षा की व्यवस्था व पुस्तकीय शिक्षा का मानव को उपजीवी बनाने वाली सभ्यता का विरोध करते है । महात्मा जी बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देने के पक्षधर नही हैं । वे इस बात को मान्यता देते है कि बालक की प्रकृित और उसका ग्रामीण पर्यावरण शैक्षिक प्रक्रिया में महत्वपूर्ण अभिकरण है । सामाजिक व भौतिक दोनों पर्यावरण पर बल देते हैं और प्रयोजनवादियों की भांति –

"क्रियात्मक व्यक्ति ही विकास की खोज करते है जो क्रियात्मक समाज पर और अधिक क्रियाशीलन प्रभाव डालने में सफल हो सकें ।"

इसी तथ्य के कारण प्रयोजनवादी शिक्षण विधि तथा महात्मा गाँधी की शिक्षण विधि में समानता पायी जाती है । महात्मा गाँधी बालक को मूल्यों का निर्माता एवं सत्यान्वेषी मानते हैं । वे चाहते है कि बालक उद्‌देश्य पूर्ण क्रिया के द्वारा स्वंय करके सीखे । उनकी "हस्तकला केन्द्रित शिक्षा" बालक की रूचि एवं क्रिया के सिद्धान्त पर आधारित बालकेन्द्रित है । महात्मा गाँधी का विद्यालय होने के नाते चिन्तनशीलन शिक्षालय भी हैं, क्योंकि इन्होनें अनुभव किया था–

विचारशील व कार्यशील के रूप में समाज समान रूप में दो वर्गो में विभाजित हो गया है । एक वर्ग कर्मशील, दूसरा विचारशील अथवा कर्मशील वर्ग था । इस प्रकार का विभाजन एक सच्चे लोकतन्त्र के लिये उचित नहीं हैं । इसलिये कार्य एवं विचार में सामन्जस्य होना चाहिये । यद्यपि विचार कर्मविलीन हो जाता हैं और कर्म से विचार–नूतन विचार उद्‌भूत होते हैं । अतएवं विचार एवं कर्म एक ही तत्व के दो पहलू हैं किन्तु समग्र रूप से एक ही है । लोकतन्त्र में वर्ग विभाजन अक्षम्य हैं । अपनी हस्तकला केन्द्रित शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होनें स्वयं कहा हैं कि –

"मेरी योजना (जॉन डीवी की योजना से) बिल्कुल भिन्न हैं, क्योंकि यह ग्रामीण योजना हैं।"

बेसिक शिक्षा का सामाजिक निहितार्थ (इम्पलीकेशन) ही इसका महत्वपूर्ण व जीवन्त भाग हैं । विद्यालीय चयनित हस्तकला को ग्रामीण अवश्य होना चाहिये जो उस विद्यालय में अध्ययनरत छात्रों की आवश्यकताओं के अनुरूप हों । जबकि कोई भी क्रिया प्रोजेक्ट हो सकती हैं यही दोनों में सर्वाधिक अन्तर हैं । बेसिक शिक्षा पद्धति विषयों के तार्किक एवं व्यवस्थित शिक्षण पर बल देती हैं । बेसिक हस्तकला में आर्थिक सम्भावनायें भी आवश्यक रूप से निहित होती हैं । अतएव उत्पादनशील हस्तकला का होना आवश्यक हैं ।

महात्मा गाँधी केवल उद्योग या हस्तकला के रूप में ही इसकी शिक्षा देना नही चाहते थे बल्कि इसके माध्यम से सारी शिक्षा प्रदान करना चाहते थे । गाँधी जी का कथन है कि –

"इस तकली का सबक हमारे विद्यार्थियों का प्रथम पाठ होगा, जिसके जरिये वे कपास का, लंकशायर का, और अंग्रेजी राज्य का बहुत कुछ इतिहास जान जायेगें । यह तकली कैसे चलती हैं, इसका क्या उपयोग है और इसके अन्दर क्या – क्या ताकत हैं वो सब बालक खेल–खेल में ही जान लेता हैं ।"

इस प्रकार एक मनोवैज्ञानिक की भांति गाँधी जी "खेल विधि" की भी वकालत करते हैं । बालक के प्रशिक्षण का प्रारम्भ वर्णमाला अथवा पढ़ने–लिखने की शिक्षा से करना महात्मा गाँधी जी बालक के बौद्धिक व शारीरिक विकास में अवरोध उत्पन्न करना मानते थे । इसलिये इतिहास, भूगोल, गणित तथा कताई की कला के प्रारम्भिक ज्ञान के बिना वर्णमाला का ज्ञान देना वे नही चाहते थे । महात्मा गाँधी की इस प्रकार की व्यवस्था में "लाआफरेडीनेस" (तत्परता) तैयारी का नियम लागू होता हैं । बालक के सीखने की गति की तीव्रता को देखकर "कला" की शिक्षा देने के वे समर्थक रहे हैं । कला का ज्ञान हस्तलेख पर प्रभाव डालता है । इसलिये वे सुलेख को महत्व देते हैं ।

"सुलेख को मैं सुन्दर कला मानता हूँ , वर्णमाला के लिखावट के बालक पर लाद कर तथा इसके द्वारा उनकी शिक्षा को प्रारम्भ करके हम सुलेख की हत्या करते हैं ।"

इस प्रकार महात्मा गाँधी की शिक्षा योजना की सम्पूर्ण प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक आधार पर टिकी हुयी हैं ।

<u>समवाय विधि</u>-:

बेसिक शिक्षा में समवाय का बहुत महत्व हैं । यहां ज्ञान व कर्म में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया जाता हैं बेसिक शिक्षा में हस्तकार्य के साथ मानसिक व बौद्धिक कार्य को ही स्थान नहीं दिया गया है । बल्कि जीवन की ठोस परिस्थितियों और क्रियाओं के द्वारा ज्ञान प्रदान करने की व्यवस्था की गई ।

एक विषय का दूसरे विषय से सम्बन्ध स्थापित करना ही समवाय नही हैं, बल्कि बालक के पूर्व ज्ञान या अनुभव का उसके जीवन से सम्बन्ध स्थापित करना भी समवाय में शामिल हैं । समवाय विधि से शिक्षण के अनेक लाभ है –

1. ज्ञान की समग्रता एवं एकत्व की अनुभूति
2. अध्यापन में रोचकता का विकास
3. पाठ्यक्रम का भार कम होना
4. विषयों का स्पष्ट होना
5. बालकों के व्यवहारिक ज्ञान में वृद्धि
6. विशिष्टीकरण के दोषों कोदूर करना
7. अनुभवों का सम्बन्धीकरण
8. बालक के सर्वांणीण विकास में सहायता
9. समय की बचत

इस प्रकार हम देखते है कि बेसिक शिक्षा में जिन विधियों का प्रयोग किया जाता है वे सभी मनोविज्ञान सम्मत है । सार रूप कहा जा सकता हैं कि महात्मा गाँधी ने –

1. करके सीखना
2. स्वानुभव द्वारा सीखना
3. क्रियाशीलन विधि
4. निरीक्षण विधि
5. आगमन तथा निगमन विधि
6. सहसम्बन्ध या समवाय विधि
7. हस्तकला केन्द्रित विधि को–शिक्षण की प्रमुख विधियां मानी है । इसके अतिरिक्त श्रवण, मानव निधिध्यासन, व्याख्यान तथा प्रश्नोत्तर विधि को सह शिक्षण–विधि के रूप में इन्होने मान्यता दी है।बेसिक शिक्षा के शिक्षण में उपयोगिता, क्रियाशीलता अनुभव तथा सानुबन्धता के सिद्धान्त का पूर्णतः पालन होता है ।

अध्यापक -:

बेसिक शिक्षा योजना में अन्तदृष्टि एवं आवश्यक योग्यता युक्त अध्यपाकों की आवश्यकता है । इस योजना में शिक्षण को रूचिकर एवं सरल बनाने का प्रयास किया जाता है । इसके योग्य अध्यापक की आवश्यकता होती है । महात्मा गाँधी जी का कथन है कि –

"नई तालीम के शिक्षक के गीता के द्वितीय अध्याय में वर्णित एवं बुद्धिमान व्यक्ति की समस्त अच्छाइयों तथा योग्यताओं को अवश्य धारण करना चाहिये ।" उन्होनें पुनः कहा है कि – "यदि वे सत्य और अहिंसा में विश्वास करते है तो अपने कार्य को सर्वाधिक प्रभावशाली ढ़ंग से सम्पादित और चुम्बक की भांति कठोरतम ह्रदय वाले व्यक्ति को अपनी और आकर्षित कर सकते है ।"

वे पुनः कहते है कि अध्यापक को असीम धैर्य और –

"प्रेम को भी छात्रों के प्रति धारण करना चाहिये, केवल प्रेम ही नही बल्कि उन्हें बच्चों का आदर भी करना चाहिये ।"

महात्मा गाँधी जी की धारणा है कि आध्यापकों को –

"ईमानदारी, बौद्धिकता, साहस के साथ तथा एक महान विश्वास एवं चरित्रवान की तरह अपना कार्य पूरा करना चाहिये ।"

उसी क्रम में उनका यह कथन है कि – "उन्हें अपने विद्यार्थियों का माता–पिता भी बनना होगा और यह जानना होगा कि उनकी क्या – क्या आवश्यकता है वे क्या चाहते हैं, उसे उन्हें पूरा करना तथा प्रदान करना होगा ।"

अध्यापक के उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य की ओर संकेत करते हुये उन्होनें कहा हैं कि – "उन्हें प्रत्येक छात्र का व्यक्तिगत इतिहास तथा उनके माता – पिता के विषय में जानकारी रखनी होगी ।"

बेसिक शिक्षा की सफलता के लिये बुनियादी शिक्षा के शिक्षकों में अधोलिखित गुण होने चाहिये –

व्यक्तित्व -:

एक शिक्षक का सर्वप्रथम गुण उसका सर्वांगीण विकसित व्यक्तित्व है बालक की प्रवृत्ति अनुकरण प्रिय होती है अनुकरण करके सीखने की प्रक्रिया में शिक्षक का स्थान महत्वपूर्ण हैं । अध्यापक अपने चरित्र व व्यक्तित्व से छात्रों के चरित्र व मन को सर्वाधिक रूप से प्रभावित करता हैं । अतः शिक्षक को स्वस्थ, उच्च नैतिक चरित्र विकसित मन मस्तिष्क तथा श्रेष्ठ सामाजिक गुणों से युक्त होना चाहिये चरित्र की सामाजिक लपेट व्यक्तित्व की अपेक्षा कहीं अधिक हैं । आर.एम. ओगडन के अनुसार –

"व्यक्तित्व मनुष्य के आन्तरिक जीवन की अभिव्यक्ति हैं तथा चरित्र उसकी क्रियाओं या सफलताओं की अभिव्यक्ति हैं ।" अध्यापकों को श्रव्य–दृश्य साधनों के प्रयोग करने की विधि का ज्ञाता, स्वाध्यायी तथा आधुनिक पत्र–पत्रिकाओं के अध्ययन में रत रहना चाहिये । रविन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा हैं कि –

"एक शिक्षक कभी सच्चाई के साथ नहीं पढ़ा सकता जबकि वह स्वयं नही सीखता हैं ।" शिक्षक को स्वयं प्रयोगात्मक एवं अनुसंधान के कार्य में लगा रहना चाहिये विचारवान, बर्हिमुखी व्यक्तित्व वाले अध्यापक ही श्रेष्ठ शिक्षक की कोटि में आते हैं । अतः धैर्य, निष्पक्षता, न्याय, सहयोगात्मक भाव, प्रेम व सहानुभूति, प्रसन्नता, मिलन, सारिता, विनोद प्रियता, मितभाषिता, श्रम व कर्म के प्रति निष्ठा उच्च विचार, सादा जीवन, उदारता, सानिध्यता, नेतृत्वशीलता आदि सामाजिक गुणों का होना बुनियादी शिक्षक में आवश्यक हैं । उसे मातृभाषा पर पूर्ण अधिकार होना चाहिये । पाठ्यक्रम में निर्धारित विषयों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये, बेसिक शिक्षा पद्धति में लगे हुये एक शिक्षक को कलात्मकता का ज्ञान होना चाहिये, महात्मा गाँधी चाहते थे कि बालकों में सृजनशीलता का विकास हो यह शिक्षक के स्वयं सृजनशीलता सम्पन्न होने पर ही सम्भव होगा । शिक्षक को आधुनिक शिक्षण पद्धतियां एवं श्रव्य–दृश्य उपकरणें के प्रयोग करने का भी ज्ञान होना चाहिये ।

उपर्युक्त सभी कार्य को केवल अच्छे ढ़ंग से एक प्रशिक्षित अध्यापक ही कर सकता है । अतः उसका प्रशिक्षित होना अनिवार्य हैं ।

विद्यालय का स्वरूप -:

अब हमें बेसिक शिक्षा पद्धित में विद्यालय के स्वरूप पर विचार करना हैं । इस पद्धिति में विद्यालय का स्वरूप आवासीय होता है । महात्मा गाँधी के शिक्षा दर्शन में इन आर्दशवादी, प्रकृतिवादी तथा प्रयोजनवादी दर्शन के तत्वों को आसानी से खोज सकते हैं इसलिये इनकी विद्यालयीय अवधारणा में तीनों वादों की झलक मिलती हैं । बुनियादी शिक्षा का लक्ष्य बालक का सर्वांगीण शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास करना है । इसलिये विद्यालय का स्वरूप भी तदनुकूल ही होता हैं । बुनियादी शिक्षालय वर्कशाप अर्थात कार्यशाला, प्रयोगशाला के रूप में होता हैं, क्यों कि महात्मा गाँधी ने "हरिजन" में अपने विचार प्रकट करते हुये लिखा है कि –

"स्थानीय उद्योग हस्तकला ही शिक्षा की धुरी हैं, इसके द्वारा ही अन्य विषयों की शिक्षा प्रदान की जाय यह उद्योग यन्त्रवत नहीं बल्कि वैज्ञानिक ढ़ंग से "क्यों और कैसे" का ज्ञान कराते हुये सिखाया जाय ।"

बेसिक शिक्षा हस्तकला केन्द्रित होने के कारण बेसिक विद्यालय उद्योगशाला के रूप में ही होती हैं बेसिक विद्यालय की प्रमुख विशेषतायें निम्न लिखित हैं –

1. महात्मा गाँधी प्राचीन शिक्षा प्रणाली जो पुस्तकीय व विषय केन्द्रित थी, ऐसे विद्यालय की आलोचना करते है बुनियादी विद्यालयों में पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा व्यावहारिक ज्ञान पर ही बल दिया जाता हैं ।
2. विद्यालय जीविकोपार्जन की शिक्षा का केन्द्र होने के कारण ऐसी क्षमता का विकास करना इस विद्यालय का प्रमुख कार्य हैं ।

3. बेसिक शिक्षा का विद्यालय जिस समाज में स्थित होता है वह उस समाज की मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति का लक्ष्य भी रखता हैं । इस तरह बेसिक विद्यालय हमारे सामाजिक जीवन का प्रतिनिधि–एवं प्रतिविम्ब होता हैं ।

4. बेसिक विद्यालय में समाज व उद्योग से सम्बन्धित क्रियायें कराई जाने के कारण यह व्यवस्थित सुशासित भी होता हैं ।

5. बेसिक विद्यालय लाभप्रद क्रियाओं के सम्पादन के केन्द्र हैं।यह विद्यालय स्वालम्बन की शिक्षा का केन्द्र होता हैं ।

6. विद्यालय बालकों के अनुभव द्वारा सीखने का केन्द्र हैं ।

7. विद्यालय में पर्यावरण ग्रह जैसा होता हैं क्योंकि जिस प्रकार घर का वातावरण स्नेह सहानुभूति एवं प्रेम से ओत–प्रोत होता हैं उसी प्रकार बेसिक शिक्षालय में सहानुभूति व प्यार का पूर्ण साम्राज्य होता हैं ।

8. बेसिक विद्यालय का ग्राम व समाज से सम्पर्क होता है । क्योंकि बेसिक शिक्षालय समाज के पुनर्निर्माण में सहायक होता हैं ।

9. बेसिक शिक्षालय आवासीय होता हैं । फोनिक्सबस्ती, टॉलस्टाय फार्म, साबरमती आश्रम आदि आवासीय केन्द्र थे ।

बेसिक शिक्षा - अनुशासन -:

अब हम महात्मा गाँधी जी के अनुशासन की अवधारणा के सम्बन्ध में विचार करेगें । और यह खोजने का प्रयत्न करेगें कि अनुशासन स्थापित करने के लिये महात्मा गाँधी जी ने क्या विधान प्रतिपादित किया हैं ।

आज शिक्षण संस्थाओं में अनुशासनहीनता को आसानी से देख सकते हैं । इनकी उच्छ्खंलताओं से विश्वविद्यालयी वातावरण पूर्ण रूप से दूषित व विषाक्त हो गया हैं । इस प्रकार समाज के रचनात्मक क्षेत्रों की प्रगति अवरूद्ध हो गयी

हैं । यहां तक कि अनुशासन के अभाव में प्रबन्ध तंत्र एवं प्रशासन ढीले पड़ते जा रहे है । ऐसी परिस्थिति के विषय में हम सभाओं में क्लबों में, रेल के डिब्बों में , बसों में ट्राम गाड़ियों में, तथा दैनिक वार्तालाप में साथ ही सांस्कृतिक व सामाजिक सम्मेलनों में प्रायः आलोचना व प्रत्यालोचना को सुनने के आदी हो गये हैं । किन्तु रचनात्मक कदम उठाने के लिये किसी में भी सामर्थ्य दिखाई नहीं देती । आज विद्यालय एवं विश्वविद्यालयों में आये दिन विद्यार्थियों की हड़ताल, तोड़ फोड़ कक्षा बहिष्कार, अध्यापक, पर्यवेक्षक, अधीक्षक पर आक्रमण आदि सामान्य अनुशासन हीनता की घटनायें होने लगीं हैं । कुछ लोगों का यह कथन हैं कि इन घटनाओं के लिये गाँधी जी उत्तरदायी हैं, क्योंकि उन्होनें विद्यार्थियों को असहयोग आन्दोलन का ऐसा पाठ पढ़ाया कि विद्यार्थी आज समस्त पर्यावरण से ही असहयोग करने पर सान्नध्य हो गये हैं । किन्तु गाँधी जी के विचारों को तटस्थता से कोई अध्ययन करे तो उसे प्रतीत होगा कि उस समय भी गाँधी जी ने अनुशासनहीनता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित नहीं किया था । सत्य, अहिंसा के पुजारी से ऐसी आशा भी नहीं की जा सकती थी । महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के लिये व्यक्ति को तीन प्रतिज्ञाओं का पालन करना आवश्यक था । जैसा महात्मा गाँधी ने स्वयं कहा है – "असहयोग को मानने वाले व्यक्ति को–तीन शर्तें मंजूर होनी चाहिये ।

पहली शर्त – शांति ।
दूसरी शर्त – स्वयं या अपने पर काबू रखना ।
तीसरी शर्त हैं – यज्ञ जब हम शुद्ध होते हें तब यज्ञ का बलिदान करते, बलिदानं किये बिना कोई पवित्र नही हो सकता ..... विद्यार्थियों तुम असहयोग की इन तीनों शर्तो का पालन न करना चाहो तो इसे छोड़ देना ।"

यदि ध्यान से देखा जाय तो उपर्युक्त कथन में अनुशासन हीनता की अपेक्षा अनुशासन के पालन करने की शर्त ही निहित हैं । वास्तव में गाँधी जी का सम्पूर्ण जीवन अनुशासन जीवन का प्रतीक रहा हैं ।

महात्मा गाँधी जी की अनुशासन के प्रति अवधारणा -:

अधिगम प्रक्रिया हेतु अनुशासन अनिवार्य हैं । नार्मन मैकमन ने अपनी पुस्तक "दि चाइल्डस पाथ टू फ्रीडम" ने अनुशासन के तीन रूपों को प्रस्तुत किया हैं–"अ. दमनात्मक ब़ं मुक्तात्मक स. प्रभावात्मक"

पारम्परिक प्रारम्भिक विद्यालयों में "डंडे के बल" पर अनुशासन स्थापित कर दमनात्मक रूप को प्रश्रय दिया जाता था । मुक्तात्मक सिद्धान्त प्रकृतिवादियों को प्रिय हैं । क्योंकि वे आत्मप्रकाशन में विश्वास करते हैं । किन्तु स्वतन्त्रता से आत्म प्रकाशन पर सीमा से परे बल देना बालक को स्वछन्द बनाना हैं, क्योंकि स्वछन्दता की स्थिती में व्यक्ति अपने भीतर के पशु व्यवहार की अभिव्यक्ति कराता हैं । जनतात्मक राष्ट्र के नागरिकों के अनुशासन के प्रति हक्सले का कथन हैं कि –

"यदि तुम्हारा लक्ष्य स्वतन्त्रता और जनतन्त्रात्मक प्राप्त करना है तो तुम्हें लोगों को स्वतन्त्र रहने तथा स्वयं को शासित करने की कला सीखनी पड़ेगी। यदि तुम इसके बजाय कठोरता से निष्क्रीय आज्ञा मानने की कला सिखाओगे तो तुम स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र को प्राप्त नहीं कर पाओगे जिसे प्राप्त करना तुम्हारा लक्ष्य हैं ।"

हक्सले द्वारा प्रजातंत्र के सम्बन्ध में अनुशासन की अवधारणा का सुन्दर स्वरूप प्रस्तुत किया गया है । इन दोनों अतिवादी सिद्धान्तों के पश्चात् मध्यवर्ती सिद्धान्त के रूप में अनुशासन के प्रभावातमक सिद्धान्त की उपज हुयी हैं । इसमें अनुशासन का आधार नैतिकता है । बालक शिक्षक के व्यक्तिगत प्रभावों से प्रभावित होकर विनय का पालन करता है । इसमें शारीरिक हिंसा को कोई महत्व नही दिया गया हैं इस प्रकार अध्यापक अपने प्रभाव से बालकों में स्वैच्छा से आज्ञा पालन व अनुशासित रहने की प्रवृत्ति को विकसित कर देता हैं, यही अनुशासन का स्वर्णिम नियम हैं ।

गाँधी जी का स्वयं का कथन हैं – "मैं कभी विद्यार्थियों को दण्ड नहीं देता था ।"

उन्होंने आगे पुनः कहा हें कि – "बालको को मारपीट कर सिखाने के खिलाफ मै सदा से रहा हूँ दूसरों को आत्म ज्ञान देने के प्रयत्न में मैं स्वयं आत्मा के गुणों को अधिक समझने लगा ।"

महात्मा गाँधी जी का अनुभव था कि बालकों के सच्चे अध्यापकों को पिता व अभिभावक के रूप में उनके हृदय को अवश्य स्पर्श करना चाहिये ।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि समस्त विद्यालयीय अनुशासन का रहस्य "प्रेम" ही है । "प्रेम" वह शक्ति है जो शिष्य को नेक व ईमानदार बनाती है । क्योंकि अनुशासन स्थापित करने में जहां अन्य साधन असफल हो जाते हैं वहां स्व क्रिया, स्वानुभव व प्रेम ही विजय प्राप्त करता है । इस प्रकार हम देखते है कि महात्मा गाँधी की अनुशासन की अवधारणा, स्वक्रिया सहानुभूति तथा आत्म नियंत्रण पर आधारित हैं । अब हम अगले अध्याय में पं0 दीनदयाल उपाध्याय तथा महात्मा गाँधी के शैक्षिक – विचारों का तुलनातमक अध्ययन तथा भारत की शिक्षा में उनकी संगति की विवेचना करेगें ।
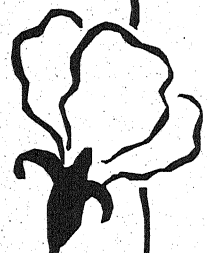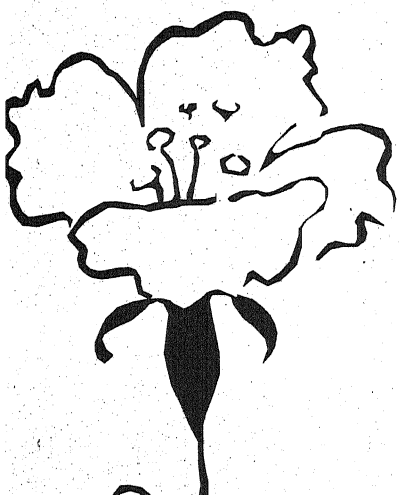
अध्याय पंचम
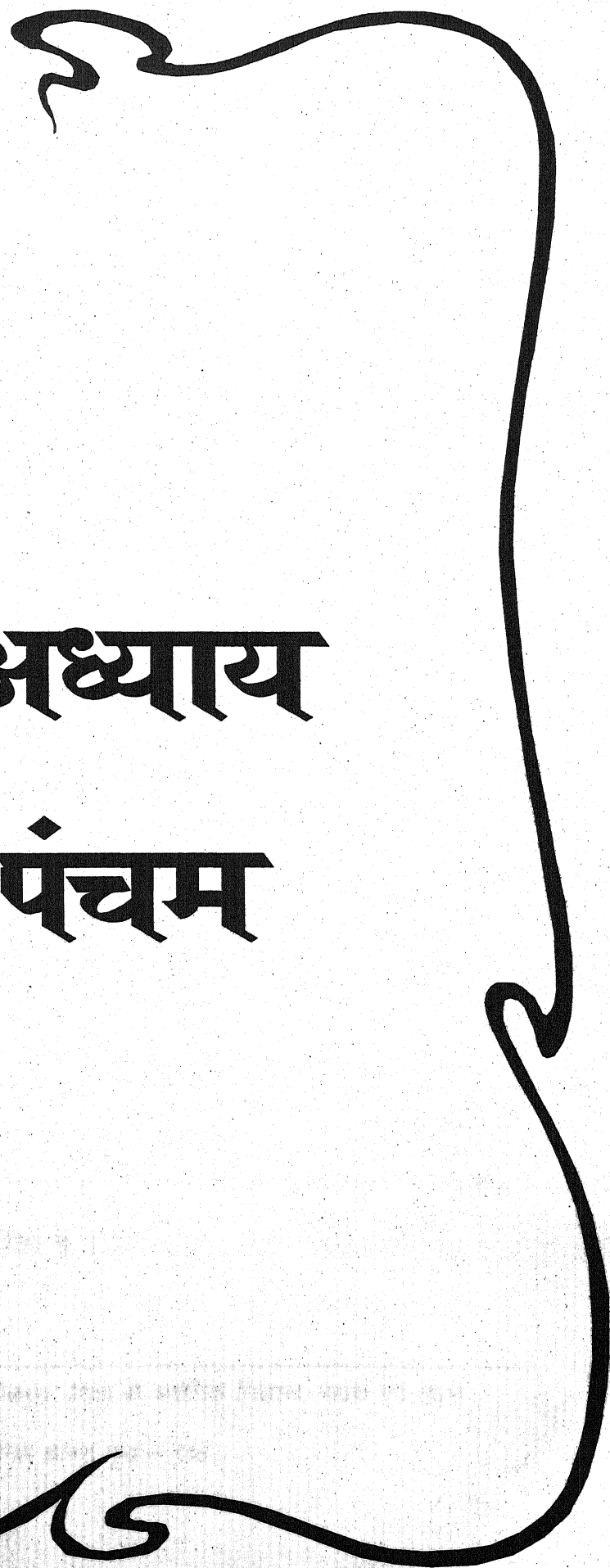
अध्याय पंचम

''पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के मौलिक, दार्शनिक व शैक्षिक विचार''

शिक्षा के उद्देश्य :-

उपाध्याय जी के शिक्षा उद्देश्य– जॉन डीवी ने कहा है कि–"शिक्षा के अपने कोई उद्देश्य नही होतें हैं फिर भी व्यक्ति या समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उनका निर्माण किया जाता है । वे या तो लोगों की उन्नति के लिये या समाज के आदर्शों की प्राप्ति के लिये या इन दोनो के लिये निश्चित किये जाते है ।"[1] इस प्रकार शिक्षा के उददेश्यों के विभिन्न प्रयोजन होतें हैं और इन्हीं प्रयोजनों के आधार पर उनका निर्माण किया जाता हैं । इसलिये उनके स्वरूप में भी भिन्नता रहती हैं । प्रमुख विद्वानों द्वारा मुख्यतः शिक्षा के चार उद्देश्य निरूपित किये गये है ।

1. सार्वभौमिक उद्देश्य
2. विशिष्ट उद्देश्य
3. वैयक्तिक उद्देश्य और
4. सामाजिक उद्देश्य

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री रस्क का मत हैं कि "शिक्षा के उद्देश्यों का सम्बन्ध जीवन के साध्यों के साथ है। दर्शन इस बात का निर्णय करता है कि जीवन का क्या उद्देश्य होना चाहिये ?

जब जीवन के उद्देश्यों का निर्धारण दर्शन द्वारा किया जाता है तब शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण भी उसी के द्वारा किया जाना स्वाभाविक है क्योंकि शिक्षा स्वयं जीवन है और जीवन शिक्षा है ।"[2]

---

[1] "शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण और वर्गीकरण" शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त, पाठक एवं त्यागी विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

[2] "दर्शन और शिक्षा" – विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा पृष्ठ – 115

टी.पी. नन ने लिखा हैं – "शिक्षा की प्रत्येक योजना अन्तोगत्वा व्यवहारिक दर्शन है और जीवन के प्रत्येक बिन्दु को आवश्यक रूप से स्पर्श करती है । अतः शिक्षा के कोई भी उद्‌देश्य जो निश्चित रूप से पथ प्रदर्शन करने के लिये पर्याप्त रूप से स्थूल है जीवन के आदर्शो सर्वथा भिन्न हुआ करते है इसलिये उनकी भिन्नता शैक्षिक सिद्धान्तों में अवश्य प्रतिबिम्वित होगी ।"

हम देख चुके है कि जीवन के प्रति दृष्टिकोण का नाम दर्शन है । व्यक्ति इसी दृष्टिकोण के अनुसार अपना जीवन यापन करता है । अतः जीवन और दर्शन अभिन्न है । जीवन के दृष्टिकोण के अनुसार ही शिक्षा के उद्‌देश्यों का निर्माण किया जाता है । अतः जिसका जिस प्रकार का जीवन के प्रति दृष्टिकोण होगा उसके द्वारा निर्धारित किये गये शैक्षिक उद्‌देश्य भी उसी प्रकार के होगे । यदि कोई विद्वान भौतिकवादी विचारों वाला है तो वह शिक्षा के ऐसे उद्‌देश्य निर्धारित करेगा जिससे कि भौतिक सामग्री एकत्र करने की कला का ज्ञान हो सके और यदि आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति को शिक्षा के उद्‌देश्यों का निर्धारण करना पड़े तो वह "आत्मानुभूति" को शिक्षा का उद्‌देश्य निर्धारित करेगा । जिससे 'परमसत्ता' से एकाकार करने को सामर्थ्य हो सके । पण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने शिक्षा के जो उद्‌छेश्य निर्धारित किये है उनमें उनके दर्शन की स्पष्ट झलक मिलती है । पण्डित जी राष्ट्र की सेवा के लिये आजीवन – व्रत करने वाले अप्रतिम कर्मयोगी थे । उनके जैसा व्यक्ति अपने राष्ट्र को परतन्त्र कैसे देख सकता है ? अतः उन्होनें शिक्षा के जो उद्‌देश्य निर्धारित किये है उनमें "स्वराज्य प्राप्ति" उनका प्रथम उद्‌देश्य है ।

(क) <u>स्वराज्य प्राप्ति का उद्‌देश्य</u> -:

परतन्त्र भारत में (सन् 1916 में) जन्म लेने वाले पण्डित जी अपनी शिक्षा दीक्षा के उपरान्त राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्यो में जुट गये तथा 1942 में अपना पूरा जीवन संघ के लिये समर्पित करते हुये लखीमपुर जिले के जिला प्रचारक के नाते राष्ट्र की सेवा करने लगे ।

संयोगवश उसी समय स्वतन्त्रता आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था । पण्डित दीनदयाल जी महान क्रान्तिकारी बालगंगाधर तिलक से काफी प्रभावित थे । अतः स्वाभाविक है वह भी मातृभूमि की दासता को नही देख सकते थे । लेकिन देश पराधीन क्यों हुआ ? इसके बारे में उनकी स्पष्ट सोच थी कि भारत के निवासी आपस में असंगठित है जिससे उन्हें परतन्त्रता की यातनायें सहन करनी पड़ी । यह पीड़ा उन्हें निरन्तर कचौटती रहती थी पण्डित जी मातृभूमि को दासता के बन्धनों से मुक्त कराना चाहते थे । उन्होंने अपने मामा को जो पत्र लिखा (21.07.1942) उसमें स्वराज्य प्राप्ति हेतु उनकी लालसा स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं ।

"हमारा समाज संगठित नही दुर्बल हैं । इसीलिये हमारी आरती और बाजों पर लड़ाइयां होती है इसलिये हमारी मां बहनों को मुसलमान भगााकर ले जाते है अंग्रेज सिपाही उन पर निःशंक होकर अत्याचार करते है और हम अपनी बड़ी भारी इज्जत का दम भरने वाले समाज में ऊंची नाक रखने वाले, फूटी आंखों से देखते रहते है । हम उसका प्रतिकार नहीं कर सकते .... क्यों ? क्या हिन्दुओं में ऐसे ताकतवर आदमियों की कमी है । जो इन दुष्टों का मुकाबला कर सके ? .... हमारे पतन का कारण हममें संगठन की कमी है । बाकी बुराईयां अशिक्षा आदि तो पतित अवस्था के लक्षण मात्र हैं .... रही बात नाम और यश की सो तो आप जानते ही है कि गुलामों का कैसा नाम और कैसा यश ।"[1]

पण्डित दीनदयाल जी चाहते थे कि समाज को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे उनके अन्दर संगठन और त्याग की भावना जाग्रत हो सके और राष्ट्र को परतन्त्रता के बन्धनों से मुक्त कराया जा सके –

"जिस समाज और धर्म की रक्षा के लिये राम ने वनवास सहा, कृष्ण ने अनेकों कष्ट उठाये, राणा प्रताप जंगल–जंगल मारे फिरे, शिवाजी जी ने सर्वस्व अर्पण कर दिया, गुरू गोविन्द सिंह के छोटे – छोटे बच्चे जीते जी किले की दीवारों में चुन गये क्या उसकी खातिर हम अपनी जीवन की झूठी आंकाक्षाओं का त्याग नही कर सकते ?

---

[1] उपाध्याय जी का एक पत्र – पण्डित दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति दर्शन पृष्ठ 154 – 155

पिछले बारह सौ वर्षो के गुलामी के इतिहास से पण्डित जी पूरी तरह परिचित थे । वे जानते थे कि "समाज में जब तक अपने 'स्वत्व' का अभिमान जाग्रत रहा उसके कारण भूमि धर्म संस्कृति तथा राष्ट्र की एकात्मता की भावना विद्यमान रही । तब तक इस समाज की ओर आंख उठाकर देखने का भी सहास किसी को नही हुआ । परन्तु एकात्म जीवन का विस्मरण होते ही छोटे–छोटे अनेक स्वार्थ टकराने लगे । सत्ता लोभ में राज्य आपस में लड़ने लगे । इससे निर्बलता आयी और गुलामी सहित अनेक प्रकार की दुर्दशा इस समाज को भोगनी पड़ी । यदि सब प्रकार की दुर्दशा को दूर हटाना है तो संगठित और उत्तम समाज का जीवन खड़ा करना पड़ेगा । .... समाज के साथ एकात्म भाव स्थापित करके स्वत्व बोध का जागरण किया तो सामर्थ्ययुक्त समाज अपने ही बलबूते पर सब वैभव और यश प्राप्त कर लेगा ।

उपरोक्त ऐतिहासिक तथ्य से पूर्णतया भिज्ञ पण्डित दीनदयाल जी समाज को ऐसी शिक्षा देना चाहते थे कि सम्पूर्ण समाज एकता के सूत्र में बंध जाय और स्वराज्य प्राप्ति हेतु संघर्ष के लिये तैयार हो सके । पण्डित जी 'आचार्य चाणक्य' से अत्यन्त प्रभावित थे इसका एक कारण था कि उस समय ठीक 2400 वर्ष पूर्व जैसी स्थिति थी जब –

> "चन्द्रगुप्त और चाणक्य के सम्मिलित प्रयत्नों ने समाज की उस रचनात्मक शक्ति का सृजन किया जिससे न केवल अलिक्र सुन्दर को ही भारत से निकाल बहार किया अपितु एक विशाल साम्राज्य का भी निर्माण किया ।"[1]

स्वतन्त्रता के कुछ ही दिनों पूर्व लिखे गये 'चन्द्रगुप्त' (1946) नामक उपन्यास में पण्डित जी ने अपने उद्देश्यों को पूर्णतया स्पष्ट करने का प्रयास किया है ।

आज देश में वीरता है, शूरता है, अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये सब कुछ अर्पण करने की शक्ति है परन्तु यदि कमी है तो एक सूत्र की जो सबको एक साथ सूत्र में बांध सके । अखिल भारतीय एक छत्र सम्राट की

---

[1] विषय प्रवेश 'चन्द्रगुप्त' – पण्डित दीनदयाल उपाध्याय

आवश्यकता है । यदि यह नही हुआ तो भारत वर्ष में यवनों का आधिपत्य सदा के लिये हो जायेगा और यदि अलिक सुन्दर इस बार लौट भी गाया तो फिर कोई और आक्रमण कर देगा ।"[1]

स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रति तटस्थता बनाये रखने वाले लोगों को फटकारते हुये उन्होने सबको स्वातन्त्रयसमर में सहभागी होने के लिये प्रेरित किया ।

"सम्पत्ति में देश का साथ न देने वाला क्षमा किया जा सकता है परन्तु विपत्ति में शत्रु के साथ मिलकर देशद्रोह करने वाला तो दूर रहा देश का साथ न देकर चुप बैठने वाला भी क्षमा नहीं किया जा सकता ।"

अपने उपन्यास 'चन्द्रगुप्त' में पण्डित जी ने उल्लेख किया है कि चाणक्य द्वारा एकता के सूत्र में बांधी गयी संगठित शक्ति से सिकन्दर की पराजय होती है । चन्द्रगुप्त भारत का एक छत्र सम्राट बनता है राष्ट्र समस्त वैभव से परिपूर्ण होता है ।

"आज सम्पूर्ण भारत एक आवाज से बोलता है और एक इशारे पर काम करता इस एकता में कितनी शक्ति है ।" पण्डित जी की भी ऐसी आकांक्षा थी ऐसा ही था उनका उद्‌देश्य ।"[2]

(ख) चरित्रिक विकास -:

"वृतं यत्नेत् संरक्षत् वित्तमायाति याति च

अक्षीणों वित्ततः क्षीणो, वृतस्तस्तु हतोहत" :

भारतीय संस्कृति के अनुसार चरित्र की रक्षा यत्नपूर्वक की जानी चाहिये । धन तो आता है और चला जाता है जिसका धन नष्ट हो जाता है उसका कुछ भी नष्ट नही होता लेकिन जिसका चरित्र नष्ट हो जाता है वह मरे हुये के समान हो जाता है। पाश्चात्य संस्कृति में भी सच्चरित्रता का समर्थन करते हुये कहा गया है कि शिक्षा के द्वारा मनुष्यों का चरित्र निर्माण किया जाना चाहिये ।

---

[1] चन्द्रगुप्त सघंर्ष का संकल्प – पं. दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ – 40

[2] चद्रगुप्त सशक्त भारत – पं. दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ – 63

प्लेटो ने कहा है कि – "शिक्षा से मेरा अभिप्राय उस प्रशिक्षण से है जो अच्छी आदतों के द्वारा बच्चों में अच्छी नैतिकता का विकास करती है ।"

स्वामी विवेकानन्द ने चारित्रिक विकास को ही शिक्षा का मुख्य कार्य स्वीकार किया है । उन्होनें कहा है – "हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है जिससे चरित्र का निर्माण होता हैं, मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती हैं, बुद्धि का विकास होता है और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है ।"

"जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवन संग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, जो मनुष्यों में चरित्रबल परहित भावना तथा सिंह के समान साहस नही ला सकती वह भी कोई शिक्षा है ? जिस शिक्षा के द्वारा जीवन में अपने पैरो पर खड़ा हुआ जाता है वही शिक्षा है ।"[1]

गाँधी जी ने अपने एक भाषण में कहा था – "मै अनुभव करता हूँ और सारे जीवन में अनुभव किया है कि संसार के सभी देशों को केवल चरित्र की आवश्यकता है और चरित्र से कम किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं ।"[2]

चारित्रिक विकास पर जोर देते हुये भूतपूर्व राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन ने कहा है – "चरित्र भाग्य है । चरित्र वह वस्तु हैं, जिस पर राष्ट्र के भाग्य का निर्माण होता है । तुच्छ चरित्र वाले मनुष्य श्रेष्ठ राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते ।"[3]

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुये हरबर्ट ने 'चरित्र निर्माण' को शिक्षा के ध्येय के रूप में स्वीकार किया उसने केन्द्रीय विषय में इतिहास का प्रतिपादन किया । इतिहास में महापुरूषों की कथाओं के द्वारा हरबर्ट विद्यार्थियों में चरित्र का निर्माण करना चाहता है । चरित्र है क्या ? इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक 'शापन हावर' ने कहा है कि –

"जिस आचरण को समाज मान्यता प्रदान करें तथा जिस पर किसी का प्रतिबन्ध नही उसे शुद्धाचरण या चरित्र कहा जायेगा ।"[4]

---

[2] शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार पृष्ठ – 22 भाई योगेन्द्र जीत
[3] शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त – पृष्ठ – 27 भाई योगेन्द्र जीत
[4] शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार – पाठक एवं त्यागी पृष्ठ – 23

चरित्र के दो अंग है सदाचार और नैतिकता सदाचार का सम्बन्ध सामाजिक आचार विचार से है । नैतिकता का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से है । दोनो में से किसी एक की उपेक्षा करने से चरित्र एकांगी हो जाता है ।

स्वामी विवेकानन्द ने चरित्र को परिभाषित करते हुये कहा है कि – "मनुष्य का चरित्र उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का समूह हैं, उसके मन के समस्त झुकावों का योग है हमारा प्रत्येक कार्य हमारे शरीर की सभी गतिविधियां हमारा प्रत्येक विचार मन पर एक संस्कार छोड़ देता है, ये संस्कार ऊपरी दृष्टि से अस्पष्ट होते हुये भी अज्ञात रूप से भीतर ही भीतर कार्य करने में विशेष रूप से प्रबल होते है हमारी प्रत्येक क्रिया इन संस्कारों द्वारा नियमित होती है । मन के इन संस्कारों का समूह चरित्र है ।"[1]

चरित्र के दो पक्ष बताये गये है व्यक्तिगत चरित्र एवं सामाजिक या राष्ट्रीय चरित्र, व्यक्तिगत रूप से अपने अन्दर गुण सम्पादन करना व्यक्तिगत चरित्र की श्रेणी में आयेगा । मेरे किसी कार्य से समाज या राष्ट्र को हानि न पहुंचे मेरे काम राष्ट्र की समृद्धि करने वाले हो राष्ट्रीय चरित्र की श्रेणी में आयेगा ।

मुझे सुख मिले समाज चाहे दुखी हो मै भोग भोगू, अन्यों को चाहे प्राणों की आहुति देनी पड़े, मेरा घर भरे । दूसरे चाहें अन्नाभाव या वस्त्राभाव से तड़पते फिरे यह राष्ट्रीय चरित्र का अभाव प्रदर्शित करता है। व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय चरित्र दोनों एक दूसरे पर परस्पर आधारित होते हैं ।

चरित्र के सम्बन्ध में पश्चिम का और भारतवर्ष का जो दृष्टिकोण है दोनो में बहुत अन्तर है । पाश्चात्य दृष्टिकोण चरित्र के सामाजिक पक्षपर ही बल देता है । समाज के लोगो के साथ सम्पर्क में अर्थात वाहयाचरण में व्यक्ति का चरित्र अच्छा होना चाहिये । व्यक्तिगत रूप से चाहे वह कुछ भी करे अर्थात मनुष्य के सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन में अन्तर हो सकता है ।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन दोनों शुद्ध और पवित्र होने चाहिये । हम यह मानते है कि "चरित्र व्यक्ति की वह सम्पूर्ण आन्तरिक शक्ति तथा तेज है जो उसके सारे व्यक्तित्व को प्रकाशित किये रहता

---

[1] स्वामी विवेकानन्द – पंचमाध्याय

है । इसमें व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो ही क्षेत्र आ जाते है । अतः हम कह सकते है कि भारतीय दृष्टिकोण अधिक व्यापक है जबकि पाश्चात्य दृष्टिकोण संकुचित है । भारतीय संस्कृति के उपासक पण्डित दीनदयाल भी इसी मत से सहमत है । उन्होनें कहा है –

"सामूहिक जीवन के इन संस्कारों को मजबूत करना ही प्रगति का मार्ग है । प्रत्येक व्यक्ति 'मै' और 'मेरा' विचार त्याग कर 'हम' और हमारा विचार करें । अन्यथा कई बार देखा जाता है कि व्यक्ति कहता है कि राष्ट्र के लिये जान हाजिर है और जीवन में सब कार्य व्यक्ति का विचार करना ही करता रहता है । इसमें न व्यक्ति का ही भला न समष्टि का वास्तव में समिष्ट के लिये कार्य करना यानि धर्माचरण की भी शिक्षा होती है । उसमें भी संस्कार डालने होते है । इन संस्कारों को प्रदान करना ही राष्ट्र का संगठन करना है ।"[1]

पण्डित दीनदयाल जी 'व्यक्ति निर्माण' को अति आवश्यक मानते हुये कहते थे कि व्यक्ति को निरोग दीर्घजीवी हुष्ट पुष्ट आनन्दित, प्रसन्न, कार्यक्षम चरित्रवान, यशस्वी होना जरूरी है । क्योंकि वह जानते थे कि यदि एक व्यक्ति निकम्मा अस्वस्थ एवं चरित्रहीन होगा तो निश्चित ही समाज एवं राष्ट्र का पतन हो जायेगा । इसलिये व्यक्ति के गुण विकसति होने चाहिये । निकम्मा आलसी, दुश्चरित्र व्यक्ति समाज की क्या सेवा करेगा ? हमारे यहां कहा गया है कि व्यक्ति के अन्दर –

"धृति स्क्षमा दमोस्तेयं, शौचमिन्द्रिय निग्रहः
घी विद्या सत्यम क्रोधो दशकम् धर्म लक्षणम्"

विद्यमान होने चाहिये ऐसे व्यक्तियों से जो समाज बनेगा उसी से राष्ट्रपरम वैभवशाली हो सकता है । शिक्षा के बारे में पण्डित जी ने बताया कि –

"शिक्षा वह प्रणाली है वह प्रक्रिया है जिससे कोई समाज अपने सदस्यों को अपने अनुरूप ढालता है । इसलिये शिक्षा व्यक्ति और समिष्ट का सम्बन्ध जोड़ने वाला प्रमुख तत्व है । शिक्षा वह प्रक्रिया है जिससे समिष्ट अपने आपको पुनरूत्पादित करती है, अपने लिये योग्य नागरिक बनाती है और नागरिक शिक्षित

---

[1] राष्ट्र जीवन की दिशा, – मै और हम – दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ – 30

होकर अपने समाज के लिये उपयोगी बनने की चेष्टा करता है तथा आवश्यकतानुसार उत्तम समाज का निर्माण भी करता है ।"[1]

अतः "बच्चे को शिक्षा देना समाज के अपने हित मे है । जन्म से मानव पशुवत पैदा होता है । शिक्षा और संस्कार से वह समाज का वह अभिन्न घटक बनता है ।"[2]

पण्डित जी का कहना है कि – "शिक्षा और संस्कार से ही समाज के जीवन मूल्य बनते और सृदृढ़ होते है ।"

"आज भारत जिस रोग से बुरी तरह ग्रस्त है वह है 'चरित्र का संकट' हमारे युवक आदर्शो को छोड़ते जा रहे है । आध्यात्मिक दृष्टि से वे एक तरह से शून्य में जा रहे है । यही कारण है कि वे अज्ञात मंजिल की ओर उद्‌देश्यहीन एवं हिसांत्मक होकर घिसटते चले जा रहे है ।"[3]

पं0 दीनदयाल उपाध्याय ने अपनी चन्द्रगुप्त पुस्तक मे 'महापदमानन्द' के लिये कहा है कि व्यसनी व्यक्ति राष्ट्र को भी बेच देता है । उसके लिये उसका अपना सुख, वैभव, पद, प्रतिष्ठा ही सब कुछ है राष्ट्र कुछ नही वह अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिये विराट (राष्ट्र) को भी खो देने के लिये तैयार रहता है । अतः दीनदयाल जी कहते थे कि भारत – भूमि में जन्म लेने वाले बालक की उत्तम शिक्षा व्यवस्था नहीं है जो चरित्र का निर्माण कर सके । ज्ञान, संस्कृति और चरित्र के संगम से ही शिक्षा तीर्थराज प्रयाग बनती है हमारे यहाँ पुस्तकीय ज्ञान को वास्तविक ज्ञान नही माना गया है । अनुभूति ज्ञान को ज्ञान माना गया है ।

राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने कहा था – "शिक्षे तुम्हारा नाश हो जो नौकरी के हित बनी"।

अतः शिक्षा का अर्थ केवल रोजी–रोटी कमाना नही बल्कि श्रेष्ठ चरित्रवान व्यक्तियों का निर्माण होना चाहिये लेकिन वर्तमान समय में शिक्षा के विकास के

---

[1] उत्तर प्रदेश सन्देश – डा. मुरली मनोहर जोशी – पण्डित दीनदयाल व्यक्ति और विचार

[2] एकात्म मानव दर्शन, राष्ट्र जीवन के अनुकूल अर्थरचना, शिक्षा समाज का दायित्व, पण्डित दीनदयाल उपाध्याय – पृष्ठ 63

[3] भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्यायें धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा डा0 रविन्द्र अग्निहोत्री–पृष्ठ–319

साथ चरित्र का ह्रास हो रहा है । इसका मतलब यह हुआ कि हमारी शिक्षा में कही न कहीं कोई कमी अवश्य है ।"

वर्तमान समय में हमें कैसी शिक्षा व्यवस्था समाज को देनी चाहिये जिसके द्वारा चरित्र निर्माण का कार्य किया जा सके ? इस प्रश्न के उत्तर में महान विचारक विनायक वासुदेव ने कहा है –

"शिक्षा का व्यापक प्रसार स्वागत करने योग्य है, किन्तु शिक्षा को केवल पेट पालने की विद्या का जो स्वरूप प्राप्त हो गया है उसके कारण हमारे सामाजिक जीवन में कई समस्यायें उत्पन्न हो रही है । चरित्रवान, तेजस्वी, धर्मज्ञ और जीवन में आत्म – विश्वास के साथ पर्दापण करने वाला युवा वर्ग इन दिनों कहीं नहीं दिखाई देता । इस दृष्टि से पुरानी भारतीय शिक्षा प्रणाली की ग्राहय बाते खोज कर आज की निर्जीव शिक्षा प्रणाली में प्राण फूकने का प्रयास अपेक्षित है ।"

(ग) प्राचीन संस्कृति तथा भौतिकवाद का समन्यवय -:

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने 'धर्म' को मानव का प्राण माना है । वह कहते थे – "महत्ता किसी वस्तु की है तो वह 'धर्म' है यदि हमारा प्राण कहीं है तो वह धर्म में है धर्म गया कि प्राण गया । इसलिये जिसने धर्म छोड़ा वह राष्ट्र से च्युत हो गया । उसका सब कुछ चला गया ।"[1]

पण्डित जी अध्यात्मिक और भौतिक दोनो प्रकार की उन्नति के पक्षधर थे । वह कहते थे कि –

"राष्ट्रीय दृष्टि से हमें अपनी संस्कृति का विचार करना ही होगा क्योकि हमारी अपनी प्रकृति है, स्वराज्य का स्वसंस्कृति से धनिष्ठ सम्बन्ध रहता है । संस्कृति का विचार न रहा तो स्वराज्य की लड़ाई स्वार्थी और पदलोलुप लोगों की राजनीतिक लड़ाई मात्र रह जायेगी । स्वराज्य तभी साकार और सार्थक होगा जब वह अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति का साधन बन सकेगा ।"[2]

---

[1] एकात्म मानव दर्शन – राज्य और धर्म पं0 दीनदयाल उपाध्याय – पृष्ठ – 43
[2] एकात्म मानववाद संस्कृति का विचार करें पृष्ठ – 17

पण्डित जी ने मानव के संकलित जीवन का विचार किया है । प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं अध्यात्म के साथ – साथ भौतिकवाद का समन्वय करना चाहते थे । पण्डित जी उन लोगों से कभी भी सहमत नही रहे जो जीवन के किसी एक ही पहलू को महत्वपूर्ण मानकर अन्य पहलुओं की उपेक्षा करते थे । इस सम्बन्ध में उन्होनें लिखा है – "भारतीय जनसंघ के पास एक स्पष्ट आर्थिक कार्यक्रम है परन्तु उसका स्थान हमारे सम्पूर्ण कार्यक्रम में उतना ही है जितना भारतीय संस्कृति में अर्थ का । पाश्चात्य संस्कृति भौतिकवादी होने के कारण अर्थ प्रधान है । हम भौतिकवाद और आध्यात्मवाद दोनो का समन्वय करना चाहते है ।"[1]

पण्डित जी ने अपने आर्थिक चिन्तन को लेख बद्ध करते हुये 'भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा' नामक पुस्तक की रचना की । इस पुस्तक में उन्होनें 'अर्थायाम' की व्याख्या कि समाज के लिये अर्थ का अभाव और प्रभाव दोनों हानिकारक है । अतः आभाव और प्रभाव दोनों को मिटाकर समुचित व्यवस्था करना ही 'अर्थायाम' है । वे उदाहारण देते हुये कहते थे कि जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ रखने के लिये 'व्यायाम' आवश्यक है उसी प्रकार समाज को स्वस्थ रखने के लिये 'अर्थायाम' की आवश्यकता है । पण्डित जी भारतीय संस्कृति और धर्म से प्रभावित होते हुये भी भौतिकवाद के विरोधी नही थे क्योंकि वे जानते थे कि अर्थ के बिना धर्म नहीं टिक सकता तथा अर्थाभाव के कारण संस्कृति की रक्षा और विकास सम्भव ही नहीं है ।

उपरोक्त अध्ययन के परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि पण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने अपने विचारों के द्वारा भारतीय संस्कृति और भौतिकवाद का समन्वय करते हुये 'एकात्ममानववाद' नामक नव रसायन का निर्माण किया है जो भारत के लिये ही नही अपितु विश्व मानव के लिये विकास का मार्ग प्रशस्त करता है ।

---

[1] दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्र चिन्तन अध्याय 13 विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था, राष्ट्रधर्म पुस्तक प्रकाशन लखनऊ–पृष्ठ–89

पण्डित जी के बारे में निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि उनकी कल्पना मानव जाति तक ही सीमित नही है । उनका समन्यवयवाद इस बात का द्योतक है कि मानव चेतना विश्वव्यापी चेतना के रूप में विकसित हो सकती है । इसलिये वे संकुचित दायरे वाले न होकर मानववादी थे उन्होनें अपनी विचार प्रणाली के लिये उपयुक्त नाम 'समन्वयवाद' ही दिया । वे हंसते–हंसते कहा भी करते थे कि भाई हम न समाजवादी न साम्यवादी है न पुरातनवादी है न भौतिकवादी हम तो 'समन्वयवादी' है ।

(घ) <u>राष्ट्रीयता</u> -:

भारतीय चिन्तन में "राष्ट्र" की परिकल्पना अति प्राचीन है । विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ यजुर्वेद में कहा गया है "वयं राष्ट्रे जाग्रयात:"[1] अर्थात हमें राष्ट्र के प्रति जागरूक रहना चाहिये । श्री सूक्त में ईश्वर से प्रार्थना की गयी है "प्रादुर्भतोअस्मि राष्ट्रे अस्मिन कीर्ति वृद्धि दुदातु में"[2] में इस राष्ट्र में उत्पन्न हुआ हूँ । अतः मुझे कीर्ति तथा उत्कर्ष प्रदान करो । अतः निश्चित ही इस राष्ट्र की एकता और समरसता के बीज भी उसी प्राचीन – काल में वो दिये गये होगें जो कि राष्ट्र जीवन की इस लम्बी अवधि में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहकर इसको निरन्तरतां को अक्षुण्ण बनाये रहे । राष्ट्रीयता एक आन्तरिक भावना है । नागरिक इसी भावना से एक दूसरे में पारस्परिक सहयोग करते है । वैदिक साहित्य में इस प्रकार की भावना व्यक्त करते हुये प्रार्थना की गयी है कि सभी व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न है । राष्ट्र में नागरिको का एक समान–आचरण समान वचन, समान मन होने की कामना की गयी है । "सं गच्दध्यवं संवदहवं सं वो मनासि जानताम ।" महर्षि बाल्मीकी ने भगवान राम के मुख से अपने राष्ट्र के प्रति मातृवत स्नेह व्यक्त कराते हुये लिखा है –

"अविस्वर्णमयी लंका नर्मे लक्ष्मण रोचते ।
जननी जन्म भूमिष्च स्वर्गादृवि गरीयसी ।"

? Source

---

[1] यजुर्वेद की पंक्ति भारत में राष्ट्रवाद – ब्रहमदत्त अवस्थी पृष्ठ – 62
[2] राष्ट्रीय एकता तथा समरसता – व.मो. आठले पृष्ठ – 3

पं0 दीनदयाल जी ने अपनी पुस्तक प्रथम कृति चन्द्रगुप्त नामक पुस्तक में चन्द्रगुप्त व 'चाणक्य' के माध्यम से स्वातन्त्र प्रयत्नों की ओर किशोर ह्रदयों को पृवत्त करने का सफल प्रयास किया है । हमारे देश की आपसी फूट की ओर इंगित करते हुये उन्होनें 'चन्द्रगुप्त' में लिखा है । "यहां के राजा लोग यह कहां समझते है कि पड़ोसी पर आपत्ति आई देखकर प्रसन्न होगें और जो जरा सज्जन होगे वे अपने राज्य को बचाने की चिन्ता करेगें । परन्तु दूसरे की जाकर सहायता नहीं करेगें ।[1]

चन्द्रगुप्त व चाणक्य की प्रथम भेंट के समय चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कहा "सैनिक आज अतिसमुन्दर – मगध जीतने की लालसा से उस पर आक्रमण कर रहा है । और तुम मगध छोड़कर यहाँ विचरण कर रहे हो । तुमको अपने कर्तवय का ज्ञान नही है ? क्या तुम यह नही समझते कि मगध के हारने से समस्त भारत परतन्त्र हो जायेगा ।"[2]

चाणक्य का उपरोक्त कथन किसी भी किशोर ह्रदय को स्वतन्त्रता की बलदेवी पर चढ़ जाने के लिये पर्याप्त है ।

पं0 दीनदयाल जी ने दूसरी कृति जगतगुरू शंकराचार्य के माध्यम से स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिये जवानों को प्रेरित करके उनमें देश प्रेम की उत्कृत भावना का समावेश करके राष्ट्र के लिये जीवन समपर्ण करने की आकांक्षा उत्पन्न करना चाहते थे ।

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय अपनी लेखनी के माध्यम से कार्य एवं व्यवहार के माध्यम से राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के बौद्धिक वर्गो के माध्यम से समाज में राष्ट्रीयता की भावना भरने का सफल प्रयास करते रहे । अपने सम्पूर्ण विवेचन में पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने अपने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की कल्पना को साकार करने का प्रयास किया है । पं0 जी 'सनातनी धर्मी' होने के नाते प्राचीन से कटकर आधुनिक बनने की प्रवृत्ति को राष्ट्रीय जीवन के लिये अहितकर मानते

---

[1] सम्राट चन्द्रगुप्त पं. दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ – 20
[2] सम्राट चन्द्रगुप्त गुरू व शिष्य की प्रथम भेंट पृष्ठ – 30

थे । अतः भारतीय राष्ट्र जीवन के पुनः निर्माण की बेला में पाश्चात्य सम्पर्क प्रभाव के कारण–कटी हुयी नयी पीढ़ी को अपनी प्राचीन अवधारणाओं से सुसम्बद्ध करना चाहते थे । उनका कहना था कि हमारी जीवन पद्धति हमारा मार्गदर्शन करने के लिये विद्यमान है । यह सही है कि हम हजारों वर्षो के इतिहास को जैसा का वैसा लेकर नहीं बढ़ सकते तथापि हमारी जीवन पद्धति के जो मूल तत्व है उन्हें भुलाकर हम नही चल सकते । हमें उन्हें युगानुकूल बनाकर ग्रहण करना होगा । नूतन सूझ–बूझ और पुरातन गुण–गरिमा का मणिकांचन संयोग उपस्थित करके चलना होगा । आधुनिक कार्य योजना और पुरातन संदर्भ शिक्षा लेकर नव निर्माण के चरण बहाने होगें ।[1]

(च) मात्रभाषा का विकास -:

पंण्डित दीनदयाल उपाध्याय अपने जीवन काल में चल रहे भाषा विवाद में सक्रियता पूर्वक शामिल रहकर हमेशा अपने तर्कपूर्ण मन प्रस्तुत करते रहे है । उनका कहना था कि मुस्लिम आक्रमणों के सम्पर्क से उत्पन्न एवं अंग्रेजो के कारण आरोपित अंग्रेजी राष्ट्रीय स्वाभिमान को आहत करने वाली भाषायें है । पं0 जी भाषा को राजनीति का मुद्दा नही बनने देना चाहते थे । उनका मानना था कि भाषा को राजनीति का मुद्दा बना देने से हिन्दी के विकास में बाधा उत्पन्न हुयी है । उपाध्याय जी ने कहा भी है कि राजनीतिज्ञ भाषा के नाम पर लड़ सकते है पर भाषा का सृजन नही कर सकते ।[2]

पण्डित जी अंग्रेजी को मानसिक दासता का चिन्ह मानते हुये कहते है कि यदि हमारे राष्ट्रीय जीवन का आयोजन और मार्गदर्शन अंग्रेजी में निहित आदर्शो के अनुसार होता है तो यह हमारी मानसिक दासता का चिन्ह है । जितने शीघ्र हम इससे मुक्ति पा लें उतना ही अच्छा होगा । इन आदर्शो का पालन और उन्नमन कर हम राष्ट्राभिमान नही पैदा कर सकते । हम पाश्चात्यों के मार्गो और पद्धतियों का अनुसरण कर केवल उनका मर्करानुकरण कर सकते है । अपने

---

[1] राष्ट्र जीवन की दिशा आधुनिक प्रगति की दिशा सारांश पं0 जी पृष्ठ 191
[2] राष्ट्रभाषा की समस्या – पं0 दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ – 31

वास्तविक स्वरूप को नही प्रगट कर सकते है । जब तक अंग्रेजी चलती रहेगी तब तक हम अपने सांस्कृतिक पुनुरूद्धार की जीवनदायनी मुक्त वायु में सांस नही ले सकते ।

अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिम की नकल करके हम विश्व को जो कुछ दे सकते है उससे कई गुना अधिक मूल्यवान योगदान हम अपनी भाषाओं के द्वारा दे सकते है ।[1]

"स्वतन्त्र भारत में अंग्रेजी राजभाषा बनी रहे ऐसा दीनदयाल जी को कदापि स्वीकार्य नहीं था उनका मानना था कि जिस प्रकार अंग्रेजी राज्य का स्थान स्वराज्य ने ले लिया हे उसी प्रकार अंग्रेजी भाषा का यह स्थान स्वाभाविक रूप से हिन्दी को मिलना चाहिये । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी के माध्यम से ही राष्ट्र का तेजस्वितापूर्ण आह्वान किया । गांधी जी ने अंग्रेजी के विरूद्ध शांतिपूर्ण विद्रोह के निमित्त सनन्द्ध कर जनता को उत्साहित करने के लिये हिन्दी को ही उचित माध्यम माना ।" [2]

(घ) लोक कल्याण -:

आदि काल से भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण अत्यन्त उदार रहा है । सम्पूर्ण पृथ्वी के लोगों को "कुटुम्ब" अर्थात "परिवार" मानने की भावना का उदघोष भारतीय संस्कृति ने ही किया है –

"अयं निजः परोवेतिगणनालघु चेतसाम् ।
उदार चरितानां तु वसधैव कुटुमबकम् ।"

सम्पूर्ण पृथ्वी के लोंगो को सुखी एवं समृद्धिशाली बनाने के लिये हमारे ऋषियों ने ईश्वर से प्रार्थना की है –

"सर्वे भवन्तुसुखिनः सर्वेसन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तुमा कश्चित दुःख भागवभवेत् ।

---

[1] पोलिटकल डायरी – पं0 दीनदयाल उपाध्याय स्वभाषा और सुभाषा पुष्ठ – 9
[2] – पोलिटकल डायरी – पं. दीनदयाल उपाध्याय, स्वभाषा और सुभाषा पृष्ठ – 89–90

अर्थात सम्पूर्ण पृथ्वी के लोग सुखी हो, सभी रोग से रहित स्वस्थ हों सभी कल्याण का दर्शन करें (सभी का कल्याण हो) किसी को भी किसी प्रकार का दुख न हो ।"

भारतीय संस्कृति में अद्वैत भावना पर विशेष बल दिया गया है । गीता में भगवान कृष्ण ने इस अद्वैत भावना को और अधिक बलवती बनाया है "आत्माह सर्वभूतेषु अद्वैत हमें प्रत्यक्ष व्यवहार की शिक्षा देता है । जिन बातों से हमें दुःख होता है उन्हें हम दूसरों के प्रति न करें ।

"आत्मान प्रतिकूलानि
पेरसां न समाचरेत्"

अतः निर्विवाद रूप से भारतीय संस्कृति अत्यन्त उदार व्यापक एवं लोक कल्याण कारिणी है । मानव मात्र के प्रति आत्मीय दृष्टिकोण रखने वाली है ।

भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता उदारमना पं0 दीनदयाल उपाध्याय भी मानवता के पुजारी उच्चकोटि के विद्वान, लोक कल्याण के उपासक एवं मानवीय गुणों से सम्पन्न स्वामी विवेकानन्द जैसे महामानवों के पदचिन्हों पर चलने वाले भारत भक्त थे । उनका मानना था कि "कृषवन्तो विश्वमार्यम" का जयघोष करने वाला जगद्गुरू भारत वर्ष विश्व कल्याण या विश्वशान्ति स्थापित की जा सकती है ।

पं0 जी सम्पूर्ण विश्व की समस्याओं को सुलझाकर मानव कल्याण की स्थापना में भारत वर्ष के सक्रिय सहयोग के आकांक्षी थे ।

पं0 जी की राष्ट्र भावना संकीर्ण नहीं थी । उनकी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधक नहीं वरन् पोषक थी ।

इस प्रकार पं0 दीनदयाल उपाध्याय ने अपने लेखों, भाषणों साहित्यक रचनाओं एवं कार्य व्यवहार के द्वारा लोक कल्याण की भावना को विकसित करने का आजीवन प्रयास किया। यही उनके जीवन का उनकी शिक्षा का उद्देश्य था । उनका सपना था कि –

"हम ऐसे भारत का निर्माण करेंगे जो हमारे पूर्वजों ने भारत से अधिक गौरवशाली होगा, जिसमें जन्मा मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ सम्पूर्ण मानवता ही नहीं अपितु सृष्टि के साथ एकात्मता का साक्षात्कार कर "नर

से नारायण" बनने में समर्थ हो सकेगा । यह हमारी संस्कृति का शाश्वत दैवी और प्रवाह मान रूप है । चौराहे पर खडे "विश्व मानव" के लिये यही हमारा दिग्दर्शन है । ईश्वर हमें शक्ति दे"[1]

(ज) समीक्षात्मक विचार-:

अशिक्षित, अपरिष्कृत एवं असंस्कारित लोकमत ही सामाजिक बुराईयों को जन्म देता है ऐसा पं0 दीनदयाल उपाध्याय का मानना था । अतः तमाम सामाजिक बुराईयों को दूर करने के लिये लोकमत को शिक्षित एवं संस्कारित करना ही हमारी प्रमुख आवश्यकता है । पं0 दीनदायल जी का मनना था कि शिक्षा के द्वारा ही लोकमत को परिष्कृत किया जा सकता है । चाहें वह विद्यालयी शिक्षा के द्वारा या अनौपचारिक शिक्षा के द्वारा या संघ में चलने वाली शारीरिक शैक्षिक एवं अन्य कार्यक्रमों के द्वारा ।

इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन के लिये उपध्याय जी शिक्षा को ही एक मात्र माध्यम बताया है ।

पं0 जी ने शिक्षा के द्वारा जिन उद्देश्यों को प्राप्त करने की बात कही उनमें धर्म और अधर्म का स्पष्ट मान व्यष्टि और समष्टि के हितों की सीमाओं का ज्ञान परम्परा और परिवर्तन का सम्बन्ध लोकमत परिष्कार एवं सामाजिक सुधार प्रमुख हैं । विकास की इस प्रक्रिया को सही दिशा देने का कार्य शिक्षा ही कर सकती हे । सामाजिक विषयों में उन्होंने "शिक्षा" पर अप्रेक्षाकृत अधिक क्रमबद्ध विचार प्रस्तुत किये हैं ।

---

[1] राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थरचना, पृष्ठ – 76
हम विराट को जागृत करें एकात्ममानव दर्शन – पं0 दीनदयाल उपाध्याय

(ब) पाठ्क्रम-:

स्वतन्त्रता के पश्चात जितनी गम्भीरता के साथ देश के लिये यथेष्ट दिशा की खोज की जानी चाहिये थी उतनी गम्भीरता पूर्वक इस दिशा में विचार नहीं किया गया अंग्रेजी शासन समाप्त होने के बाद हमारे देश की राजनीति समाज व्यवस्था एवं अर्थव्यवस्था में स्वदेशीपन का भाव जाग्रत होना चाहिये था लेकिन स्वतन्त्रता के बाद हमें विदेशियत की ललक ने परतन्त्रता के कालखण्ड़ से भी ज्यादा पागल बना दिया विदेशियों की वेश–भूषा रीति रिवाज, नीति व्यवस्था, राज्य व्यवस्था हमारे जीवन आदर्श बन गये । विदेशियत ने भारत की जनता को ऐसा दबोचा कि उसे अपनी सुध नहीं रही । राज्य व्यवस्था के लिये यूरोप, समाज व्यवस्था के लिये रूस विज्ञान व्यवस्था के लिये अमेरिका और जर्मनी की ओर ललचाई आंखों से देखने लगे । विदेशी शिक्षा दृष्टि ने भारत को वैचारिक शून्यता की स्थिति पर ला खड़ा किया । उस शिक्षा ने जिस शिक्षा के जन्मदाता लार्ड मैकाले ने कहा था कि – "हमे भारत में एक ऐसा वर्ग निर्माण करना है जो रक्त और वर्ण से भारतीय हों किन्तु रूचियों विचारों नैतिक आदर्शों तथा बुद्धि में अंग्रेज हो ।"[1]

लार्ड मैकाले की उस शिक्षा नीति ने भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता को पंगु कर दिया । वेद, उपनिषद स्मृति गीता, रामायण, महाभारत, बाल्मीकि व्यास याज्ञबल्क पराशर मनु चाणक्य, तुलसीदास, अरविन्द और गांधी सब व्यर्थ सिद्ध हुये । मिल्स एडमस्मिथ, मार्क्स एन्जिल्स के वचन प्रमाण माने जाने लगे ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति कर लेना ही हमारा लक्ष्य नहीं था । स्वतन्त्रता के बाद हमें मानव की प्रगति में योगदान करने के योग्य बनना चाहिये था । इस सम्बन्ध में पण्डित जी ने लिखा है –

---

[1] मैकाले का विवरण पत्र – 1835

"हमको विचार करना चाहिये कि अंग्रेजों के चले जाने मात्र से हमारा लक्ष्य प्राप्त नहीं हो गया वह तो हमारे रास्ते में एक बाधा थी और आज वह दूर हो गयी है । किन्तु अभी भी मानव प्रगति में हमें सहायता करनी है ।

हमारी आत्मा ने अंग्रेजी राज्य के प्रति विद्रोह केवल इसलिये नहीं किया था कि दिल्ली में बैठकर राज्य करने वाला एक अंग्रेज था बल्कि इसलिये भी कि हमारे दिन प्रतिदिन के जीवन में हमारे जीवन की गति में विदेशी पद्धतियों और रीति रिवाज विदेशी दृष्टिकोण और आदर्श अडंगा लगा रहे थे । हमारे सम्पूर्ण वातावरण को दूषित कर रहे थे ।"[1]

समस्याओं का सामन्जस्यपूर्ण हल ही पण्डित दीनदयाल उपाध्याय की शिक्षा कही जा सकती है ।

1. "वैयक्तिक स्वातन्त्रय के साथ सामाजिक अनुशासन"
2. वैयक्तिक विकास की प्रेरणा के साथ सामाजिक समता का आग्रह
3. आर्थिक विकास के साथ सामाजिक न्याय
4. मूल भूत जैविक एकता के साथ दृश्यमान विभिन्नता
5. राज्याधिकार के साथ–साथ औद्योगिक व नागरिक स्वशासन
6. व्यवस्था के साथ सहजता
7. समाज व्यवस्था के साथ राज्य विहीनता
8. आत्म संयम के साथ आत्म प्रकाशन
9. विवेकीकरण के साथ बुद्धि, मर्यादा एवं चेतना
10. भौतिक अग्रता के साथ आध्यात्मिक उत्तोलन
11. विशेष सत्ता के साथ समग्र दृष्टि
12. राष्ट्रीय आत्म निर्माण के साथ अर्न्तराष्ट्रीय सहयोग
13. स्वेच्छाचारिता विहीन स्वातन्त्रय
14. सैनिकीकरण विहीन अनुशासन

---

[1] राष्ट्र की जीवन दायिनी शक्ति पृष्ठ – 38, 39

15. विशेषाधिकार विहीन प्रतिष्ठा
16. एकरूपता विहीन एकता
17. गतिहीनता मुक्त स्थायित्व
18. जोखिम विहीन गतिशीलता
19. सत्तावाद विहीन राज्याधिकार
20. मानवीयता क्षतिमुक्त औद्योगिक प्रगति
21. अनगढ़ भौतिकवाद विहीन भौतिक समृद्धि
22. क्षितजीय विभाजनहीन अनुलम्ब समाज व्यवस्था
23. सकेन्द्रीयता विहीन मानववाद
24. अद्यतन आधुनिक तकनीकी ज्ञान के साथ रोजगार अवसरों की वृद्धि
25. विकेन्द्रित उत्पादन प्रक्रिया के साथ उत्पादन क्षमता में वृद्धि
26. राष्ट्रीयकरण के साथ लोक उत्तरदायित्व
27. शहरीकरण के साथ सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
28. स्थानीय स्तर पर सूक्ष्म आयोजन के साथ राष्ट्रीय स्तर पर वृहद् आयोजन
29. अपनी पृथक पहचान की सुरक्षा के साथ अपने प्राकृतिक जन समुदायों की एकात्मता
30. भारतीय जीवन के मूल्यों के साथ आधुनिक वैज्ञानिक एवं तकनीकी अग्रता
31. युगधर्म के साथ सनातन धर्म
32. विश्व राज्य जो विभिन्न राष्ट्रीय संस्कृतियों के उन्नयन तथा सहयोग के आधार पर समृद्ध एवं विकसित हो
33. मानव धर्म जो भौतिकवाद सहित सभी पंथों की पूर्णता के साथ समृद्ध एवं विकसित हो ।"[1]

---

[1] राष्ट्र जीवन की दिशा पण्डित दीनदयाल उपाध्याय, राष्ट्र की जीवन दायिनी शक्ति पृष्ठ – 340

डा0 महेश चन्द्र शर्मा ने उपरोक्त मानवीय समस्याओं को चार भागों में बांटते हुये कहा है –

1. प्रकृति जन्म विरोधाभासों में सामन्जस्य की समस्या ।
2. समाजशास्त्रीय विकृतियों से मुक्त मानवीय व्यवस्था के सुनिश्चित की समस्या ।
3. भारतीय परिस्थिति में अन्तर्निहित विरोधाभासों की समस्या ।
4. 'विश्व राज्य' व 'मानव धर्म' के स्थापना की समस्या ।

मानव समस्याओं के समाधान के लिये प्रस्तुत पण्डित जी के इसी चिन्तन को शोधकर्त्री ने उनकी 'शिक्षा' के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । शिक्षा की दृष्टि से पाठ्यक्रम शिक्षा का एक अभिन्न अंग है । पाठ्यक्रम के अभाव में शिक्षा उद्देश्यहीन एवं अव्यवस्थित ही रहती है । इस शिक्षा के द्वारा निर्दिष्ट मानवीय मूल्यों की प्राप्ति के लिये पाठ्यक्रम को अति आवश्यक माना गया है । सभी बौद्धिक विषय विविध कौशल अनेकानेक कार्य पढ़ना, लिखना, शिल्प खेलकूद आदि क्रियाकलाप । पाठ्यक्रम के क्षेत्र के अर्न्तगत है ।[1]

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने पाठ्यक्रम की व्यापक परिभाषा करते हुये लिखा है –

"पाठ्यक्रम का अर्थ न केवल उन सैद्धान्तिक विषयों से है जो स्कूल में परम्परागत रूप से पढाये जाते हैं वरन् इसमें अनुभवों की वह सम्पूर्णता भी सम्मिलित है जिनको बालक स्कूल कक्षा प्रयोगशाला कार्यशाला तथा खेल के मैदान में एवं शिक्षकों और छात्रों के अनगिनत औपचारिक सम्पर्को से प्राप्त करता है ।[2]

x see p.265

पाठ्यक्रम की परिभाषा देते हुये प्रसिद्ध विद्वान मुनरो ने कहा है –
"पाठ्यक्रम में वे समस्त अनुभव निहित है जिनको विद्यालय द्वारा शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये उपयोग में लाया जाता है ।"[3]

---

[1] शिक्षा के सिद्धान्त – पाठ्यक्रम – पाठक एवं त्यागी पृष्ठ – 382
[2] माध्यमिक शिक्षा – आयोग 1953 पृष्ठ – 165
[3] माध्यमिक शिक्षा – आयोग 1953 पृष्ठ – 383

तथा फ्राबेल के अनुसार –

"पाठ्यक्रम को मानव जाति के सम्पूर्ण ज्ञान तथा अनुभव का सार समझना चाहिये।"[1]

शोधकर्त्री की दृष्टि में नयी समाज रचना के लिये पण्डित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रणीत एकात्म मानव दर्शन को वर्तमान शैक्षिक पाठ्यक्रम का आधार बनाया आना चाहिये । जिसके द्वारा हम अपने खोये हुये गुणों गौरव एवं मूल्यों को पुनः प्राप्त कर सकेगे ।

अतः आज सभी वर्तमान शिक्षा पद्धति में परिवर्तन लाने की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं । गैर सरकारी क्षेत्रों जैसे 'विद्या भारती' आदि संगठनों ने इस दिशा में प्रयास प्रारम्भ किये हैं । वर्तमान में प्रचलित शिक्षा पद्धति के विकल्प के रूप में भारतीय शिक्षा पद्धति के विकास हेतु देश में चिन्तन चल पड़ा है । इसी दिशा में अपने कदम बढाते हुये शोधकर्त्री ने राष्ट्र जीवन के लिये संजीवनी के रूप में एकात्म मानव दर्शन पर आधारित निम्नलिखित पाठ्यक्रम प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

1 - पाठ्यक्रम की रूपरेखा -:

एकात्ममानवदर्शन पर आधारित पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी के पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचारों को निम्नवत प्रस्तुत करने का प्रयास शोधकर्ती द्वारा किया गया है । शोधकर्त्री की दृष्टि में पण्डित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा लिखित "राष्ट्र जीवन की दिशा" ही उनके पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचारों का संकलन है ।

1. पाश्चात्य ज़ीवन पद्धति में कहीं न कहीं कोई मौलिक त्रुटि अवश्य है जिसके कारण वहां समृद्धि होते हुये भी 'सुख' नहीं है और वह त्रुटि है कि वे मनुष्य का सम्पूर्ण विचार नहीं कर पाये । चूंकि मनुष्य की समस्त क्रियाओं का उद्देश्य सुख की प्राप्ति ही है इसलिये ऐसे

[1] माध्यमिक शिक्षा आयोग 1953, पृष्ठ – 387

पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाना चाहिये जिसके द्वारा मनुष्य 'सुख' को प्राप्त कर सके । पण्डित दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार –

"हमने व्यक्ति के जीवन का पूर्णता के साथ संकलित विचार किया है उसके शरीर मन बुद्धि और आत्मा सभी का विकास करने का उद्देश्य रखा है ।
इस हेतु चारों पुरूषार्थों का संकलित विचार हुआ है ।"[1]

अतः शारीरिक मानसिक, बौद्धिक आत्मिक एवं अध्यात्मिक क्रियाओं के साथ–साथ परोपकार की भावना उत्पन्न करने वाली क्रियाओं को पाठ्यक्रम में रखा जाना चाहिये ।

पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिये जो व्यक्तिवादी भावना से ऊपर उठकर संघवादी एवं सामुदायिक जीवन की प्रेरणा दे । अर्थात सामुदायिक क्रियाओं को पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिये ।

3. यह सिद्धांत सभी को मानना चाहिये कि सच्चा सामर्थ्य वास्तविक शक्ति राष्ट्र में ही निहित होती है राज्य में नहीं । कुछ लोग राज्य को ही राष्ट्र समझकर समसामयिक राजनीति के अनुसार चलना ही श्रेयष्कर समझते और भूल कर बैठते है । इसी कारण से हमारे भी राष्ट्र का स्वाभिमान क्षीण हुआ है । अतः राजनीति से हटकर अस्थाई सत्य को ही वास्तविक न मानकर विशुद्ध राष्ट्र के पुर्ननिर्माण में सहायक सिद्ध होगा ।
4. पण्डित दीनदयाल जी साम्प्रदायिकता विहीन धार्मिक भावना को जागृत करने वाले पाठ्यक्रम के पक्षधर हैं ।
5. "चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के लिये एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया पर स्वयं निस्पृह कर्मयोगी की भांति राज्य से निराशक्त रहे । आज हमारे राजनीतिक जीवन में जो विकृतिया दिखाई दे रही है । वह आसक्ति के कारण दिखाई दे रही हैं ।"[2]

---

[1] एकात्म मानव दर्शन पृष्ठ – 29 – एकात्ममानववाद पं0 दीनदयाल उपाध्याय
[2] राष्ट्र जीवन की दिशा पृष्ट – 76 – 77–राष्ट्र प्रकृति और विकृति पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी

इस प्रकार राष्ट्र की प्रकृति के अनुकूल त्याग और अनाशक्ति की आदर्श तथा पवित्र भावना उत्पन्न करने वाला पाठ्यक्रम वर्तमान समाज में व्याप्त विकृतियों को समाप्त करने में सहायक होगा ।

6. शोधकर्त्री की दृष्टि में लोकमत को निरन्तर परिष्कृत करते रहने की आवश्यकता है । अतः धर्म के तत्वों के अनुसार लौकिक और पारलौकिक उन्नति हेतु संस्कारित एवं परिष्कारित करने वाला पाठ्यक्रम वाच्छनीय है ।

7. 'सर्व भवन्तु सुखिनः' हमारी कामना है और –

   भारत का यदि कोई इतिहास है तो वह समस्त विश्व की मंगल कामना का ही है । विश्व के विभिन्न देशों में प्राप्त भारतीय इतिहास के अवशेष आज भी इसी तथ्य की घोषणा कर रहे है कि भारत ने प्राणि मात्र के कल्याण के लिये ही प्रयत्न किये हैं । इसलिये सत्य तो यह है कि विश्व में परस्पर संघर्ष, विद्वेष प्रतिद्वन्दिता के आधार पर प्रगट हो रही पश्चिमी राष्ट्रवाद की विभीषिकाओं से विश्व को बचाना है तो उसके लिये भारत के सशक्त राष्ट्रवाद को ही संगठित और सक्षम बनाकर खड़ा करना होगा ।[1]

   इस प्रकार शोधकर्त्री के अनुसार – 'हिन्दु राष्ट्रवाद' या 'भारतीय राष्ट्रवाद' को पाठ्यक्रम का विषय बनाया जाना चाहिये ।

8. व्यक्ति अपनी शक्ति और गुणों के द्वारा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करे और समाज भी उसके योगक्षेम की चिन्ता करे । इसलिये शोधकर्त्री व्यक्ति और समाज के बीच समन्वय एवं सौहार्द बनाये रखने वाला पाठ्यक्रम निर्धारित किये जाने के पक्ष में है ।

---

[1] राष्ट्र जीवन की दिशा पृष्ठ–108, संगठन का आधार राष्ट्रवाद – पण्डित दीनदयाल उपाध्याय

9. हमारे यहां यदि ऋषि मुनियों ने समाज की वर्ण व्यवस्था का निर्माण करके समाज में सुख और आनन्द के साथ–साथ एकात्मता का भाव जागृत किया । वर्ण व्यवस्था का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि –

"हजारों मस्तक, हजारों बाहु हजारों नेत्र, हजारों उदर, हजारों जाघें, हजारों पैरों वाला एक पुरूष पृथ्वी पर फैला हुआ है ज्ञानी मनुष्य इसके मुख हैं शूरवीर बाहु है, किसान और व्यापारी इसके उदर तथा जांघे हैं कारीगर इसके पैर हैं । ज्ञानी, शूर व्यापारी और शिल्पी मिलकर एक देह है । एक देह में जिस प्रकार एकात्मता होती है वैसी एकात्मता इस जनता रूपी पुरुष में होनी चाहिये ।"[1]

इस प्रकार सामन्जस्यपूर्ण एकात्म समाज व्यवस्था का पुनः निर्माण करने के लिये प्राचीन वण्र व्यवस्था के महत्व को आवश्यक सुधारों के साथ स्वीकारना होगा और शिक्षा के पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान देना होगा ।

10. व्यक्ति और राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर बनाने के लिये पण्डित दीनदयाल जी सैन्य शिक्षा, कृषि औद्योगिक शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, इन्जीनियरिंग शिक्षा, व्यवसायिक शिक्षा, प्राविधिक शिक्षा, यातायात शिक्षा, जनसंख्या शिक्षा तथा सामाजिक शिक्षा को पाठ्यक्रम की विषय वस्तु बनाये जाने के हिमायती थे । उन्होंने 'भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा' नामक पुस्तक में अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुये कहा है कि –"यह भी अवश्यक है कि हम आर्थिक क्षेत्र में भी आत्म निर्भर बनें ।[2]"

---

[1] राष्ट्र जीवन की दिशा, पं० दीनदयाल उपाध्याय सामंजस्यपूर्ण वर्ण स्यवस्था पृष्ठ – 134
[2] भारतीय अर्थनीति, विकास की एकदिशा पृष्ठ – 25 आत्मनिर्भरता, पं० उपाध्याय

2. व्यायाम तथा शिक्षा-:

शिक्षा का अर्थ ही हैं – मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास । अर्थात मनुष्य का बौद्धिक, आत्मिक आध्यात्मिक, नैतिक, चारित्रिक एवं शारीरिक विकास । जिसे हम एक पक्षीय या एकांगी विकास न कह कर मनुष्य का सर्वांगीण विकास एवं संतुलित विकास कहते हैं । जिसमें शरीर का विकास सम्मिलित है ।

प्लेटो के अनुसार –

"शिक्षा द्वारा हमें शरीर आत्मा की पूर्णता के लिये सब कुछ प्राप्त हो सकेगा अगर हममें उसे ग्रहण करने की क्षमता हो ।"[1]

राधाकृष्णन के अनुसार–

"शिक्षा सम्पूर्ण मानव का विकास है"[2]

महात्मा गांधी शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य मानव जीवन का सर्वतोन्मुखी विकास मानते थे । शिक्षा से उनका तात्पर्य है –

"शिशु एवं मानव के शरीर मन एवं आत्मा में निहित सर्वश्रेष्ठ तत्वों का विकास"[3]

उनका कहना है कि –

"शिक्षा से मेरा अभिप्राय है बालक और मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा में पाये जाने वाले सर्वोत्तम गुणों का चतुर्मुखी विकास ।"[4]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शारीरिक विकास शिक्षा का विशिष्ट उद्देश्य है । विभिन्न समाजों ने विभिन्न कालों में शारीरिक विकास के लिये विभिन्न प्रकार के 'व्यायाम' की व्यवस्था की है । भैतिक वादियों के अनुसार – स्वस्थ शरीर के द्वारा ही सुखों की प्राप्ति की जा सकती है तथा आध्यात्मवादियों के अनुसार स्वस्थ शरीर के द्वारा ही उच्च साधना एवं आत्मानुभूति का सुख प्राप्त किया जा सकता है ।

---

[1] विश्व के महान शिक्षा शास्त्री डा. बैद्यनाथ शर्मा पृष्ठ – 777
[2] उपरोक्त 1 के अनुसार पृष्ठ – 777
[3] महात्मा गांधी पृष्ठ – 461
[4] महात्मा गांधी पृष्ठ – 461

वर्तमान समय में बच्चों के शरीर को स्वस्थ रखने के लिये उनकी मांसपेशियों एवं विभिन्न अंगों को मजबूत बनाने और उनकी कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों को क्रियाशील बनाने के लिये शिक्षा के साथ–साथ व्यायाम को भी पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त है । आसन दौड़ खेल–कूद एवं अन्य नये–नये व्यायाम के साधनों की व्यवस्था की जाती है । हमारे यहां कहा भी जाता है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रहता है । भौतिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धियां शरीर के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती हैं । स्वस्थ मनुष्य प्रसन्न एवं कार्यक्षम रहता है इसके विपरीत अस्वस्थ मनुष्य चिड़चिड़ा एवं आलसी रहता है । उसमें किसी प्रकार का उत्साह नहीं रहता वह अपनी रोटी भी ठीक से नहीं कमा सकता है कुल मिलाकर उसका जीवन ही भार स्वरूप हो जाता है । अतः प्रारम्भ से ही बच्चों को स्वस्थ रखने के लिये 'व्यायाम' की व्यवस्था की जानी चाहिये और यह जिम्मेदारी उनकी है जो शिक्षा क्षेत्र से जुड़े हुये हैं चाहे वह शिक्षक हो या शिक्षाविद ।

प्राचीन काल से ही हमारे यह शरीर को स्वस्थ रखने के लिये 'व्यायाम' की व्यवस्था रही है । प्राचीन कालीन या वैदिक कालीन शिक्षा की यह प्रमुख विशेषता थी कि शरीर के सुसंगत विकास के लिये विद्यार्थी को नित्यप्रति 'व्यायाम' करना पड़ता था ।

"शारीरिक श्रम के इतने कार्य हर विद्यार्थी को नित्य करने होते थे जिसमे भरपूर शारीरिक व्यायाम हो जाता था ।"

सत्यार्थ प्रकाश के अध्याय – 3 में 'व्यायाम' के महत्व का वर्णन करते हुये कहा गया है कि –

"जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है । जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध हो जाते है वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं ।

बल पुरूषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्म रूप हो जाती हे जोकि बहुत कठिन एवं सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है ।"[1]

विद्यार्थियों को स्वस्थ रखने के उपाय बताते हुये महात्मा गांधी ने कहा है –

"बालको की ऊँचाई वजन आदि का नियमित लेखा जोखा रखा जाना चाहिये साथ ही उन्हें नियमित रूप से खेल तथा व्यायाम कराया जाना चाहिये ।[2]"

वनस्थली विद्यापीठ राजस्थान में बच्चों के सर्वागीण विकास के लिये पंचमुखी शिक्षा योजना का निर्माण किया गया। शारीरिक, व्यवहारिक, ललितकला विषयक, नैतिक और बौद्धिक । अतः 'व्यायाम' की दृष्टि से शारीरिक शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । वहां पर विभिन्न प्रकार की ड्रिलों, लाठी, लेजिम, गदका, डम्बल तलवार, भाला, सैनिक कवायद, आधुनिक और पुराने खेल, कबड्डी बालीबाल खो–खो, हॉकी, बास्केट बाल, बैडमिण्टन, थ्रो बाल, साईकिल सवारी घुड़सवारी तथा तैराकी की शिक्षा दी जाती है । यौगिक आसनों को सिखाने का भी प्रबन्ध है ।

व्यायाम के महत्व को स्वीकारते हुये 'विद्याभारती' द्वारा यह संकल्प व्यक्त किया गया है कि –

"विद्यालय ऐसा चाहिये जहां शरीर स्वस्थ, सुदृढ़ निरोगी तथा कर्म कठोर बन सकें, अभ्यास ऐसा चाहिये जिससे शरीर के अंग प्रत्यंगों में पारस्परिक सहयोग हो तारतम्य हो, एकाग्रता के आधार पर मानसिक शक्तियों का प्रस्फुटन हो । इसके लिये शारीरिक कार्यक्रमों की रचना ध्यान व प्राणायाम की नियमित व्यवस्था चाहिये ।"[3]

---

[1] सत्याथ्र प्रकाश पृष्ठ – 28 अध्याय 3, "अध्ययन अध्यापन विधि", महिर्ष दयानन्द सरस्वती
[2] विश्व के महान शिक्षा शास्त्री – महात्मा गांधी पृष्ठ – 540
[3] विद्याभारती, सरस्वती शिशु मन्दिरों के आधार भूत बिन्दु, राणा प्रताप सिंह, लोकहित प्रकाशन, राजेन्द्र नगर, लखनऊ पृष्ठ – 25

वैसे तो 'व्यायाम' का शाब्दिक अर्थ है शारीरिक शिक्षा परन्तु वास्तव में शारीरिक शिक्षा का अर्थ है बालक का शारीरिक, प्राणिक, मानसिक नैतिक एवं आत्मिक विकास यानि कि सम्पूर्ण व्यक्तितव का गठन ।

व्यायाम से शरीर स्वस्थ होता है और स्वस्थ शरीर वाला मनुष्य स्वस्थ समाज का निर्माण करता है इसलिये स्वामी विवेकानन्द जी ने व्यायाम के द्वारा स्वस्थ एवं बलशाली होने का आग्रह किया है । उन्हीं के शब्दों में –

"अनन्त शक्ति ही धर्म है, बल पुण्य है और दुर्बलता पाप । सभी पापों और सभी बुराईयों के लिये एक ही शब्द पर्याप्त है वह है दुर्बलता ।

पण्डित दीनदयाल जी उपाध्याय 'व्यायाम' को शिक्षा का अंग बनाये जाने के पक्षधर हैं । उनका कहना है कि –

"व्यक्ति भाव जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व ढलता है आवश्यक ही होता है । 'व्यायाम' से शरीर बलशाली होता है । संध्या उपासना करने से अन्तःकरण को शान्ति मिलती है दीर्घायु प्राप्त होती है । व्यक्ति भाव से व्यक्तिशः सेवा सुश्रुषा करने से ही यह सब हो पाता है । व्यक्ति को निरोग, दीर्घजीवी, हष्टपुष्ट आनन्दित, प्रसन्न कार्यक्षम यशस्वी होना जरूरी है । जहां व्यक्ति निर्बल होकर निकम्मा हो जाता है वहां समष्टि की आराधना का पूरा लोप होना स्वाभाविक ही है ।"[1]

अतः व्यक्ति शक्तिशाली होगा तो राष्ट्र शक्तिशाली होगा अन्यथा व्यक्ति के दुर्बल होने से राष्ट्र भी दुर्बल हो जायेगा । इसलिये व्यक्तिशः शक्तिशाली बने रहने के लिये व्यायाम की जीवन में महती आवश्यकता है । जिस प्रकार शरीर को भोजन की आवश्यकता होती है । उसी प्रकार व्यायाम की भी आवश्यकता होती है । भोजन रूपी ईधन का उपयुक्त लाभ लेने के लिये व्यायाम अति आवश्यक है ।

---

[1] राष्ट्र जीवन की दिशा मैं और हम, पं० दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ – 30

इस प्रकार पं0 दीनदयाल जी का मानना है कि व्यक्ति को बलोपासना के लिये व्यायाम का कष्ट तो उठाना ही पड़ेगा क्योंकि –

"उपनिषद में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'नाद्रयमात्मा बलहीनेन लभ्यः' –

दुर्बल व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता इसी प्रकार की सूक्ति है कि –

"शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम् अर्थात शरीर धर्म का प्रथम साधन है ।"[1]

शरीर को स्वस्थ रखने के लिये 'व्यायाम' की महत्ता स्वीकारी जानी चाहिये और शिक्षा के साथ खेलों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये । खेलों के द्वारा मनुष्य के अन्दर उत्साह एवं क्रियाशीलता का संचार होता है । आनन्द की वर्षा होती है । पं0 जी के शब्दों में –

"जैसे हम खो–खो का खेल खेलते समय एक दूसरे को खेलने का अवसर देते हैं तो पूरा खेल आनन्द से भर उठता है ।"

अतः पं0 जी व्यायाम के लिये खेलों की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं तथा शोधकर्त्री भी उपरोक्त विवेचन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि जीवन में 'व्यायाम' को शिक्षा का अंग बनाना चाहते है जिससे की आने वाली पीढ़ी हृष्ट पुष्ट एवं स्वस्थ रहकर राष्ट्र को सबल बनायें ।

---

[1] एकात्म मानव दर्शन, पं0 दीनदयाल उपाध्याय – पृष्ठ – 25–26

3. पाठ्येत्तर क्रियाओं की शिक्षा :-

"छात्र कल का नहीं आज का नागरिक है । अतः आज के नागरिक के रूप में उसके जीवन का निर्माण करना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये जिसमें विद्यार्थी एक आदर्श नागरिक के रूप में वर्तमान जीवन व्यतीत से पाठ्येत्तर क्रियाओं के द्वारा छात्रों के अन्दर उत्तरदायित्व की भावना, कर्तव्य निष्ठा, दूसरों के हितों की रक्षा करने का स्वभाव, प्रेम, सहयोग परस्परावलम्बन की भावना आदि सामाजिक गुणों का विकास किया जाना चाहिये । छात्र परिषद, छात्र बैंक, छात्र न्यायालय, एकाउंटिंग, बुक बैंक एन.सी.सी., एन.एस.एस., बाल सभा, पिकनिक एवं शैच्छिक भ्रमण आदि अनेकानेक पाठ्येत्तर क्रियाओं के माध्यम से छात्रों में वाच्छनीय सामाजिक भावना तथा कुशलताओं का विकास सम्भव है ।

माध्यमिक शिक्षा आयोग के अनुसार –

"शिक्षा में सुधार की शुरूआत विद्यालय को जीवन से पुनः जोड़ने एवं उनमें घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना होगा, जोकि आज परम्परागत औपचारिक शिक्षा के कारण टूट चुका है हमें विद्यालय को वास्तविक सामाजिक जीवन एवं सामाजिक गतिविधियों का केन्द्र बनाना है जहां आदर्श मनुष्य समुदाय के समान सुन्दर और सहज जीवन की प्रेरणा और प्रणाली दिखाई दे ।"[1]

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने पुनः इस सम्बन्ध में कहा हे कि –

"स्वच्छ आनन्दप्रद तथा सुव्यवस्थित स्कूल भवन मिल जाने के पश्चात हम चाहेंगे कि स्कूल में विविध प्रकार की संवद्ध क्रियाओं का आयोजन हो जो विद्यार्थियों की विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सके । उसमें मनोरंजक कार्यो क्रियाओं तथा योजनाओं की व्यवस्था करनी होगी जो बच्चों को प्रभावित करे और उनकी विभिन्न रूचियों को विकसित करे ।"

[1] माध्यमिक शिक्षा आयोग पृष्ठ – 214

सामान्य रूप से छात्रों को केवल बौद्धिक स्तर पर सामाजिक समस्याओं की जानकारी रहती है । प्रत्यक्ष अनुभूति न रहने के कारण उनके अन्दर इन समस्याओं को दूर करने का विचार तक उत्पन्न नहीं होता तथा अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वाह भी नहीं कर पाते । इस दृष्टि से पण्डित दीनदयाल उपाध्याय पाठ्येत्तर क्रियाओं के द्वारा छात्रों को सामाजिक समस्याओं से सीधा जोड़ना चाहते हैं उनका कहना है कि –

"व्यक्ति को समाज के प्रति कर्तव्यों का निर्वाह करने में सक्षम बनाना भी समाज का आधार भूत दायित्व है ।"[1]

पाठ्येत्तर क्रियाओं के अर्न्तगत पिकनिक, शैक्षिक यात्राओं शिविरों एवं सहभोजों का आयोजन किया जाना चाहिये । जिससे छात्र जाति, पन्थ, भाषा, निर्धन–धनवान आदि भेदभावों से ऊपर उठकर सामाजिक एकात्मता एवं सहजीवन की अनुभूति कर सकें । गांवों एवं नगरों की रूढ़वादिता अंध विश्वास और पिछड़ी बस्तियों की दुर्दशा देख सकें । छुआ–छूत जैसे कलंक के बारे में जान सकें । इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुये पं. दीनदयाल जी ने कहा है –

"इस दृष्टि से हमें अनेक रूढ़ियां समाप्त करनी होगी, बहुत से सुधार करने होंगे, जो हमारे 'मानव' का विकास और राष्ट्र की एकात्मना की वृद्धि में पोषक हों वह हम करेगें और जो बाधक हो उसे हटायेंगे । आज यदि समाज में छुआ–छूत और भेद भाव घर कर गये हैं जिसके कारण लोग मानव को मानव समझ कर नहीं चलते और जो राष्ट्र की एकता के लिये घातक सिद्ध हो रहे है हम उनको समाप्त करेंगे ।"[2]

शिक्षा के माध्यम से समाज में चेतना जाग्रत हो यह इसका प्रमुख उद्देश्य है । अतः हमारी शिक्षा संस्थाओं की गतिविधियां सम्पूर्ण समाज को प्रभावित करने वाली एवं उसे सही दिशा देने वाली होनी चाहिये । गरीबी, भुखमरी, कुशिक्षा बेरोजगारी, दहेज स्वार्थ और घृणा जैसी सामाजिक बुराईयों को दूर करने में सक्षम

---

[1] एकात्म मानव दर्शन पृष्ठ – 63

[2] एकात्म मानव दर्शन उपसंहार राष्ट्र जीवन के अनुकूल अर्थरचना पं० दीनदयाल उपाध्याय–पृष्ठ–74,75

पीढ़ी जब शिक्षा संस्थाओं से निकलेगी तभी शिक्षा संस्थायें अपने उद्देश्य में सफल मानी जायेगी ।

इस सम्बन्ध में पं0 दीनदयाल उपाध्याय के विचार सर्वधा उचित एवं अनुकरणीय हैं –

"हमें उन संस्थाओं का निर्माण करना होगा जो हमारे अन्दर कर्म चेतना पैदा करे हमें स्वकेन्द्रित एवं स्वार्थी बनाने के स्थान पर राष्ट्र सेवी बनाये अपने बंधुओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण ही नहीं उनके प्रति आत्मीयता और प्रेम पैदा करें ।"[1]

सरस्वती विद्या मन्दिरों में पाठ्येत्तर क्रियाओं को प्रमुखता प्रदान करते हुये 'बाल बैक' का गठन किया है उनका मानना है कि पाश्चात्य शिक्षा पद्धति देश के भावी कर्णधारों को मात्र किताबी ज्ञान तक सीमित रखती है । इसलिये व्यवहारिक ज्ञान को बढ़ाने के लिये सरस्वती बाल बैंक प्रारम्भिक कदम के रूप में संचालित किये गये । इस प्रकार बच्चों को बैकिंग कार्य पद्धति का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है ।

व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिये योग एक सशक्त माध्यम माना गया है । "योगश्चित वृति निरोधः" अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है । "योग कर्मसु कौशलम्" योग द्वारा काम करने की कुशलता विकसित होती है । इस बात का ध्यान रखते हुये सरस्वती शिशु मन्दिरों एवं विद्या मन्दिरों में 'योग शिक्षा' को पाठ्येत्तर क्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है ।

---

1 एकात्म मानव दर्शन पं0 दीनदयाल उपाध्याय पृष्ट – 75

4. 'संगीत और साहित्य की शिक्षा'-:

हमारे यहां कहा गया है –

"साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात् पशुः तुच्छ विषाण हीनः ।।"

अर्थात साहित्य संगीत और कला से अनभिज्ञ व्यक्ति भी पूंछ और सींग से रहित पशु है तथा यह भी माना गया है कि साहित्य और संगीत भी ऐसा हो जो मनुष्य के अन्दर मानवता, उदारता, दयालुता, सहिष्णुता, परोपकारिता, भावात्मक एवं रागात्मक एकता तथा राष्ट्रीयता की धवलधार का पुण्य प्रवाह कर सके । जैसे –

"जो भरा नहीं है भावों से,
बहती जिसमें रसधार नहीं ।
वह ह्रदय नहीं है पत्थर है,
जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं ।।"

इसी उद्‌देश्य की पूर्ति के लिये प्रायः सभी शिक्षाविदों ने साहित्य संगीत और कला आदि विषयों को पाठ्क्रम में महत्वपूर्ण स्थान किया है ।

शिक्षा के लिये मन की एकाग्रता परमावश्यक है । एकाग्रता की शक्ति जितनी अधिक होगी ज्ञान की प्राप्ति भी उतनी अधिक होगी । मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार जिस विषय को हम बालक को सिखाना चाहते हैं उसमें उसकी रूचि उत्पन्न कर दें । जिससे उसका मन मन एकाग्र हो जाये । मन को एकाग्र करने में काव्य कला और संगीता का प्रमुख स्थान है बच्चों को काव्य कला और संगीत की शिक्षा देकर उनके संवेगों को ऊंचा उठाया जा सकता है । संतुलित किया जा सकता है ।

पं० दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के स्वंय सेवक थे और संघ में सरल संगीत और गीतों के माध्यम से किशोरों के ह्रदयों में राष्ट्रीयता और एकात्मता की सहज भावना विकसित की जाती है । जब कभी पथ संचालन के

कार्यक्रम आयोजित होते है, स्वयं सेवक बैण्ड की धुन के साथ–साथ कदम ताल करते हुये संचलन गीत दुहराते हुये आगे बढ़ते हैं –

"मातृ भूमि गान से गूंजता रहे गगन,
स्नेह नीर से सदा फूलते रहे सुमन,
जन्म सिद्ध भावना स्वेदश का विचार हो,
रोम रोम में श्या स्वधर्म संस्कार हों
आरती उतारते प्राण दीप हो मगन
स्नेह नीर से सदा ...."

इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि गीत और संगीत ही एक सरल और सशक्त माध्यम है जिससे हृदयवन्त्री को झंकृत करते हुये संवेगों को उद्रवेलित करते हुये, उद्देश्य के चर्मोत्कर्ष तक पहुंचाया जा सकता है । पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी को स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह गीत बहुत स्फूर्ती प्रदान करता था –

"यदि तोर डाक शुने केऊ नाये आरो, तवे एकला चलो रे ।"

और इसी प्रकार उनके भी मुखर से उनके प्रिय गीत की यह पंक्तियां प्रस्फुटित होती रहती थी –

"सिर बांध कफनियां शहीदों की टोली निकली ।"

अतः शोधकर्त्री की दृष्टि में पं0 दीनदयाल उपाध्याय संघ के प्रखर राष्ट्र भक्तिपूर्ण गीतों से पूर्णतः प्रभावित थे उनका मानना था कि ऐसे राष्ट्रीय गीतों के माध्यम से मनुष्य के अन्दर सभी राष्ट्रीय एवं मानवीय गुणों को विकसित किया जा सकता है तथा उन्हें स्थायित्व भी प्रदान किया जा सकता है । अतः शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये पं0 दीनदयाल जी गीत और संगीत को पाठ्यक्रम में स्थान दिये जाने के पक्षधर थे । उन्होंने 'संगीत और साहित्य' एवं 'जगत गुरू शकंराचार्य' में प्रमुख स्थान प्रदान किया है ।

शिक्षण पद्धति-:

शिक्षण पद्धति ही शिक्षा दर्शन एवं सिद्धान्तों के क्रियान्वयन का प्रमुख माध्यम है । उपयुक्त शिक्षण पद्धति के आभाव में अच्छा से अच्छा दर्शन एवं सिद्धान्त असफल होकर कोरे पुस्तकीय आदर्श और सिद्धान्त बन कर रह जाते हैं । इसलिये शिक्षा सिद्धान्तों आदर्शो, मूल्यों एवं शैक्षिक उद्देश्यों को साकार करने के लिये अनुकूल शिक्षण पद्धति वाच्छनीय है ।

शिक्षण की प्रक्रिया में तीन कारक निहित रहते है प्रथम बालक, जो इस प्रक्रिया का आधार बिन्दु है, द्वितीय विषय वस्तु जो उसे सीखनी है और तीसरा है शिक्षण जो सीखने में सहायता प्रदान करता है । अर्थात सीखना और सिखाना ही शिक्षण पद्धति है । शिक्षण पद्धति को हम शिक्षण संस्कार भी कह सकते है जिसके द्वारा अनुभवी व्यक्ति अर्थात शिक्षक अपने विद्यार्थी को अभीष्ठ ज्ञान एवं अर्जित अनुभवों से दीक्षित करता है ।

अन्य कलाओं की भांति शिक्षण भी एक कला है । स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – "मनुष्य के अन्तर में समस्त ज्ञान अव्यवस्थित है । आवश्यकता है उसे जाग्रत करने के लिये उपयुक्त वातावरण निर्मित करने की । उस वातावरण का निर्माण करना ही शिक्षण कार्य है ।"

शिक्षक को यह याद रखना चाहिये कि बालक काम करके स्वयं खोज करके उत्तम ढंग से सीखता है । शिक्षक तो उसकी सहायता करता है उसके लिये उपयुक्त वातावरण का निर्माण करता है, उसके अन्दर की सृजनात्मक शक्ति का विकास करके उसकी रूचि को जाग्रत करता है । प्राचीनकाल से ही शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये शिक्षण पद्धतियों का प्रयोग होता रहा है श्रवण मनन तथा निदिध्यासन इन तीन प्रक्रियाओं का शिक्षण कार्य में महत्वपूर्ण स्थान था –

"श्रवणं तु गुरोः पूर्व मननं तदनन्तरम् ।
निदिध्यासन मित्येतत्पूर्ण बोध्स्य कारणम् ।।"[1]

---

[1] भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, शिक्षण के सिद्धान्त एवं पद्धतियां, लज्जाराम तोमर, सुरूचिप्रकाशन, केशवकुन्ज, झण्डेवला, – नई दिल्ली पृष्ठ – 145

अर्थात श्रवण के द्वारा शिष्य गुरू के वचनों को ध्यानपूर्वक सुनता था, मनन के द्वारा उनके वचनों का बौद्धिक परिग्रहण करता था तथा निदिध्यासन के द्वारा उसकी साधनात्मक अनुभूति करता था । इस प्रकार ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में शिक्षक की अपेक्षा शिष्य की चेष्टा ही प्रमुख रहती थी । अपने स्वाध्याय के द्वारा ही वह गुरू के उपदेशों को हृदयंगम करता था । गुरू तो केवल मार्गदर्शक हुआ करते थे ।

शिक्षण एक विज्ञान भी है –

"शिक्षण के विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि विविध पृष्ठ पोषण प्रविधियों के प्रयोग से प्रशिक्षण संस्थाये प्रभावशाली शिक्षक तैयार कर सकती है । शिक्षक की क्रियाओं तथा शिक्षक के व्यवहार का विश्लेषण वस्तुनिष्ठ रूप से करने के लिये निरीक्षण विधियों का विकास किया जा चुका है शिक्षण प्रतिमान भी विकसित हो चुके हैं । शिक्षण तकनीकी तथा शिक्षण सिद्धान्त, शिक्षा विज्ञान की ही देन है ।"[1]

आज मानव के ज्ञान और विज्ञान का विस्फोट हुआ है । इस स्थिति में अध्यापक का कार्य और अधिक जटिल हो गया है । उसे नवीन विधियों में पारंगत होना आवययक है ताकि वह भावी पीढ़ी को उत्तम चिन्तक तथा उत्तम कार्यकर्ता बना सके और विद्यार्थी अनुभूतियों तथा प्रत्यक्षीकरण के साथ समायोजन कर सके। आन्तरिक तथा बाह्रय अनुभूतियों के साथ समन्वय कर सकें और रचनात्मक दिशा में कदम बढ़ा सके । रूसो, फावेल, हरवर्ट स्पेन्सर ड्यूवी और गांधी जैसे शिक्षाशास्त्रियों ने नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके नवीन विधियों को प्रस्तुत किया । किण्डर गार्डेन, माण्टेसरी डाल्टन प्रोजेक्ट, हयूरिस्टिक तथा बेसिक शिक्षा आदि ऐसी नवीन विधियां हैं जिनमें बालक को केन्द्र बिन्दु मानकर उसकी रूचियों, अभिरूचियों, योग्यताओं एवं भिन्नताओं का ध्यान रखते हुये उसका विकास किया

---

[1] शिक्षा तकनीकी, आर.ए. शर्मा – पृष्ठ – 36

जाता है। पं0 दीनदयाल उपाध्याय ने भी अपनी शैक्षिक विचारधारा को जन–जन तक पहुंचाने के लिये निम्नांकित शिक्षण विधियों को अंगीकृत किया है । शोधकर्त्री द्वारा उनका विवेचन प्रस्तुत है –

1. आगमन एवं निगमन विधि -:

आगमन विधि एक स्वाभाविक विधि है इस विधि के द्वारा बालक पाठ्यवस्तु को सरलतापूर्वक सीख लेता है । प्राचीन काल में ही शिक्षण विधि के रूप में इस विधि में शिक्षक शिक्षार्थियों के सामने कुछ विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते है, शिक्षार्थी इनमें सामान्य तत्वों की खोज करते हैं । अन्त में नियम अथवा सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं । इस विधि में –

"ज्ञान से अज्ञान की ओर"

"विशिष्ट से सामान्य की ओर" और

"मूर्त से अमूर्त की ओर"

"सरलता से कठिन की ओर" चला जाता है

इस प्रकार नियमों की खोज एवं सिद्धान्तों के निरूपण में इसी विधि का प्रयोग करते हैं। लेकिन नियम और सिद्धान्तों की खोज के बाद उनका प्रयोग करना निगमन विधि के अर्न्तगत आता है । अतः आगमन विधि के बाद निगमन विधि का प्रयोग आवश्यक होता है । इसका अर्थ है निगमन विधि का प्रयोग करने से पहले आगमन विधि का प्रयोग किया जाना चाहिये। इस प्रकार आगमन निगमन विधि एक दूसरे के पूरक हैं । शोधकर्त्री की दृष्टि में प्रायः सभी शिक्षण कार्य में आगमन निगमन विधि सन्निहित रहती है । अतएव पं0 दीनदयाल जी की 'शिक्षा' में भी आगमन निगमन विधि का प्रयोग हुआ हे जैसे –

"'अध्यापन' शिक्षा का सर्वमान्य साधन है अध्यापन के अर्न्तगत वे सब क्रियायें आती हैं जिनके द्वारा कोई भी व्यक्ति या व्यक्ति समूह अपने पास के ज्ञान को दूसरे को देने का चेतनापूर्वक प्रयास करता हो ।"

2. मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धति -:

शिक्षण कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये अध्यापक को ऐसी शिक्षण विधियों को अपनाना पड़ता है जिनकी सहायता से नीरस विषय भी रूचिकर लगने लगे । मनोविज्ञान इस कार्य में सहायक सिद्ध होता है । मनोविज्ञान ने प्राचीन शिक्षण विधियों में परिवर्तन करके ऐसी विधियों को जन्म दिया है जिससे बालक स्वयं रूचिपूर्वक सीख सकता हे । माण्टेसरी शिक्षण पद्धति किण्डर गार्डेन प्रोजेक्ट तथा ह्युरिस्टिक शिक्षण पद्धति ऐसी मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धतियां है जो बालक के रूचि और स्वभाव का विशेष ध्यान रखती है । मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की भली–भाँति जानकारी रखने वाला अध्यापक बालक के विकास में पूर्ण योगदान कर सकता है। पाठ्योजना के निर्माण में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त बालक की रूचि, रूझान, मूलप्रवृत्ति क्षमता और योग्यता को परखने में सहायता प्रदान करते है ।

वी.एन. झा का तो यहां तक कहना है कि –

"शिक्षा की प्रक्रिया पूर्णतया मनोविज्ञान की कृपा पर निर्भर है ।"[1]

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी ने भी अपनी शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धति को अपनाया हे । सामाजिक जीवन एवं व्यक्तिगत भिन्नताओं के अध्ययन के लिये अनुशासन की समस्याओं को समझने और उनका समाधान करने के लिये उन्होंने मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धति का सहयोग लिया है जैसे –

"भारत के विद्यार्थी को ले लिया जाये तो आज का विद्यार्थी बड़ा सौम्य तथा संधा देखने में लगेगा किन्तु जब वैसे चालीस विद्यार्थी मिल जायें तो बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है । फिर तो वे सभी प्रकार की उच्छृंखलता कर सकते हैं । अर्थात अकेला विद्यार्थी अनुशासनपूर्ण है परन्तु जब चालीस मिल गये तो उनमें अनुशासनहीनता आ जाती है ।"[2]

---

[1] शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा, डा. मालती सारस्वत, पृष्ठ – 31

[2] एकात्म मानवदर्शन, व्यष्टि समस्त में समरसता पं0 दीनदयाल उपाध्याय, – पृष्ठ – 32

इस प्रकार उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि समूह या समाज का अध्ययन करने के लिये व्यक्तिगत भिन्नताओं का अध्ययन करने के लिये तथा अनुशासन की समस्याओं का अध्ययन करके उसका समाधान खोजने के लिये पं0 दीनदयाल जी ने मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धति का प्रयोग किया है । इसी तरह राष्ट्र, धर्म, संस्कृति और मानवता सम्बन्धी विचारों के प्रसार में उन्होंने मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धति को अपनाया है ।

3. रचनात्मक शिक्षण प्रणाली -:

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ रचनात्मक कार्यों के माध्यम से समाज और राष्ट्र की अहनिर्शि सेवा करने वाला एक सांस्कृतिक हिन्दु संगठन है । जिसके एक–एक कार्यकर्ता के मुंह से यह रचनात्मक गीत अनायास ही प्रस्फुटित होता रहता है –

निर्माणों के पावन युग में हम चरित्र निर्माण न भूले
स्वार्थ साधना की आंधी में वसुधा का कल्याण न भूलें ।।

उसी संगठन द्वारा संस्कारित पं0 दीनदयाल उपाध्याय ने राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण में जैसे पुनीत रचनात्मक कार्य के लिये अपना सम्पूर्ण जीवन न्योछावर कर दिया ।

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी देशहित के लिये त्याग, बलिदान आदि की भावना विकसित करना चाहते थे । जैसे –

"देशभक्ति क्या है ? उसका कोई रचनात्मक आधार होता होगा । यदि यह रचनात्मक आधार न रहा तो बड़े–बड़े देशभक्त भी देशभक्ति के नाम पर स्वार्थ का सौदा करने लग जायेंगे। इसलिये रचनात्मक आधार चाहिये वह चिरन्तन नियमों के अनुसार । इस रचनात्मक आधार को समझने के लिये हमको अपनी दृष्टि अर्न्तमुखी करनी होगी ।"[1]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर शोधकर्त्री का मानना है कि पं0 दीनदयाल जी उपाध्याय रचनात्मक शिक्षण पद्धति के प्रबल समर्थक थे तथा समाज की पुर्नसंरचना के दायित्व का भान कराना चाहते थे ।

---

[1] राष्ट्र चिन्तन, पं0 दीनदयाल उपाध्याय – पृष्ठ 117–18

4. सीखने के अवसर प्रदान करना -:

जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति कुछ न कुछ सीखता ही रहता है अर्थात सीखना मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि सीखना ही प्रमुख अध्ययन विषय है, सीखना ही शिक्षा है ।

बुडवर्थ के अनुसार –

"नवीन ज्ञान एवं नवीन प्रतिक्रियाओं की प्रक्रिया सीखने की प्रक्रिया है ।"[1]

शोधकर्त्री की दृष्टि में कोई भी शिक्षा प्रणाली ऐसी नहीं होगी जिसमें सीखने के अवसर न उपलब्ध हो । कोई भी सैद्धान्तिक ज्ञान बिना व्यवहारिक ज्ञान के परिपूर्ण नहीं होता और व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये सीखने की प्रक्रिया का उपयोग अपरिहार्य है ।

इस लिये उपाध्याय जी सिखाने के ज्यादा पक्षधर हैं । उनका सुझाव है कि विभिन्न शिक्षा संस्थानों द्वारा सिखाने एवं व्यवहारिक ज्ञान प्रदान किये जाने का प्रयास किया जाना चाहिये । जैसा कि उन्होंने कहा है कि –

"यह प्रयास पाठशालाओं और विश्वविद्यालयों में ही नहीं अपितु घर–घर में तथा खेत, खलिहान, कारखानों, दुकानों खेल के मैदानों आदि में चलता रहता है ।

अतः शोधकर्त्री इस निष्कर्ष पर पहुंची है कि पं0 दीनदयाल उपाध्याय ने मात्र पुस्तकीय ज्ञान को पर्याप्त नहीं माना बल्कि शिक्षा को आजीवन चलने वाली सतत् प्रक्रिया मानते हुये समस्त अनुभवों एवं व्यवहृव ज्ञान को सैद्धान्तिक ज्ञान का पूरक माना है, तथा सीखने के अवसर प्रदान करने वाली शिक्षण पद्धति को अपनी शिक्षा प्रणाली में प्रमुख स्थान प्रदान किया है ।

5. मातृभाषा शिक्षण विधि -:

बालक जब बोलना प्रारम्भ करता है तो वह उसी भाषा को बोलता है जिसको उसकी माँ बोलती है । अतः बालक द्वारा अपनी माता से अनुकरण की

---

[1] शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा, सीखना डा. मालती सारस्वत – पृष्ठ– 217

जाने वाली भाषा मातृभाषा है । कुछ विद्वानों ने मातृभाषा को माता से सीखी हुयी भाषा की संकुचित सीमाओं से निकलकर मातृभूमि पर बोली जाने वाली भाषा माना है ।

संकुचित और व्यापक दोनों अर्थों में निर्विवाद रूप से मातृभाषा सीखने का सरलतम साधन है । पढ़ना, लिखना, सीखना उसी भाषा के माध्यम से सरल होता है जिसे बालक बोलता है । अतः बालक के सर्वांगीण विकास के लिये मातृभाषा का शिक्षण अन्यधिक महत्वपूर्ण है । शोधकर्त्री की दृष्टि में मातृभाषा के उपरोक्त गुणों के कारण दीनदयाल उपाध्याय मातृभाषा को शिक्षण का माध्यम बनाना चाहते थे । उनका कहना है कि –

"इस दृष्टि से यह स्वाभाविक है कि शिक्षा का माध्यम स्वभाषा ही हो सकती है भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं, वह स्वयं भी अभिव्यक्ति है । भाषा के एक एक शब्द, वाक्य रचना, मुहावरों आदि के पीछे समाज के जीवन की अनुभूतियां राष्ट्र की घटनाओं का इतिहास छिपा हुआ है फिर स्वभाषा व्यक्ति को अलग–अलग प्रकोष्ठों में नहीं बांटती ।"[1]

6. क्रियात्मक शिक्षण विधि -:

क्रियात्मक शिक्षण विधि का अर्थ है – "सीखने – सिखाने में शिक्षार्थियों की सक्रिय भागीदारी उनकी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का अधिक से अधिक प्रयोग और उन्हें स्वयं करके स्वयं सीखने का अवसर प्रदान करना ।"[2]

यह विधि स्वाभाविक रूचिकर होती है इस विधि के द्वारा गूंगे, बहरे और मानविक दृष्टि से कमजोर बच्चों को भी पढ़ाया जा सकता है । इस विधि के द्वारा शिक्षणकार्य करने से विद्यार्थी के अन्दर परिश्रम करने की सहज प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है ।

पं0 दीनदयाल उपाध्याय क्रियाशील शिक्षण पद्धति के समर्थक थे । उनका मानना था कि बालक को ऐसी विधि के द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिये जिससे कि

---

[1] राष्ट्रचिन्तन, पं0 दीनदयाल उपाध्याय, "शिक्षा" पृष्ठ – 102

[2] शिक्षण कला एवं तकनीकी, क्रिया विधि, रमन बिहारी लाल – पृष्ठ – 120

वह कर्मठ और क्रियाशील बनकर कमाने के योग्य हो जाये और सुखी जीवन व्यतीत कर सके ।

देश के आर्थिक ढांचे के निर्माण में मनुष्य को क्रियाशील बनाने का प्रयत्न उपाध्याय जी की शिक्षण पद्धति में हमें देखने को मिलता है ।

इस प्रकार व्यक्ति को निद्रालु, आलसी एवं क्रियाहीन बनाने वाली शिक्षा तथा शिक्षण व्यवस्था और संस्थाओं को बदलने का सुझाव देते हुये पं0 दीनदयाल ने कहा है –

"हमें उन संस्थाओं का निर्माण करना होगा जो हमारे अन्दर कर्मचेतना पैदा करे ।[1]"

7. साहित्य एवं ललित कलाओं का शिक्षण -:

शुष्क एवं नीरस पाठ्यक्रम बालक के मस्तिष्क को बोझिल बना देता है और पाठ्यपुस्तकें उसको अरूचिकर लगने लगती हैं इस स्थिती में उसके अन्दर सौन्दर्यानुभूति एवं आनन्दानुभूति जागृत की जानी चाहिये । इस दृष्टि से साहित्य और ललितकलाओं का शिक्षण अतिआवश्यक प्रतीत होता है ।

8. वैज्ञानिक विधि -:

वर्तमान युग विज्ञान के युग के नाम से जाना जाता है । मानव एवं प्रकृति की प्रत्येक क्रिया को वैज्ञानिक दृष्टि से देखने का प्रयास किया जाता है । इस प्रकार विज्ञान की नयी–नयी खोंजो ने प्राचीन मान्यताओं को बदल डाला है । मानव जीवन का प्रत्येक क्षेत्र विज्ञान से प्रभावित भी वैज्ञानिक आधार पर की जाने लगी है । तब शिक्षा विज्ञान के प्रभाव से प्रभावित रहे बिना कैसे रह सकती है? आज शैक्षिक उद्देश्यों पाठ्यचर्या एवं शिक्षण विधियों के निर्माण में विज्ञान का सहयोग – अपरिहार्य हो गया है । नये–नये नियमों एवं सिद्धान्तों के प्रतिपादन का सहयोग लेना पड़ता है ।

---

[1] चिन्तन "शिक्षा" पृष्ठ – 75

समय की मांग के अनुसार देश के उज्जवल भविष्य का निर्माण की दृष्टि से पंण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने भी अपनी शिक्षण पद्धति में वैज्ञानिक विधिको महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है ।

पंण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने विविधता में निहित एकता की शिक्षा देने के लिये तथा एकता का विविध रूपों में व्यक्तिकरण करने के लिये वैज्ञानिक विधि को अपनाया है जैसे –

"हम यह तो स्वीकार करते हें कि जीवन में अनेकता अथवा विविधता है किन्तु उसके मूल में निहित एकता की खोज निकालने का हमने सदैव प्रयत्न किया है । यह प्रयत्न पूर्णतः वैज्ञानिक है ।"[1]

वैज्ञानिक शिक्षण विधि का उद्देश्य है शिक्षक को शैक्षिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सहयोग करना । वह किस विधि युक्ति और साधन का प्रयोग कब और किस सीमा तक करें इस क्षेत्र में वैज्ञानिक विधि अध्यापक की बहुत ही सहायता करती है ।

वैज्ञानिक शिक्षण विधि का प्रमुख उद्देश्य होता है – शिक्षण को प्रभावशाली बनाना जिससे कम से कम शक्ति व समय में अधिक से अधिक सिखाया जा सके । आजकल सभी इसी बात से सहमत हैं कि 'शिक्षा बालक के लिये है न कि बालक शिक्षा के लिये ।' इस प्रकार बालक वैज्ञानिक विधि के द्वारा अधिक से अधिक शिक्षा देने का प्रयास होना चाहिये । इसी दृष्टि के अनुसार पंण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने भी अपनी शिक्षा के लिये 'वैज्ञानिक विधि' को प्रमुखता प्रदान की है ।

X
See
P.271

9. स्वसध्याय एवं व्याख्यान विधि -:

स्वाध्याय एवं व्याख्यान विधि शिक्षण की अति प्राचीन विधियां हैं । प्राचीन काल से प्रचलित उपरोक्त दोनों विधियां शिक्षण की दृष्टि से आज भी उतनी ही उपयुक्त एवं अपरिहार्य है जितनी की प्राचीन काल में थी ।

---

[1] एकात्म मानव दर्शन एकात्म मानववाद पंण्डित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ – 18

'आत्मदीपो भव' कहकर प्राचीनकाल में 'स्वाध्याय' के लिये शिक्षार्थियों को प्रोत्साहित किया जाता था। स्वाध्याय अर्थात स्वयं के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान रूपी दीपक के द्वारा स्वयं को प्रकाशित करना शिक्षा का उद्देश्य माना जाता था । आज भी शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये 'स्वाध्याय' का महत्वपूर्ण स्थान है । सरस्वती विद्या मन्दिरों की अभिनव पच्चपदी शिक्षण पद्धति में 'स्वाध्याय' को अन्तिम पच्चम पद अर्थात अत्यन्त महत्वपूर्ण पद के रूप में स्वीकार किया गया है ।

1. अधीति 2. बोध 3. अभ्यास 4. प्रयोग 5. प्रसार

पंच्चपदी शिक्षण पद्धति के पाँच पद होते हैं पांचवे पद प्रसार की विवेचना करते हुये बताया गया है कि –

"ज्ञान के प्रसार के लिये विविध प्रयास करना चाहिये –

1. स्वाध्याय 2. प्रवचन।"[1]

इस प्रकार 'स्वेन अधीयते इति स्वाध्यायम् अर्थात अपने द्वारा जो अध्ययन किया जाय उसे ही स्वाध्याय कहते हैं । पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी ने अपनी शिक्षण पद्धतियों में 'स्वाध्याय विधि' को भी स्वीकार किया है ।

वर्तमान समय में व्याख्यान विधि का सबसे अधिक प्रयोग किया जाता है । विशेषकर उच्च शिक्षा में धर्म, दर्शन राजनीति, अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र और शिक्षा शास्त्र जैसे विषयों के अध्यापन में सभी शिक्षक इसी विधि का प्रयोग करते है । उनके पद को भी 'लेक्चरर' अर्थात 'व्याख्याता' ही कहा जाता है ।

श्यामपट वस्तुमाडल रेखाचित्र मानचित्र आदि शिक्षोपकरण के प्रयोग से व्याख्यानों को सजीव बनाने का प्रयास किया जाता है ।

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी का अधिकांश चिन्तन तो उनके 'व्याख्यानो' का ही संकलन है । अपने चिन्तन दर्शन के प्रसार के लिये उन्होंने 'व्याख्यान

[1] भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, शिक्षण के सिद्धान्त एवं पद्धतियां – लज्जाराम तोमर, पृष्ठ – 159

विधि का सर्वाधिक प्रयोग किया है । सच्चे अर्थों में वह तो हिन्दु राष्ट्र के 'व्याख्याता' ही थे ।

प्रस्तुत पुस्तक राष्ट्र चिन्तन में उन लेखों के अतिरिक्त पंण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी द्वारा दिये गये महत्वपूर्ण भाषणों को भी संकलित कर लिया गया है ।

पंण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने व्याख्यान विधि को प्रमुख शिक्षण विधि के रूप में समाहित किया है ।

10. दृश्य श्रव्य साधनों का प्रयोग -:

दृश्य श्रव्य शिक्षण विधि के द्वारा बालक की कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों का दृश्य श्रव्य शिक्षण विधि द्वारा बालक को ज्ञान प्राप्त करना सुगम हो जाता है तथा ऐसा ज्ञान शीघ्र विस्मृत नहीं होता वरन् स्थाई रहता है । इसके माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने में बालक को अरूचि पैदा नहीं होती है । अन्य विधियों की तरह दृश्य श्रव्य विधि भी प्राचीन काल से प्रयुक्त होने वाली शिक्षण विधि है ।

एडीसन के शब्दों में –

"चलचित्र अनिवार्य रूप से शिक्षा का एक मात्र रचनात्मक साधन है ।"

पंण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने भी दृश्य श्रव्य साधनों के प्रयोग को प्राचीन काल से चली आने वाली शिक्षण पद्धति के रूप में स्वीकार किया है ।

दृश्य श्रव्य साधनों को शिक्षण के सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार करते हुये पंण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने कहा है –

"प्राचीनकाल के कथा और कीर्तन तथा आज के रेडियो सिनेमा समाचार पत्र आदि सभी इस सीमा में आते हैं ।"

(द) अनुशासन

शिक्षा प्रक्रिया को सही दिशा में आगे बढाने के लिये शिक्षा की सर्वागंपूर्ण व्यवस्था अपेक्षित है । बालक शिक्षा प्रक्रिया का प्रमुख अंग होता है उसी के जीवन को सुन्दर एवं सुदृढ़ बनाने के लिये विद्यालयों के द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की जाती है । बालक को भी पूर्णतया विद्यालय के नियमों पालन करना पड़ता है अन्यथा विद्यालय और बालक दोंनो अपने उद्देश्यों की प्राप्ति करने में असफल रह जाते हैं । प्रकार सफल शैक्षिक व्यवस्था के लिये अनुशासन की व्यवस्था अनुभव की जाती है । अतः विद्यालय में उपयुक्त व्यवस्था होनी चाहिये तथा बालकों को भी चाहिये कि अनुशासन में रहकर शिक्षा लाभ करें । इस परिपेक्ष्य में शोधकर्त्री पंण्डित दीनदयाल उपाध्याय के अनुशासन सम्बन्धित उन विचारों का अध्ययन करना चाहती है जो स्वतन्त्रता की आधारशिला पर आधारित है ।

"स्वतन्त्रता का शाब्दिक अर्थ है –

स्व+तन्त्र अर्थात अपना शासन । स्वतन्त्रता वह स्थिती है जिसमें मनुष्य "स्व" के शासन में रहता है ।"[1]

"अनुशासन का अर्थ बहुत व्यापक है । इसके अर्न्तगत बाह्रय व्यवस्था, बाह्रय व्यवहार आन्तरिक प्रेरणा, आत्म नियंत्रण आत्म सयंम विनय सभी कुछ आ जाते हैं ।"[2]

इस प्रकार शोधकर्त्री इस निष्कर्ष पर पहुंचती हैं कि स्वतन्त्रता और अनुशासन का अर्थ है मनुष्य द्वारा स्वेच्छा से किया गया वह आचरण जो समाज सम्मत हो ।

प्राचीन काल में "गुरूकुलों के छात्रों का जीवन दुरूह अनुशासनों से पूर्ण होता था । सम्पूर्ण शिक्षा काल में ब्रहमचर्य जीवन व्यतीत करना पड़ता था ।

---

[1] शिक्षा के दार्शनिक और समाज शास्त्रीय सिद्धान्त, स्वतन्त्रता और अनुशासन – पृष्ठ – 506

[2] शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त, स्वतन्त्रता और अनुशासन, पाठक एवं त्यागी – पृष्ठ – 240

मेखला मृगचर्य और लम्बे केश धारण करने पड़ते थे । निश्चित दिनचर्या में गुरू की सेवा और भिक्षाटन सम्मिलित थे । दण्ड के रूप में समझाना बुझाना, उपदेश और उपवास की व्यवस्था थी । छड़ी एवं पतली रस्सी से शारीरिक दण्ड दिया जाता था । लेकिन गुरू तथा छात्र में पिता–पुत्र जैसे सम्बन्ध होने के कारण यह दण्ड कठोर नहीं प्रतीत होता था गुरू हर तरह से अपने शिष्यों का ध्यान रखता था ।

प्राचीन काल की भांति बौद्ध काल में भी अनुशासन पर अत्यधिक बल दिया जाता था । छात्र को फूल पत्तियों को तोड़ने सम्पत्ति रखने, सार्वजनिक स्थानों पर तमाशा देखने हानिप्रद खेलों में भाग लेने, शरीर को अलंकृत करने, गाली गलौज और झगड़ा का पूर्ण निषेध था । जो छात्र निषिद्ध कार्यों को करते थे उनको दण्ड दिया जाता था । प्राचीन काल की ही भांति छात्र और शिक्षक के सम्बन्ध पुत्र और पिता के समान थे । इसलिये गुरू अपने शिष्य के किसी भी प्रकार के कष्टों का निवारण करते थे । उसके बीमार हो जाने पर उसकी सेवा तक करते थे । मुस्लिम शिक्षा के अर्न्तगत कठोर शारीरिक दण्ड की व्यवस्था थी ।

"पाठ याद न होने एवं अपराध होने पर बेंत, कोड़े, लात, घूंसे, थप्पड़ आदि से शारीरिक दण्ड दिया जाता था । विशेष अपराध करने पर कठोर यातनायें दी जाती थीं । मुर्गा बनाना, उसके ऊपर वजनदार वस्तु रखना, वृक्षों पर उल्टा लटकाना, पशुओं के साथ बन्द कर देना आदि दण्ड के नियम थे । जो अमानवीय होने के साथ–साथ अमनोवैज्ञानिक और शिक्षण सिद्धान्तों के प्रतिकूल थे ।"[1]

आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों ने दमनात्मक अनुशासन का पूरी तरह से विरोध किया है ।" उनका मानना है कि यह सिद्धान्त बालक की मनोवृत्तियां, इच्छाओं और रूचियों को दमन करता है तथा शिक्षक को अनुचित बल प्रयोग की स्वतन्त्रता

---

[1] भारतीय शिक्षा की समस्यायें – मुस्लिम शिक्षा, पृष्ठ – 64

देता है । प्रजातन्त्र में इस पकार के अनुशासन को कोई स्थान नहीं दिया गया है । गुरू और शिक्षक का सम्बन्ध प्रेम एवं सहानुभूति पर आधारित होना चाहिये पाशविकता पर नहीं । बहुत से शिक्षा शास्त्री बच्चे को किसी प्रकार के बन्धन में नहीं रखना चाहते । वे न तो उन्हें निश्चित पाठचर्या में बाँधना चाहते न विद्यालय की सीमाओं में । वे बच्चों को अपनी रूचि रूझान और आवश्यकता अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक शिक्षा प्राप्त करने के पक्षधर है । स्वतन्त्रता से उनका तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की स्वतन्त्रता और विकास में बाधा डाले बिना अपना विकास करने के लिये पूर्णतया स्वतन्त्र है ।

आधुनिक शिक्षा शास्त्री 'स्वतन्त्रता' और 'अनुशासन' को एक ही सिक्के के ही दो पहलू मानते है । उनका कहना है कि जिस प्रकार शरीर के बिना आत्मा और आत्मा के बिना शरीर का कोई अर्थ नहीं उसी प्रकार स्वतन्त्रता के बिना अनुशासन का तथा अनुशासन रहित स्वतन्त्रता का भी कोई अर्थ नहीं है । स्वतन्त्रता पूर्वक स्वेच्छा से ग्रहण किया जाने वाला अनुशासन सच्चा और स्थायी अनुशासन होता है । इसके विपरीत दण्ड के कारण उत्पन्न अनुशासन दण्ड का भय हटते ही समाप्त हो जाता है ।

वर्तमान समय में विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अनुशासनहीनता की अनेकों घटनायें दिन प्रतिदिन घटती रहती हैं। सत्याग्रह, आन्दोलन, हड़ताल झगड़े और तोड़–फोड़ तो आम बात बन गयी हैं । छात्र अनुशासित रहने की अपेक्षा अनुशासन तोड़ने के अधिक उत्सुक रहते हैं ।

माध्यमिक शिक्षा आयोग के अनुसार हमें विद्यालय को वास्तविक सामाजिक जीवन सामाजिक गतिविधियों का केन्द्र बनाना है जहां आदर्श मनुष्य – समुदाय के समान सुन्दर और सहज जीवन की प्रेरणा और प्रणाली दिखाई दे ।
पण्डित दीनदयाल उपाध्याय बालक के अन्दर सामाजिक चेतना का भाव जागृत करना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मानते है । सामाजिक चेतना अर्थात समाज के प्रति आत्मीयता एवं एकात्मता का भाव उत्पन्न होने से समाज के हित का तथा समाज के प्रति ममत्व का विचार आता है । फिर वह समाज की बुराई को दूर करने एवं भलाई करने के लिये उद्यत रहता है । अतः हृदय और मस्तिष्क में

सामाजिक चेतना विकसित होने से बालक बिना किसी दवाब के स्वतन्त्रतापूर्वक अपने व्यवहार का नियमन करने लगता है । समाज के हित में अपना हित और समाज के अहित में अपना अहित मानने लगता है । इस तरह अनुशासन तीन तत्वों अन्तः प्रेरणा आत्मनियन्त्रण और समाज सम्मत आचरण पर आधारित होता है ।

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी ने आत्मसंयम अर्थात स्वतन्त्र अनुशासन पर बल देते हुये कहा है "शिक्षा और संस्कार" से ही समाज के जीवन मूल्य बनते और सुदृढ़ होते हैं इन मूल्यों को बोध रखने के बाद लोकेच्छा की नदी कभी अपने तटों का अतिक्रमण कर संकट का कारण नहीं बनेगी ।

एक स्थान पर उन्होंने यह भी कहा है कि –

"अनुशासन और अंहकार साथ–साथ नहीं चल सकते । अनुशासन के लिये बुद्धि आवश्यक है ।"[1]

जो शिक्षा के द्वारा शुद्ध होती है और मनुष्य को अहंकार रहित बनाती है ।

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी का मत है कि दण्ड या प्रताड़ना के द्वारा ही नहीं वरन् आदर्शों की शिक्षा और जिम्मेदारी का भाव उत्पन्न करने से बालक के अन्दर स्वयमेव अनुशासन उत्पन्न हो जाता है। अपने व्यवहार का नियमन व्यक्ति द्वारा तब हो सकता है जब व्यक्ति को अपने आदर्शों की लगन हो तथा अपनी जिम्मेदारी का बराबर भाव हो । असंयम और गैर जिम्मेदारी साथ–साथ चलते हैं । समाज जितना यह समझता जायेगा कि राज्य को चलाने की जिम्मेदारी उसकी है उतना ही वह संयमशील बनता जायेगा ।

"उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि बच्चे को उसकी आन्तरिक इच्छाओं के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने दिया जाय जिससे उसके अन्दर योग्यता बढ़ाने की शक्ति जगे अधिक से अधिक परिश्रम करने की कोशिश करें हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अनुशासन में

---

[1] पण्डित दीनदयाल उपाध्याय, कर्तव्य एवं विचार, सामाजिक सक्रियता एवं विचार – पृष्ठ – 326

लाने के लिये दण्ड की अपेक्षा उसे संस्कारित किया जाय उसके ऊपर जिम्मेवारी डाली जाये उसको प्रोत्साहित किया जाये । उसे बताया जाय कि अनुशासन प्रतिबन्ध नहीं बल्कि संयम है और सामन्जस्यपूर्ण "जीवन में संयम की नितान्त आवश्यकता है ।"[1]

(य) छात्र एवं अध्यापक-:

शोधकर्त्री ने पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी द्वारा निर्दिष्ट गुरू और शिष्य के गुणों की विवेचना की है इसके साथ ही साथ वह गुरू शिष्य सम्बन्धों की व्याख्या करना भी अपना कर्तव्य मानती है ।

प्राचीन काल में हमारे यहां गुरू को आध्यात्मिक पिता तथा शिष्य को आध्यात्मिक पुत्र माना जाता था । अतः गुरू और शिष्य का सम्बन्ध पिता और पुत्र की तरह ही होता था । आचार्य या गुरू अपनी विद्या कौशल, प्रेम और सहानुभूति के द्वारा विद्यार्थी के जीवन का निर्माण करता था । प्राचीन कालीन या वैदिक कालीन शिक्षण पद्धति पर टीका टिप्पड़ी करने वाले यह आरोप लगाते है कि शिक्षण देने का कार्य करने वालों ने अपना विशिष्ट वर्ग तैयार कर उस व्यवसाय को केवल अपने ही अधिकार में ले लिया था । लेकिन शोधकर्त्री का कहना है कि इस प्रकार आलोचना करने वाले वैदिक कालीन गुरू शिष्य परम्परा से सर्वथा अनभिज्ञ हैं । उस समय शिक्षण कार्य पूर्णतः निशुल्क था । गुरू को शिष्य से किसी भी प्रकार के आर्थिक लाभ की अपेक्षा नहीं रहती थी । हमारे यहां के ऋषियों मुनियों, तपस्वियों एवं आचार्यों ने राजकाज तथा उद्योगो और व्यवसायों के माध्यम से जीविकोपार्जन के काम को दूसरों के लिये छोड़ रखा था स्वयं सम्पूर्ण जीवन केवल ज्ञान दान के कार्य में और वह भी बिना मूल्य होम करने का व्रत स्वीकार किया था । राजाओं के द्वारा आश्रमों को अवश्य मदद मिलती थी लेकिन गुरू को मिलने वाला धन मात्र शिष्य द्वारा शिक्षोपरान्त दी गयी गुरूदक्षिणा

---

[1] राष्ट्र जीवन की दिशा – लोकमत परिष्कार, पण्डित दीनदयाल उपाध्याय – पृष्ठ – 82

ही होता था । विद्या के द्वारा धन कमाने वाले की घोर निन्दा की जाती थी तथा उसे आचार्य जैसे श्रेष्ठ पद में रहने का अधिकारी नहीं माना जाता था ।

"यस्याभगः केवल जीविकायै,
ते ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ।"

अर्थात जो अपनी विद्या का उपयोग केवल पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिये करता है, वह व्यक्ति ब्राहमण न होकर ज्ञान की दुकान लगाने वाला बनिया है ।

वर्तमान शैक्षिक जगत इतना दूषित हो गया है कि गोस्वामी तुलसीदास द्वारा कही गयी बात पूर्णतया चरितार्थ हो रही हे ।

गुरू शिष्य बधिर अन्धका लेखा ।
एक न सुनहिं एक न देखा ।।"

पिता पुत्र के सम्बन्ध तो दूर बैर भाव निर्मित हो गया है । आये दिन छात्र और अध्यापकों में झगड़े होते रहते हैं । अपसी वैमनस्य आम बात हो गयी है । मात्र धनोपार्जन के उद्‌देश्य से शिक्षक बनने वाले व्यक्ति सदैव अधिकाधिक धनार्जन की उधेड़बुन में लगे रहते हैं, मौका लगने पर किसी प्रकार का संकोच नहीं करते । छात्र भी शिक्षकों का अपमान करने में गर्व का अनुभव करते हैं ।

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी ने इस दुरावस्था को दूर करने एवं प्राचीन परम्परा के अनुसार गुरू शिष्य सम्बन्धों को चिरस्थायी बनाने के लिये शैक्षिक जगत् के लिये हित चिन्तक "अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद" नाम संगठन का निर्माण किया । विद्यार्थी परिषद आज भी शैक्षिक वातावरण को स्वच्छ बनाने के लिये शैक्षिक परिवार की परिकल्पना को साकार करने में सतत् प्रयत्नशील है । पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी की यही परिकल्पना थी कि "विद्यार्थी परिषद" के माध्यम से यदि आज के छात्र और शिक्षक प्राचीन परम्परा की भांति गुरू और शिष्य के आध्यात्मिक सम्बन्धों को मधुर बनायेंगे तो निश्चित ही यह समाज पुनः उन्हें "आचार्य देवोभव" कहकर नतमस्तक हो जायेगा । शिक्षा पुनः अपने खोये हुये गौरव को प्राप्त करेगी, भारत पुनः जगत गुरू के सर्वोच्च पद पर पदासीन होगा ।

❖❖❖❖❖❖❖❖❖

अध्याय
षष्ठम

अध्याय षष्ठम

महात्मा गांधी तथा पं0 दीनदयाल उपाध्याय के शिक्षा दर्शन की तुलना एवं उनके शैक्षिक विचारों की लोकतांत्रिक भारत में प्रासंगिकता :-

महात्मा गांधी तथा पं0 दीनदयाल उपाध्याय के शिक्षा दर्शन की तुलना एवं उनके शैक्षिक विचरों की लोकतांत्रिक भारत में प्रासंगिकता :-

1. यह निर्विवाद सत्य है कि भारत में अतीत से शिक्षा के अनेक पहलुओं का सम्बन्ध प्रकृतिवाद, यथार्थवाद, आदर्शवाद एवं प्रयोजनवाद से रहा है, परन्तु भारतीय विचार धारा में प्रमुखता आदर्शवाद की ही रही है, क्योंकि यहां के जनता की धमनियों में आदर्शवादी रक्त अतीत से वर्तमान में प्रवाहित होता चला आ रहा है। इसलिये यदि महात्मा गांधी तथा पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी में प्रकृति, यथार्थ, आदर्श एवं प्रयोजनवादी विचारधारा के चिन्ह दृष्टिगत होते हैं तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं है, परन्तु इतना होने पर भी वे द्वय महानुभाव मूलतः आदर्शवादी ही हैं दोनो का जन्म भारतीय परिवेश में हुआ है जहां की विचारधारा आदर्शवाद है।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक प्रगति एवं परिस्थितियों के कारण उनकी विचारधाराओं और चिन्तन प्रक्रियाओं में किंचित बदलाव आया जिसके परिणामस्वरूप बाद के तीस वर्षों में इन्होंने ने आवश्यक समझा कि अपनी शिक्षा योजना को प्रयोजनवादी विचारधारा की ओर मोड़ना चाहिये। आज हम भारतीय शिक्षा में उत्पादोन्मुख शिक्षा की प्रायः चर्चा करते हैं, इस विचार को शिक्षा क्षेत्र में प्रतिपादित करने में दोनो महान शिक्षा दार्शनिक अग्रणीय है। भारत एक लोकतंत्रात्मक प्रभुसम्पन्न राष्ट्र होने के नाते यहां शिक्षा की पुर्नरचना करने की महती आवश्यकता है।

पारिवारिक पृष्ठभूमि -:

प्रत्येक दार्शिनिक एवं शिक्षाशास्त्री के पारिवारिक, सामाजिक एवं राजनैतिक पर्यावरण का प्रभाव उसके जीवन दर्शन पर अवश्य पड़ता है। ऐसे पर्यावरण के अभयन्तर ही वह अनुभव व ज्ञान सम्पन्न हो अपनी जीवन शैली का निर्माण करता है। परिवार ही इनके जीवन शैली व दर्शन का मौलिक आधार होता है। यही भावी जीवन के वैचारिक बीजों का वपन होता है। महात्मा गांधी तथा पं० दीनदयाल उपाध्याय के वैचारिक बीज यदि पारिवारिक परिस्थितियों में ही बो दिये गये है तो हमें कोई आश्चर्य की बात नहीं लगनी चाहिये।

अध्याय द्वितीय एवं तृतीय में क्रमश हमने महात्मा गांधी तथा पं० दीनदयाल उपाध्याय जी के पारिवारिक स्थिति से परिज्ञान प्राप्त किया है और यह देखा है कि दोनो महान पुरूषों पर परिवार का कितना गहरा प्रभाव था। महात्मा गांधी जी का लालन–पालन एवं प्रारम्भिक शिक्षा पारिवारिक सदस्यों के मध्य सम्पन्न हुयी जब कि पं० दीनदयाल उपाध्याय जी का पारिवारिक जीवन बहुत ही दुखमय रहा। बचपन से ही प्रियजनों की मृत्यु का धनीभूत अनुभव हुआ। इस प्रकार महात्मा गांधी जी को प्रियजनों से सम्पन्न पर्यावरण प्राप्त हुआ और पं० दीनदयाल उपाध्याय को माता–पिता दोनो की स्नेह छाया से वंचित बिल्कुल 'दीना' (अनाथ) ही हो गये। परन्तु साहस, दृढ़ विश्वास एवं धार्मिकता के अंकुर मुकलित होने के लिये अवसर की प्रतिक्षा कर रहे थे। महात्मा गांधी जी में अपने पिता के साथ सभी धर्मालम्बियों के द्वारा विभिन्न धर्मों की वार्ता सुनकर सभी धर्मों में समन्वय करने तथा सामुहिक चेतना की प्रकृति का अर्द्ध विकास हो चुका था।

दीनदयाल जी अक्षरशः अनिकेत थे। 25 वर्ष की अवस्था तक दीनदयाल जी उपाध्याय राजस्थान व उत्तर प्रदेश में कम से कम ग्यारह स्थानों में कुछ–कुछ समय रहे। इसके साथ ही उनका प्रवेश सार्वजनिक जीवन में हो गया वे अखण्ड प्रवासी हो गये। मृत्यु ने उनके शिशु, किशोर, बाल व युवा मन पर निरन्तर आघात किये। अतः उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया था। इसलिये विवाह करके पारिवारिक जीवन व्यतीत करने की कल्पना भी उनके मन में नहीं आयी। नये नये

स्थानों पर प्रवास करना, नये–नये अपरिचित लोंगो से मिलना उनमें पारिवारिकता उत्पन्न करना उन्होंने बचपन की अनिकेत अवस्था से ही सीख लिया था। सम्पूर्ण राष्ट्र ही उनका घर परिवार था। एकात्ममानववाद के प्रेणता पण्डित जी का परिवार समस्त जगत के प्राणिमात्र थे। अपनी सम्पूर्ण शिक्षा दीक्षा के उपरान्त उन्होंने अपना जीवन राष्ट्र के लिये समर्पित कर दिया। सन 1942 में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के प्रचारक नियुक्त होकर राष्ट्र के लिये कटिबद्ध हो गये। निरन्तर प्रवास और संगठन कार्य का सततमार्ग दर्शन देश के कोने–कोने में लाखों स्वयं सेवकों से मधुर स्नेहपूर्ण आत्मीय सम्बन्धों की स्थापना यही पण्डित जी का एकमेव कार्य था।

इन द्वय महापुरूषों ने जब होश सम्भाला तभी से अपने समय के समाज को देखते व अनुभव करते आ रहे थे। भारतमाता डेढ़–दो सौ वर्षों से ब्रिटिश सत्ता के पैरों तले बुरी तरह कुचली जा रहीं थी। सर्वत्र शोषण, विपन्नता, विषमता व अज्ञानता का ही साम्राज्य फैला हुआ था। देश अपनी क्षमता, संस्कृति, ज्ञान समृद्धि तथा कला कौशल को भूलता जा रहा था। यहां तक की खाने की रोटी तन ढकने को वस्त्र एवं सर छुपाने के लिये झोपड़ी के भी लाले पड़ रहे थे। जीवन के मूल्य ही समाप्त होते जा रहे थे। इन समस्त राजनैतिक व सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव महात्मा गांधी एवं पं0 दीनदयाल उपाध्याय दोंनो पर पड़ा था। इन्हीं परिस्थितियों ने इन महानुभावों को जनजागरण हेतु नूतन क्रांति उत्पन्न करने हेतु विवश कर दिया था। ''बापू के चरणों में'' नामक पुस्तक में ब्रज कृष्ण चाँदीवाल ने महात्मा गांधी के बारे में लिखा है कि –

> ''ठीक उसी समय भारत में उस वीर पुरूष ने सिंह नाद किया और अपना पाच्चजन्य फूंकते हुये ''उतिष्ठत् जाग्रत'' उठो जागो का नारा लगाया। मृत प्राय भारतीयों पर सत्याग्रह की संजीवनी बूटी का अमृत

छिडकर उन्होंने उन्हें नया जीवन नया

बल प्रदान किया।''

महात्मा गांधी जी ने सामाजिक परिवर्तन एवं राष्ट्रीय पुर्नरचना हेतु तथा तत्कालीन प्रारम्भिक शिक्षा की त्रुटियों को दूर करने के लिये शिक्षा को एक प्रमुख एवं प्रभावशाली साधन मानते हुये अपनी बुनियादी शिक्षा पद्धति को देश के समक्ष रखने का निश्चय किया। तत्कालीन भारतीय परिवेश में इससे बढ़कर अन्य शिक्षा पद्धति उपयुक्त नहीं थी। ''हरिजन'' व ''यंग इण्डिया'' के अंको में इन्होंने समय–समय पर इस पद्धति के विषय में वृहद् विचार प्रस्तुत किये हैं।

महात्मा गांधी का बाल्यकाल ग्रामीण अंचल में कम नगरीय अंचल में अधिक व्यतीत हुआ था। दीनदयाल जी ने अपने ननिहाल में रहकर ही पूरी शिक्षा ग्रहण की। इन दोंनो का पारिवारिक परिवेश धार्मिक था। इस पारिवारिक वातावरण का प्रभाव इन पर भी पड़ा इतः दोनो महानुभाव धार्मिक प्रवृत्ति के थे। गांधी जी की माता पुतलीबाई अन्यन्त सरल एवं धार्मिक स्वभाव की महिला थीं। महात्मा गांधी के पिता राजकोट में दीवानगीरी करते थे। किन्तु वे एक अच्छे धर्मवेत्ता भी थे। जबकि दीनदयाल जी जब केवल ढाई वर्ष के थे तब उनके पिता का देहान्त हो गया और वे जब मात्र छः वर्ष के थे तो माता रामप्यारी क्षय रोग से ग्रस्त होकर राम को प्यारी हो गयीं और इस प्रकार पं0 दीनयाल जी को मात–पिता दोंनो की स्नेह छाया से वंचित होना पड़ा। उनके पालकों को धीरे–धीरे उठाने का ईश्वर ने मानो वीणा उठा लिया हो इस प्रकार पण्डित जी को अपने छोटी सी उम्र में ही मृत्यु के साक्षात दर्शन करने पड़े जिसने उन्हे जीवन भर के लिये अनिकेत बना दिया।

शिक्षा -:

महात्मा गांधी जी अपने शैक्षणिक जीवन में एक सामान्य छात्र ही रहे। सन् 1885 में लगभग 16 वर्ष की आयु में इन्होंने मैट्रिक परीक्षा पास की। कालेज शिक्षा हेतु प्रवेश भी लिया किन्तु मन न लगने के कारण बैरिस्ट्ररी पढ़ने के बाद इस पेशे

में इनका न तो मन लगा और न ही सफलता मिली, 1893 में एक मुकदमें के सम्बन्ध में दक्षिण अफ्रीका गये। वहां भारतीयों के प्रति किये जाने वाले अन्याय से क्षुब्ध होकर महात्मा गांधी जी ने वहां पर अंग्रेजों के विरूद्ध अंहिंसात्मक लड़ाई का श्री गणेश किया। दक्षिण अफ्रीका से वापिस आने पर सन् 1915 में में विदेशी शासन का विरोध कर स्वतन्त्रता की आग को भड़का दिया। सन् 1917 में "हरिजन उद्धार", ग्रामोद्योग तथा अन्य सामाजिक सुधार, जन सेवा तथा अन्य रचनात्मक कार्य करने हेतु साबरमती आश्रम की स्थापना की। सन् 1921 में असहयोग आन्दोलन व 1930 में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव कांग्रेस में पारित कराया। महात्मा गांधी जी ने देश समाज की सेवा की तीव्र लगन थी, वे देश की दासता की बेड़ियों को काटना चाहते थे। इस प्रकार हम देखते है कि महात्मा गांधी जी ने अपना पूरा जीवन देश और समाज सेवा में लगा दिया।

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी अपने अध्ययन काल में इतने प्रतिभा सम्पन्न थे कि जब वे कक्षा नौ में पढ़ते थे तो कक्षा दस के छात्र भी उनसे गणित के सवाल हल करवाया करते थे। अभी तक पं0 दीनदयाल जी ने अपने पालकों की मृत्यु का दुख सहन किया था। लेकिन 18 नवम्बर सन् 1934 को उनके पालित छोटे भाई शीबू के देहान्त ने उन्हें अन्दर से झकझोर दिया था। जब वे कक्षा नौ में पढ़ रहे थे वे 18 वर्ष के थे। पं0 दीनदयाल जी ने उन्नीस वर्ष की आयु में सन् 1935 में 'सीकर' से महाराजा कल्याण सिंह अजमेर बोर्ड से हाईस्कूल में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुयें दीनदयाल जी की प्रतिभा से प्रभावित होकर सीकर महाराज कल्याण सिंह ने इन्हें स्वर्ण पदक से सम्मानित किया और अग्रिम शिक्षा के लिये छात्रवृत्ति प्रदान की। दूसरा अग्रिम स्वर्णपदक उन्हें अजमेर बोर्ड द्वारा प्रदान किया गया। इसी प्रकार से इण्टरमीडियट की पढ़ाई के लिये दीनदयाल जी 1935 में पिलानी राजस्थान आये। उन दिनों यह उच्च शिक्षा का केन्द्र था इसलिये बिड़ला इण्टर कालेज मे प्रवेश लेकर सन् 1937 में इण्टरमीडियट बोर्ड की परीक्षा में न केवल समस्त बोर्ड में सर्वप्रथम रहे बल्कि समस्त विषयों में विशेष योग्यता के अंक प्राप्त किये। इस कालेज के प्रथम छात्र थे जिन्होंने इतने सम्मान जनक अंकों से

परीक्षा पास की। सीकर महाराज की तरह घनश्याम दास बिड़ला जी के द्वारा इन्हे स्वर्णपदक और छात्रवृत्ति प्रदान की गयी। बी.ए. की शिक्षा कानपुर से प्राप्त करते समय पं0 दीनदयाल जी का सम्पर्क राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से हो गया और सन् 1937 में ही वेदमूर्ति पण्डित सातवलेकर जी ने पं0 दीनदयाल जी के लिये भविष्यवाणी की कि किसी दिन उपाध्याय जी कुशाग्र बुद्धि बालक देश का गौरव बनेगा। कानपुर में ही इनकी भेंट संघ के संस्थापक परमपूज्य डा. केशवराव बलिराम हेडगेवार से हुयी और यहीं से इनका सार्वजनिक जीवन आरम्भ हो गया। इन्होंने कमजोर पिछड़े विद्यार्थियों की शैक्षणिक उन्नति के लिये एक 'जीरा क्लब' की स्थापना की जिसका उद्देश्य परीक्षा में शून्य अंक पाने वाले छात्रों को अन्य छात्रों के समकक्ष लाना था। पण्डित दीनदयाल जी को सन् 1940 में एम.ए. द्वितीय वर्ष की परीक्षा छोड़नी पड़ी क्योंकी इस समय वह तीन काम एक साथ करते थे, पड़ाई, संघ कार्य और ममेरी बहन रामा देवी की दवा सेवा। इसलिये उन्होंने किताबें एक किनारे रखकर दिन रात बहिन की सेवा में लगे रहे और प्राकृतिक चिकित्सा हेतु पहाड़ पर ले गये पर वे बहन रामा देवी को न बचा सके। और वे एम.ए. द्वितीय वर्ष की परीक्षा में न बैठ सके। पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने प्रशासनिक परीक्षा भी उत्तीर्ण की परन्तु इस नौकरी को ठुकरा दिया। इस प्रकार एकात्ममानववाद के प्रणेता पण्डित का परिवार समस्त जगत के प्राणिमात्र थे अपनी सम्पूर्ण शिक्षा दीक्षा के उपरान्त उन्होने अपना जीवन राष्ट्र के लिये समर्पित कर दिया। सन् 1942 में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के लखीमपुर जिले के प्रचारक नियुक्त होकर राष्ट्र के लिये कटिबद्ध हो गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महात्मा गांधी एवं पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी मे देश प्रेम, समाज सेवा, जनसेवा की प्रबल लगन व इच्छाशक्ति विद्यमान थी ।

महात्मा गांधी तथा पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के दर्शन विभिन्न दार्शनिक प्रवृत्तियों से प्रभावित थे -:

"सत्य क्या है"? मनुष्य क्या है"? की खोज करना प्रत्येक दर्शन के लिये सदैव एक महत्वपूर्ण प्रश्न बना रहा है, इस प्रकार दर्शन से हमारा सम्बन्ध "सत्य

की प्रकृति" से सम्बन्धित आध्यात्मिकता से अथवा मानव की प्रकृति से सम्बन्धित मानव समस्याओं से रहा है, इसलिये चिन्तन प्रक्रिया द्वारा भौतिकवाद अथवा आदर्शवाद का उत्थान हुआ है। इन दार्शनिक विचारों का विस्तृत विवरण देना हमारा लक्ष्य नहीं है, हम मुख्य रूप से शिक्षा में उनके प्रयोग से सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि शिक्षा की विधि व सिद्धान्त दार्शनिक विचारों की प्रतिछाया होती है।

महात्मा गांधी जी तथा पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के शिक्षादर्शन में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद प्रयोजनवाद का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

उपर्युक्त दार्शनिक विचार उनके स्वतन्त्र चिन्तन एवं अनुभव का प्रयोग की उपज है। व्यक्ति के चिन्तन पर उसके पूर्वजों की विचारधारा का प्रभाव अवश्य पड़ता है, इसलिये यदि महात्मा गांधी तथा पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के दार्शनिक विचारों पर व उनकी चिन्तन प्रक्रिया पर आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, व्यवहारवाद का प्रभाव पड़ा हो तो कोई आश्चर्यजनक बात न होगी।

आदर्शवाद -:

आदर्शवाद दर्शन की एक अन्यन्त प्राचीन विचारधारा है। आदर्शवाद का मौलिक सम्प्रत्यय यह है कि आध्यात्मिकता, भौतिकता की अपेक्षा अधिक सत्य है वास्तविक सत्य भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिक है। आदर्शवाद के अनुसार भौतिक विश्व का अस्तित्व मानसिक है। इसलिये विधयक विज्ञानों की अपेक्षा मानवता का अध्ययन अधिक महत्वपूर्ण है जब से मनुष्य ने विचार व चिन्तन करना प्रारम्भ किया है तभी से आदर्शवाद का प्रारम्भ माना जाता है। आदर्शवादी दार्शनिकों की एक लम्बी सूची है किन्तु प्रमुख आदर्शवादी सुकरात, प्लेटो, देकार्ते, स्पिनोजा वर्कले, कान्ट, हीगंल, फिक्टे और शापनहावर हैं। शिक्षा दर्शन में महत्वपूर्ण योगदान करने वाले मुख्य आदर्शवादियों में पेस्टालॉजी, हरबर्ट और फ्रोबेल है। आदर्शवाद के अन्दर जिन तत्वों का विश्लेषण किया जाता है वे अनश्वर व नित्य हैं।

इस परिपेक्ष्य में शोधकर्त्री जब महात्मा गांधी जी के विचारों एवं जीवन पर दृष्टिपात करती हैं तो यह प्रतीत होता है कि वे मूल रूप में आदर्शवादी हैं आदर्शवाद उनकी प्रकृति में गहराई से बीज रूप में निहित है। इन बीजों को उनके पालन–पोषण के तरीकों व उनकी प्रारम्भिक शिक्षा–दीक्षा के ढांचे में देखा जा सकता है। महात्मा गांधी जी पूर्ण रूप से आदर्शवादी थे। अदर्शवाद, सत्य के अन्वेषण और आत्म ज्ञान पर जोर देते हैं वे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं प्रत्येक जीव मे ईश्वर का वास है ईश्वर की पहचान प्रयत्न व प्रयास साध्य है। ईश्वर को जानने हेतु व पहचान ने के लिये सभी प्राणियों से प्रेम करना नितान्त आवश्यक है। समस्त प्राणियों से प्रेम करने की बात को वे सत्य का व्यवहारिक रूप मानते थे। इसलिये सत्य की प्राप्ति के लिये व अहिंसा, विश्वप्रेम और मानव सेवा ही साधन मानते हैं।

वे सत्याग्रह को भी केवल नैतिक और चारित्रिक अधिकारों की प्राप्ति के लिये एक अहिंसा प्रधान साधन मानते थे। समाज से दूर रहकर आजन्म चिन्तन करके आत्मोन्नति प्राप्त करने में वह विश्वास नहीं करते थे। बल्कि वह चाहते थे कि व्यक्ति समाज में रहकर समाज व विश्व के कर्तव्यों को पूरा करता हुआ प्राणी मात्र की सेवा करे और उस सेवा से आत्मोत्थान करें।

सत्य की प्राप्ति के आदर्शवादी उद्देश्यों का समर्थन किया है, वे बालक के शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों को सामंजस्यपूर्ण एवं सर्वतोमुखी विकास करना चाहते थे, ताकि व्यक्ति अपने जीवन काल मे ही आत्मानुभूति या ईश्वर को प्राप्त कर सके।

अब हमें यह खोज करना है कि पं0 दीनदयाल जी का शिक्षा दर्शन कहां तक आदर्शवादी है, जब शोधकर्त्री पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के जीवन पर दृष्टिपात करती है तो उसे अवगत होता है कि वे प्रारम्भिक काल से पारिवारिक संस्कारों के आधार पर पूर्णतया ईश्वरवादी थे। वे सम्पूर्ण जगत के लिये ईश्वर को ही आधार मानते थे। इसलिये उन्होंने आत्म ज्ञान पर विशेष बल दिया। ताकि उसके माध्यम से ईश्वरानुभूति की जा सके। सत्यम् शिवम् सुन्दरम् आध्यात्मिक

मूल्य है। सर्वोत्कृष्ट ज्ञान आत्मा का ज्ञान तथा विविधता में एकता का दर्शन ही आध्यात्मवाद की विशेषता है।

भारतीय आदर्शवाद का लक्ष्य है ''ब्रह्म'' का साक्षात्कार अर्थात ''मोक्ष''। तथा ब्रह्म के साक्षात्कार का मार्ग है आत्मज्ञान। इसीलिये हमारे यहां उसी को ''शिक्षा'' माना गया है जो आत्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ हो। वही विद्या मानी गयी जो मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करे। शेष सब अविद्या मानी गयी।।

आदर्शवाद की उपरोक्त सूक्ष्म विवेचना के आधार पर शोधकर्त्री श्री उपाध्याय जी की शैक्षिक विचारधारा का निरीक्षण करना चाहती है और यह निष्कर्ष निकलता है कि उनकी शैक्षिक विचारधारा में आदर्शवाद परिलक्षित होता है।

शोधकर्त्री के अनुसार भारतीय संस्कृति, धर्म, वेद, उपनिषद, स्मृतियां, रामायण, महाभारत और वैदिक शास्त्र ही उपाध्याय जी की विचारधारा के मुख्य स्त्रोत हैं।

महात्मा गांधी एवं पं० दीनदयाल उपाध्याय जी आदर्शवादी होने के नाते दोंनो ही शिक्षा द्वारा शांति, सुख, समृद्धिशाली समाज की स्थापना करना चाहते थे। दोनों दार्शनिक ब्रह्मचर्य, संयम, व्यायाम व सदाचारी जीवन व्यतीत करने पर बल देते हैं। अतः दोनो ही हदय से आदर्शवादी थे किन्तु आदर्शवादी होने पर भी उन्होंने भौतिकवाद की उपेक्षा नहीं की है।

महात्मा गांधी ने अपने प्रेम के सिद्धान्त पर बल देते हुये लिखा है कि –

> ''बालकों के प्रशिक्षण में प्रेम अति अनिवार्य और निर्देशित शक्ति है। क्षमा का सिद्धान्त और सच्ची शिक्षा के अर्थ का परिणाम भौतिक शक्ति को वासना के रूप में नहीं होना चाहिये बल्कि इसे आध्यात्मिक शक्ति के रूप में होना चाहिए।''

प्रकृतिवाद -:

प्रकृतिवाद जगत के प्रति एक भौतिकवादी दृष्टिकोण धारण करता है। यह विचारधारा आदर्शवादी विचारधारा के ठीक विपरीत है। दर्शन का प्रारम्भ आश्चर्य

से माना जाता है। सम्पूर्ण प्रकृति आश्चर्यमयी है। प्रकृति के भौतिक तत्वों ने मानव को चिन्तन हेतु प्रेरित किया है।

प्रारम्भिक काल से ही हमें प्रकृति सम्बन्धी विचार दिखाई पड़ते हैं, इस प्रकार हम देखते है कि जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु आदि प्रकृति पदार्थ ही चिन्तन करने के लिये इस दर्शन के आधार बने। भारतीय शिक्षा में प्रकृति के महत्व को सदैव ही स्थान दिया गया है। प्राचीन काल में प्रकृति सुन्दरी की सुरम्य गोद में पर्णकुटियों में, आम्रवाटिकाओं में शिक्षा प्रदान की जाती थी। प्राचीन काल में तक्षशिला व नालन्दा विश्वविद्यालयों का निर्माण इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु किया गया था।

प्रकृतिवाद के जिस रूप ने महात्मा गांधी को आकर्षित किया था वह जैवकीय प्रकृतिवाद था इसका मुख्य कारण यह है कि ऐसा प्रकृतिवाद मानव प्रकृति पर विशेष बल देता है और बालक की पूर्ण प्रकृति व स्वाभाव का पूर्ण विकास करना चाहता है। महात्मा गांधी जी की कुछ कृतियों में वर्णन व कथन प्रकृतिवादी विचारधारा से साम्य रखते है यही कारण है कि प्रकृतिवादी दार्शनिकों में वे मुख्य रूप से प्रतिष्ठित स्थान रखते हैं। जबकि यह कहना गलत नहीं होगा कि महात्मा गांधी जी पूर्ण रूप से प्रकृतिवादी नहीं है।

प्रकृतिवाद के बालकेन्द्रित मनोवैज्ञानिक रूप को महात्मा गांधी जी मान्यता प्रदान करते हैं। इसलिये वे ग्रामीण पर्यावरण में मानवता के उचित विकास, उनमें निहित समानता के आधार पर समान अवसर तथा कार्यशीलन हेतु विद्यालयों का प्रबन्ध करना चाहते हैं। इस प्रकार प्रकृतिवादियों की भांति वे स्वतन्त्रता के पक्षधर हैं किन्तु पूर्ण रूप से प्रकृतिवादियों की भांति स्वतन्त्रता के पक्षधर नहीं हैं।

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी की विचारधाराओं में अक्षरशः प्रकृतिवाद की विचारधारा को पाते है, किन्तु पं0 दीनदयाल जी प्रकृति के उपासक हैं। वे भारतीय संस्कृति में यद्यपि रंगे हुये यद्यपि भौतिक युग व उसके प्रगतिशील रूप को वह महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। किन्तु पं0 दीनदयाल जी प्रगति के लिये पाश्चात्यीकरण के अन्धानुकरण के सख्त खिलाफ थे। पं0 दीनदयाल जी

प्रकृतिवाद के प्रबल समर्थक हैं। वे "मानवीय मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य की प्रकृति आध्यात्मिक मानते हैं।" अतएव उपाध्याय जी शरीर के विकास के साथ–साथ मन, बुद्धि और आत्मा अर्थात आध्यात्मिक विकास के पक्षधर हैं। पं0 दीनदयाल जी का मानना है कि मनुष्य के अन्दर कला, संस्कृति, सदाचार दया धर्म नैतिकता और उदारता के गुणों का विकास शिक्षा के द्वारा मनोवैज्ञानिक ढंग से इन गुणों का विकास किया जा सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि उनकी शिक्षाएं पूर्णतः 'मनोवैज्ञानिक' है।

प्रकृतिवादी शिक्षा प्रक्रिया में शिक्षक का स्थान महत्वपूर्ण नहीं मानते हैं, किन्तु महात्मा गांधी एवं पं0 दीनदयाल उपाध्याय दोनो शिक्षा प्रक्रिया में शिक्षक (गुरू) का स्थान महत्वपूर्ण मानते हैं। पं0 दीनदयाल उपाध्याय बालक को शिक्षक प्रक्रिया का प्रमुख अंग मानते हैं। परन्तु वे अनुशासन को प्रतिबन्धित नहीं बल्कि संयम मानते है और इसी के आधार पर बालक को स्वतन्त्रता पूर्वक आदर्शों की शिक्षा और जिम्मेदारी का भाव उत्पन्न करके बालक के अन्दर स्वयमेव अनुशासन उत्पन्न करने के पक्षधर है। महात्मा गांधी और पं0 दीनदयाल उपाध्याय दोंनो ही बालक के व्यक्तित्व का आदर करते है, और शिक्षा में स्वतन्त्रता और आत्मानुशासन पर जोर देते हैं। उनकी बेसिक शिक्षा क्रिया द्वारा शिक्षा के सिद्धान्त पर आधारित है। उपर्युक्त कारणों से ही उन्हें प्रकृतिवादी समझा जाता है।

प्रयोजनवाद -:

वास्तविक जीवन व चिन्तन जगत में आज का मानव बहुत आगे निकल चुका है। जिसके कारण आधुनिक युग में जीवन तथा विचार एवं विचार शैली में जो परिवर्तन दृष्टिगत हुये उनका प्रभाव दार्शनिक विचारधारा के नवनिर्माण का निरूपण भी दिखाई दे रहा है। प्रयोजनवादी दृष्टिकोण कोई अर्वाचीन विचार नहीं है, बल्कि यह तो अति प्राचीन चिन्तनधारा में भी दिखाई देता है किन्तु एक विशिष्ट दार्शनिक विचारधारा के रूप में यह आधुनिक काल की ही देन है। प्रयोजनवाद, आदर्शवाद एवं प्रकृतिवाद के मिलन बिन्दु का मध्यवर्ती दर्शन है। प्रयोजनवाद दोंनो वादों के भौतिक उपयोगी एवं आदर्श प्रवृत्तियों में से सर्वोत्तम

तत्व को ग्रहण कर उनका पुनर्निर्माण करता है। इसलिये प्रयोजनवाद एक नये आदर्शवाद का एक पद है। महात्मा गांधी का शिक्षा दर्शन व्यवस्था में प्रकृतिवादी, उद्देश्यों में आदर्शवादी और कार्य की योजना व विधि में प्रयोजनवादी है। परिवर्तशील विचारशैली के कारण प्रयोजनवाद केवल दार्शनिक मनोवृत्ति के रूप में जेम्स के द्वारा प्रस्तुत किया गया है । यह दर्शन अमेरिका की देन हैं इसलिये लोग उसे अमेरिकी दर्शन भी कहते है। यह दार्शनिक विचारधारा अध्यात्म में लेश मात्र भी विश्वास नहीं करती, किन्तु प्रकृतिवाद के अनुसार प्रकृति से पूर्ण अनुकूलन न कर अपनी आवश्यकताओं के अनुसार वातावरण को नियन्त्रित करती है। प्रयोजनवाद परिवर्तन में विश्वास करता है। परिवर्तन जगत की मूल प्रक्रिया है, किन्तु जीवन के कुछ मूल्य अपरिवर्तनीय होते हैं। ऐसा विचार पं० दीनदयाल जी का है। यही कारण पं० दीनदयाल उपाध्याय जी पूर्ण रूपेण प्रयोजनवादी विचारक नहीं कहे जा सकते क्योंकि श्री उपाध्याय जी तत्वतः आदर्शवादी विचारक थे और उनकी शैक्षिक विचारधारा में आदर्शवाद पूर्णतः परिलक्षित होता है। किन्तु पं० दीनदयाल उपाध्याय जी ने देश की आवश्यकतानुसार 'सम्राट' बनना एवं उसी के लिये भिक्षुक बनकर उसके प्रयोजन को सिद्ध करने का जो सुझाव चाणक्य के रूप में चन्द्रगुप्त को दिया है पूर्णतः प्रयोजनवादी ही है।

हमने पहले ही देखा है कि महात्मा गांधी का शिक्षा दर्शन व्यवस्था में प्रकृतिवादी, उद्देश्यों में आदर्शवादी और कार्य की योजना व विधि में प्रयोजनवादी है। महात्मा गांधी के शैक्षिक सिद्धान्त उनके द्वारा दक्षिण अफ्रीका के टालस्टाय फार्म व फोनिक्स बस्ती तथा साबरमती आश्रम व सेवाग्राम में किये गये शैक्षिक प्रयोंगो की उपज है दक्षिणी अफ्रीका के प्रयोगों से उन्हें अनुभव हुआ था कि –

"बालक बालिकाओं का सर्वतोमुखी विकास करना ही वास्तव में शिक्षा का मुख्य कार्य है।"

उन्होंने इन प्रयोगों से यह भी अनुभव किय था कि विद्यार्थियों को उपयोगी नागरिक बनाने के लिये स्वतन्त्र पर्यावरण में स्वतन्त्रता से उनकी क्षमताओं के विकास हेतु अवसर देना नितान्त आवश्यक हैं। तभी मानव की समस्त क्षमताओं का

समजोपयोगी व आदर्शनुकूल विकास किया जा सकता है। इस हेतु यह भी वे आवश्यक समझते हैं कि विद्यार्थियों के मस्तिष्क, हृदय एवं हाथ का एक साथ सामन्जस्य पूर्ण विकास किया जाय। सम्पूर्ण मानवीय क्षमता के विकास हेतु इन्होंने एक नूतन विचार प्रस्तुत किया था वह था हस्तकला द्वारा शिक्षा देना। वे मानव की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति का लक्ष्य रखे हुये थे, क्योंकि इनकी संतुष्टि के आभाव में उच्च आदर्श की कल्पना करना व्यर्थ है।

पारम्परिक शिक्षा व्यवस्था शारीरिक शिक्षा, हृदय की शिक्षा, चरित्र का निर्माण, उद्योग की शिक्षा का स्थान नहीं था। सत्य की अनुभूति के लिये वे प्रयोग अधिक महत्व देते थे। अपनी आत्मकथा को वे "सत्य के प्रयोग" के नाम से पुकारते थे। वे सत्य के प्रयोग द्वारा व बालकों में उद्योगों की शिक्षा प्रदान करना चाहते थे।

महात्मा गांधी जी ने अपनी शिक्षा योजना देश की आर्थिक सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर पारम्परिक शिक्षा व्यवस्था के प्रतिपादित की थी।

महात्मा गांधी के अनुसार – "शिक्षा ही एक मात्र वह मूल्यवान वस्तु है जो विद्यार्थियों की क्षमताओं को इस प्रकार विकसित कर सकती है ताकि वे अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली जीवन समस्याओं को ठीक–ठीक समाधान करने में समर्थ हो सके।[1]"

अब शोधकर्त्री पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी की विचारधारा को प्रयोजनवादी सिद्धान्तों की कसौटी में देखना चाहती है। अतएव प्रयोजनवाद की व्याख्या करते हुये श्री उपाध्याय जी के विचारों में प्रयोजनवादी तथ्यों को खोजने का प्रयास करेगी। भारतीय विद्वानों ने उपयोगिता व्यवहार, और क्रिया को ही सत्य माना है, तथा स्पष्ट किया है कि जिस सत्य से प्राणियों का मंगल सिद्ध नहीं होता वह सत्य वास्तविक सत्य कहलाने का अधिकारी नहीं है।

---

[1] महात्मा गांधी – 'हरिजन' (साप्ताहिक) 23–5–1936 – नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद

महाभारत के अनुसार – "यद्भूतहितमत्यर्थमेतत् सत्यं मतंमम्" अर्थात जो प्राणियों का अत्यधिक हित करने वाला है वही सत्य है। तथा "यदेवार्ध क्रियाकारी तदैव सत्[1]"

जो वस्तु प्रयोजन की क्रिया करने वाली है, वही परमार्थ रूप से सत्य है।

प्रयोजनवाद की उपरोक्त व्याख्या के अनुसार श्री उपाध्याय जी स्पष्टतः प्रयोजनवादी ही दिखाई देते हैं। राष्ट्र का कल्याण एंव राष्ट्र की स्वतन्त्रता उपाध्याय जी का मुख्य प्रयोजन है अतः इस प्रयोजन को पूरा करने वाले असत्य को भी वे सत्य से बड़ा मानते है। उनके अनुसार –

"अपने राष्ट्र का कल्याण और उसकी स्वतन्त्रता ही सबसे बड़ा सत्य है।[2]"

इस प्रकार उपरोक्त अध्ययन के आधार पर शोधकर्त्री ने यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है कि श्री उपाध्याय जी ने राष्ट्रीय प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये 'शिक्षा' को साधन के रूप में स्वीकार किया है। छोटे–मोटे प्रयोजन के लिये सिद्धान्तों से समझौता करना उनकी आदत नहीं है। वरन् उच्च प्रयोजन जैसे राष्ट्र की स्वतन्त्रता एवं राष्ट्र के कल्याण के लिये वे कुछ भी करने के समर्थक हैं। अस्तु उपाध्याय जी आदर्शवादी विचारक ही नहीं किन्तु प्रयोजनवादी विचारधारा के आदर्श प्रस्तोता भी हैं।

महात्मा गांधी प्रयोगवादी प्रयोजनवादी की भांति इस तथ्य में विश्वास करते है कि जो कुछ प्रयोग की कसौटी पर खरा उतरे वह सत्य है। महात्मा गांधी का सापेक्षिक सत्य देशकाल परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील है। इनका सापेक्षिक सत्य प्रयोजनवादी विचारधारा के अनुकूल ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महात्मा गांधी जी "सत्य" सम्बन्धी विचारों में प्रयोजनवादी विचारों से अंशतः सहमत हैं। पं० दीनदयाल जी भी महात्मा गांधी की भांति अंशतः ही प्रयोजनवादी हैं। महात्मा गांधी जी सत्यम, शिव, सुन्दरम, जैसे मूल्यों के अनुयायी हैं। महात्मा गांधी जी उन्हीं बातों के अनुयायी हैं। महात्मा गांधी जी उन्हीं बातों को सत्य

---

[1] शिक्षा दर्शन – शिक्षा में व्यवहारिकतावाद – रामसक्ल पाण्डेय पृष्ठ – 221

[2] सम्राट चन्द्रगुप्त – पं० दीनदयाल उपाध्याय, – पृष्ठ – 29

मानते रहे हैं जो प्रयोग की कसौटी पर खरी उतरती थी। इस दृष्टि से वह प्रयोजनवादी थे, प्रयोजनवादी दार्शनिक की तरह शिक्षा को जीवन से सम्बन्धित करना चाहते थे। वे किसी उद्योग के माध्यम से क्रिया द्वारा शिक्षा प्रदान करने के पक्षधर थें बालकों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करना चाहते थे उनकी बेसिक शिक्षा योजना मे प्रयोजनवादी शिक्षा विधि व सिद्धान्त का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

यर्थाथवादी दर्शन -:

"यर्थाथवाद जेसा यह संसार है वैसे ही सामान्यतः उसे स्वीकार करने में होता है।"

वास्तव में व्यक्ति अपने समक्ष जो कुछ घटित होते देखता है व श्रवण करता है उसपर अविश्वास करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये यर्थाथवाद का सम्बन्ध विचार की यथार्थता से है। मानव के विश्वास एवं दृष्टिकोण की दीवार पर यथार्थवाद अवलम्बित है। यथार्थवादी नश्वर या चलायमान का तात्पर्य पराधीनता से नही मानते है। विचार व पदार्थ के अलगाव की भावना को यथार्थवादी स्वीकार नहीं करते हैं। महात्मा गांधी जी के दर्शन का एक तत्व भौतिक सफलता की प्राप्ति के लिये प्रयास करना है। महात्मा गांधी ने भौतिक सम्पन्नताओं व आवश्यकताओं की पूर्ति का संदेश दिया हैं उनके दर्शन में यथार्थवाद की झलक दिखाई देती है, पाश्चात्य शिक्षा का विरोध शिक्षा को भारतीय जीवन पर आधारित करना, शिक्षा को जीवन से सम्बन्धित करना उसे व्यावहारिक बनाना आदि तत्व उनके यथार्थवादी होने के प्रमाण हैं। महात्मा गांधी की शिक्षा का लक्ष्य विद्याथियों को बेरोजगारी के विरूद्ध एक सुरक्षा प्रदान करना है। उन्होंने कहा है –

"विद्यालयी शिक्षा को बालकों को बेरोजगारी के विरूद्ध एक प्रकार की सुरक्षा देनी चाहिये। ....चौदह वर्ष की आयु में बालक को एक कमाने वाले व्यक्ति के रूप में विद्यालय के बाहर आंना चाहिये।[1]"

[1] महात्मा गांधी – "हरिजन" (साप्ताहिक) 11.09.1937 एवं 18.09.1937 नवजीवन प्रेस अहमदाबाद

उन्होने पुनः कहा है – "हस्तकला की शिक्षा यान्त्रिक विधि से न देकर इस विधि से दी जाय ताकि उसके सामाजिक तथा वैज्ञानिक महत्व से परिचित हो जाये।[1]"

महात्मा गांधी जी शिक्षा के द्वारा समाज के हित के योग्य व्यक्तियों के निर्माण पर बल देते हैं। समाज के पुनरूत्थान एवं पुनर्निर्माण हेतु शिक्षा की व्याख्या करने के पक्षधर हैं शिक्षा सम्बन्धी अपने विचार प्रगट करते हुये उन्होंने कहा है कि –

> "शिक्षा की वर्तमान पद्धति (अंग्रेजी शिक्षा पद्धति अथवा परम्परागत शिक्षा पद्धति) द्वारा भारतीय समाज को शिक्षित करने के प्रयास से हम अपने उचित लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं। इससे विद्यार्थियों का नैतिक उत्थान सम्भव नहीं है। यह शिक्षा पद्धति पुस्तक प्रधान, बौद्धिक व साहित्यक है। यहां प्रयोगों को केवल रटाया जाता है। ये जीवन की वास्तविकताओं से दूर हैं। विषयों का मौखिक वर्णन है, व्यावहारिकताओं व सामाजिकता का आभाव है विद्यार्थी निष्क्रीय होता है।[2]"

पं० दीनदयाल उपाध्याय जी पूर्ण यथार्थवादी नहीं कहे जा सकते है। पं० दीनदयाल जी के भौतिक विकास का लक्ष्य यथार्थ पर खड़ा है किन्तु उनकी हिन्दु संस्कृति की गरिमा का प्रश्न यथार्थ से परे है। इस चिरन्तन तत्व को यथार्थवादी स्वीकार तो करते हैं, किन्तु जीते यथार्थ में ही हैं।

बालकों को यथार्थ को समझने योग्य बनाना व तदुनरूप उन्हें निर्देशित करना आदि पं० दीनदयाल जी के शिक्षा दर्शन के प्रमुख उद्‌देश्य हैं। पं० दीनदयाल जी एक वैज्ञानिक थे। भारतीय संस्कृतिवादी होने के साथ–साथ उपाध्याय जी पुरातनवादी नहीं थे। वे संस्कृति का संरक्षण मात्र करने वालों में से ही नहीं वरन् संस्कृति को गति प्रदान कर सजीव बनाने वाले युग दृष्टा थे। रूढ़ियों परम्पराओं और अन्धविश्वासों के पूर्णतः विरोधी लेकिन पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान को आंख बन्द करके स्वीकार करने के समर्थक भी नहीं थे। उन्होंने

---

[1] महात्मा गांधी – वर्धामापवाड़ी हाईस्कूल में दिया गया भाषण। 22/23.10.1937

[2] एजूकेशनल रिंकस्ट्क्सन – पृष्ठ 132

भारतीय संस्कृति के अनुरूप 'परस्पर पूरकता' का सिद्धान्त हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है।

सम्पूर्ण सृष्टि की अनेकता में एकता का सूत्र निकाला तथा 'अनेकता में एकता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही है।

मानव विज्ञान के साथ साथ उन्होंने वनस्पति विज्ञान का भी प्रतिपादन किया है तथा प्राणियों और वनस्पतियों के बीच 'परस्परावलम्बन' का सिद्धान्त कार्य करता है जिससे यह संसार ठीक ढंग से चलता रहता है।

उपाध्याय जी ने अपनी देश की प्रगति के लिये उपयुक्त यन्त्रों के निर्माण का सुझाव दिया है। उनके अनुसार –

''विज्ञान किसी देश की बपौती नहीं, वह हमारे भी अभ्युदय का साधन बनेगा।[1]''

महात्मा गांधी एवं पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी दोनो ही शिक्षा का उद्देश्य स्वराज्य प्राप्ति को मानते हैं।

हमने देखा है कि दोंनो शिक्षाशास्त्रियों ने उस समय जन्म लिया था जब कि देश पर विदेशी शासन था ऐसे पर्यावरण में दोनो बड़े हुये थे तथा देश की तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक अवदशा के साक्षात दृष्टा थे। अन्याय, शोषण की पराकाष्ठा को देख चुके थे। देश का उद्धार व परतन्त्रता की बेड़ियों को काटने में दोंनों शिक्षाशास्त्री शिक्षा को महत्वपूर्ण साधन मानते थे। इसलिये शिक्षा का एक लक्ष्य था ''स्वराज्य की प्राप्ति। पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने अपने बाल्यकाल से ही घनघोर दुखों का कटु अनुभव किया था। निर्धन वर्ग, शोषित वर्ग व पीड़ित वर्ग के दुख दर्द की भावनाओं का उन्हें पूर्ण अनुभव हो चुका था। वे अच्छी तरह जानते थे कि इसका मूल कारण अशिक्षा ही है। इसलिये जब तक शिक्षा का प्रचार व प्रसार सर्वजन सुलभ न बनाया जायेगा तब तक इनके भीतर स्वाभिमान का भाव जागृत नहीं किया जा सकता है। महात्मा गांधी जी तो साक्षरता को शिक्षा भी नहीं

---

[1] भारतीय जन संघ सिद्धान्त और नीतियां – पृष्ठ – 4, पं0दीनदयाल उपाध्याय

मानते थे, बल्कि यह शिक्षा का प्रारम्भिक बिन्दु है ऐसा मानते थे। इस प्रकार परतन्त्रता की बेड़ियों को काटने सामाजिक व आर्थिक विकास हेतु जन समाज में शिक्षा का प्रसार करना व उसका उद्देश्य स्वराज ही माना है।

महात्मा गांधी कहते हैं कि –

"वास्तविक स्वराज्य कुछ लोंगो द्वारा अधिकार प्राप्त कर लेने से नहीं आ सकता परन्तु जनमानस को उनकी सामर्थ्य के अनुकूल शिक्षित करने से स्वराज्य की प्राप्ति होती है।[1]"

पं० दीनदयाल जी की शिक्षा एकात्म मानव दर्शन पर आधारित भारतीय संस्कृति का संरक्षण और संवर्द्धन करते हुये राष्ट्र के भौतिक एवं आध्यात्मिक समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करने वाली शिक्षा के रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है।

दोनो शिक्षाशास्त्री शिक्षा का उद्देश्य चारित्रिक विकास करना मानते हैं -:

महात्मा जी चारित्रिक विकास हेतु शिक्षा को प्रमुख साधन मानते थे। वे यह स्वीकार करते थे कि विश्वविद्यालय की शिक्षा से विद्यार्थी के चरित्र विकास में परिपक्वता आती है। चारित्रिक विकास का तात्पर्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास से है। राष्ट्रीय चरित्र के विकास के महत्व को स्वीकार करते है। राष्ट्रीय चरित्र हमारे राष्ट्रीय जीवन का मूल आधार है।

पण्डित दीनदयाल जी ने भारत के राष्ट्रीय चरित्र को बहुधर्म, बहुभाषा और बहुजातीय वाले भारत की एकता और अखण्डता के लिये महत्वपूर्ण लक्ष्य के रूप में स्थापित किया है। पं० दीनदयाल जी के अनुसार भारत भूमि में जन्म लेने वाले बालक की उत्तम शिक्षा व्यवस्था वही हे जो चरित्र का निर्माण कर सके। ज्ञान संस्कृति और चरित्र के संगम से ही शिक्षा तीर्थराज प्रयाग बनती है।

---

[1] यंग इण्डिया – 23.01.1925

महात्मा गांधी जी मानते है यदि व्यक्ति का उचित विकास किया जाता है तो समाज जिसका वह सदस्य होता है स्वतः विकसित हो जायेगा।

उनका कथन है कि –

"मैं अनुभव करता हूँ कि यदि मैं व्यक्ति के चरित्र निर्माण में सफल हुआ तो समाज स्वयं अपनी देख–रेख कर लेगा। इस प्रकार के विकसित मानव से निर्मित सामाजिक संगठन में मैं बिल्कुल विश्वास करता हूँ।[1] "

अन्य शिक्षाशास्त्रियों की भांति महात्मा गांधी भी शिक्षा का लक्ष्य नैतिक विकास करना व चरित्र निर्माण करना तथा हृदय की संस्कृति का विकास करना मानते है। इसलिये चरित्र निर्माण पर गांधी जी बहुत बल देते थे।

"पर मैने हृदय की शिक्षा को अर्थात चरित्र के विकास को प्रथम स्थान दिया है चरित्र को मैने उनकी शिक्षा का आधार माना है। बुनियाद मजबूत हों तो और बातें अवकाश मिलने पर मित्रों की सहायता से या अपने आप सीख सकते हैं।[2]"

महात्मा गांधी जी के अनुसार समस्त ज्ञान का लक्ष्य चरित्र निर्माण करना ही है।स्वयं की पवित्रता का महत्व चरित्र निम्रण के लिये है। चरित्र के बिना शिक्षा व पवित्रता के बिना चरित्र व्यर्थ है। महात्मा गांधी ने कहा है कि –

"व्यक्तिगत पवित्रता समस्त चरित्र निर्माण अथवा मजबूत शिक्षा निर्माण का आधार होना चाहिए।[3]"

उन्होंने आगे लिखा है कि –

"सच्ची शिक्षा साक्षरता का प्रशिक्षण नहीं है बल्कि चरित्र निर्माण करना है ।[4] "

गांधी जी चरित्र निर्माण के लिये विद्यालय को एक संस्था मानते है क्योंकि समाज अपने बच्चों को विद्यालय इसलिये भेजते है ताकि वे चरित्रवान सुन्दर, स्त्री व पुरूष बनकर सामाजिक गतिविधियों में अपना सुष्ठ योगदान दे सकें।

---

[1] "हरिजन" (साप्ताहिक)–17.11.1933, अहमदाबाद

[2] महात्मा गांधी – "आत्मकथा" पृष्ठ –

[3] महात्मागांधी – "टू द स्टूडेन्टस"नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद पृष्ठ . 106

[4] पटेल आर.एम. – गांधी जी की साधना गुजराती नवजीवन पृष्ठ – 114

प्राचीन भारतीय संस्कृति की रक्षा एवं भौतिकवाद से समन्वय का उद्देश्य -:

महात्मा गांधी जी शिक्षा का लक्ष्य सांस्कृतिक विकास सुरक्षा व उसके सम्वर्धन के साथ–साथ वर्तमान भौतिक संस्कृति से उसका तालमेल बैठाना मानते है। शिक्षा और ज्ञान का अतीत काल से धनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। प्रायः ऐसा अर्थ ग्रहण किया जाता रहा है कि शिक्षा इस उद्देश्य से प्रदान की जाये ताकि ज्ञान चाहें भौतिक हो या आध्यात्मिक उसकी वृद्धि हो। व्यक्ति एवं पर्यावरण के मध्य क्रिया एवं प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप जो प्राप्त होता है वह ज्ञान है। और इसे संगठित सुरक्षित एवं संचित करना ही शिक्षा या संस्कृति है। इस प्रकार संस्कृति स्वयं शिक्षा हो जाती है। वास्तव में सच्चा ज्ञान वही होता है जो हमारे संस्कारों में संगठित होता है और इसी के सहारे अपनी जरूरत के अनुसार वातावरण को हम बनाते है तथा उसी वातावरण के अनुकूल हम अपनी इच्छाओं और उद्देश्यों को भी बदलते है। ज्ञान दो प्रकार से अर्जित किया जाता है (1) खोज द्वारा (2) शिक्षा द्वारा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ज्ञान बाह्यय वस्तुओं के तथा अन्तःप्रज्ञा के पारस्परिक सम्बन्ध से ही प्राप्त होता है। दोनो प्रकार के ज्ञान हमारे जीवन में महत्वपूर्ण है। सांस्कृतिक उद्देश्यों के अनुसार किसी भौतिक उपयोग के अतिरिक्त ज्ञान धारण करना श्रेष्ठ है। ज्ञान ही मात्र संस्कृति नहीं है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय जी महात्मा गांधी की ही भांति शिक्षा का लक्ष्य केवल मानव् मात्र के कल्याण का ही नहीं सरन् मानवेत्तर प्राणियों और वनस्पतियों तक के कल्याण का मार्ग मानते हैं। इसी कारण से श्री उपाध्याय जी ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अपनी चिन्तन धारा में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। पं. दीनदयाल जी एक सनातनी हिन्दु थे। वे वैदिक कर्मकाण्डों के साथ सांस्कृतिक परम्परा में आस्था रखते थे,किन्तु रूढ़वादिता को वे कभी स्वीकार नहीं करते थे अपनी उसी प्राचीन संस्कृति का जिसकी गौरव गरिमा का गान आज सम्पूर्ण विश्व में गुंजायमान है, के वे प्रशंसक और पक्षधर थे। वे वर्तमान युग को ह्रास का युग मानते हैं। पं. दीनदयाल जी ने मानव के चतुर्विध सुखों की प्राप्ति के लिये चतुर्थ पुरूषार्थों धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष की व्यवस्था दी हैं। उपाध्याय जी ने तो

संस्कृति के संरक्षण, संवर्धन एवं हस्तान्तरण को ही 'शिक्षा' की संज्ञा दी है। डा. राधाकृष्णन ने कहा है कि –

"वह ज्ञान जो उत्सुकता को शान्त करता है वह संस्कृति से भिन्न है संस्कृति तो व्यक्तित्व को चमकाती है संसार के नायकों की जन्म तिथि याद करना महासागरों को पार करने वाले जहाजों के नाम याद करना तथा हाल के महत्वपूर्ण व्यक्तियों की जानकारी करना संस्कृति नहीं है।[1]"

उन्होने पुनः लिखा है कि –

"उपलब्ध संस्कृति की तालिकाबद्ध सूचनाओं की मात्रा ही संस्कृति को जांचा नहीं जा सकता, किन्तु जीवन के तथ्यों के प्रति मानसिक गुणों द्वारा ही संस्कृति की पहिचान की जा सकती है।"[2]

व्यावहारिक दार्शनिक होने के कारण महात्मा गांधी जी के प्रति अवधारणा विशेष रूप से गांधीवादी है। ज्ञान हृदय की संस्कृति को बहुत सहयोग देता है। प्रेम व सत्य का ज्ञान एक दूसरे के पूरक व सहयोगी है। जब मानव अपने भीतर निहित सत्यता की खोज करता है और अन्वेषित सत्य के माध्यम से शेष सृष्टि के साथ अपना अनिवार्य तादम्य स्थापित कर लेता है। तभी सात्विक प्रेम की उपज होती है। नैतिकता का आन्तरिक भाव उन्नतिशीलता है। महात्मा गांधी के अनुसार व्यक्ति व समाज दोनो का विकास जीवन में पांच नैतिक गुणों सत्य, अहिंसा, इन्द्रिय, निग्रह या आत्म नियंत्रण, अस्तेय और अपरिग्रह पर आधारित है। गांधी जी के अनुसार सापेक्षिक सत्य स्थिर नहीं है क्योंकि उसमें परीक्षण व पुनः सुधार होता रहता है। गांधी जी के अनुसार सच्चा सत्य वह है जो –

"तुम्हें तुम्हारी आन्तरिक आवाज बताती है।[3]"

अतीत की संस्कृति और वर्तमान भौतिक विकास को साथ लेकर उन दोंनो में सम्बन्ध स्थापित करना शिक्षा का चरम लक्ष्य होना चाहिए। इसलिये गांधी जी ने लिखा है कि –

---

[1] डा. राधाकृष्णन एस – "फ्रीडम एण्ड कल्वर" मद्रास, नतेसन पृष्ठ – 37
[2] डा. राधाकृष्णन एस – "फ्रीडम एण्ड कल्वर" मद्रास, नतेसन पृष्ठ – 23
[3] यंग इण्डिया 21.12.1931 वीकली द नव जीवन प्रेस अहमदाबाद

"आप को विद्यार्थियों को एक या अन्य पेशे में प्रशिक्षित करना होगा।[1]"

इस प्रकार हम देखते है कि गांधी जी अतीत व वर्तमान में पूर्ण सामंजस्य स्थापित करते हुये प्रतीत होते हैं।

लोक कल्याण व उद्योग के विकास का उद्योग -:

महात्मा गांधी जी विश्व कल्याण मानव सेवा व उद्योग परक शिक्षा के पक्षधर थे। हमने देखा है कि महात्मा गांधी जी के शैक्षिक सिद्धान्त उनके द्वारा दक्षिण अफ्रीका के टॉलस्टांय फार्म व फोनिक्स बस्ती तथा भारत के साबरमती आश्रम व सेवा ग्राम में किये गये शैक्षिक प्रयोगों की उपज है, दक्षिण अफ्रीका के प्रयोगों से उन्हें यह ज्ञात हो गया था कि –

"बालक बालिकाओं का सर्वतोमुखी विकास करना ही वास्तव में शिक्षा का कार्य है।"

अतः विद्यार्थियों की समस्त क्षमताओं का विकास करने के लिये मस्तिष्क हृदय तथा हाथ तीनों की एकता तथा उसमें सामन्जस्य अवश्य होना चाहिये। इसीलिये गांधी जी ने एक नूतन विचार हस्तकला द्वारा शिक्षा देना प्रस्तुत किया था। वे शिक्षा की प्रक्रिया को किसी हस्तकला व उद्योग को केन्द्र में रखकर ही परिचालित करना चाहते थे, क्योंकि मानव की मौलिक आवश्यकताओं (भोजन,वस्त्र व आवास) की पूर्ति के बिना व्यक्ति में उच्च आदर्शों के प्रति विचार ही उत्पन्न न होगा। यदि शिक्षा हमारी मौलिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं करती तो वह हमारे लिये व्यर्थ है।

कुछ लोंगो के विचार से महात्मा गांधी जी का यह विचार व शिक्षा का उद्देश्य तुच्छ व भौतिकवादी प्रतीत होता हे, किन्तु हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि हम भौतिक,नैतिक और मानसिक प्रगति की कामना करते है तो हमें सर्वप्रथम अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करना होगा। इसी विचार से

[1] हरिजन 18.09.1937 नवजीवन प्रेस, अहमदाबाद

प्रेरित होकर महात्मा गांधी जी ने शिक्षा के तात्कालिक उद्देश्य को मनुष्य की रोटी और रोजी की समस्या के समाधान करने से सम्पृक्त किया है।

वे विद्यार्थी को स्वालम्बी व आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे। महात्मा गांधी जी की यह इच्छा थी कि प्रत्येक विद्यार्थी बेसिक शिक्षा छोड़ने के बाद व्यावसाय को प्राप्त कर स्वयं स्वालम्बी बन सकें। दूसरे शब्दों में नई शिक्षा हस्तकला रूपी तत्व द्वारा बालकों को अपनी जीविका कमाने का प्रशिक्षण देकर बेरोजगारी की समस्या का समाधान प्रस्तुत करेगी। महात्मा गांधी जी का कहना है कि –

"शिक्षा को बालको की बेरोजगारी के विरूद्ध एक प्रकार की सुरक्षा देनी चाहिये, सात वर्ष का कोर्स समाप्त करने के बाद चौदह वर्ष की आयु में बालक को कमाने वाले व्यक्ति के रूप में विद्यालय से बाहर आना चाहिये।"[1]

महात्मा गांधी की शैक्षिक विचारधारा की मौलिकता इस बात में है कि वे समस्त विकास को हस्तकला की शिक्षा द्वारा करना चाहते है। उन्होंने अपने इस विचार को प्रस्तुत करते हुये कहा है कि –

"किसी–उद्योग व हस्तकला को बीच में रखकर उसके जरिये ही समस्त सामान्य शिक्षा की प्रक्रिया को परिचालित करना चाहिये। किसी हस्तकला के विज्ञान व कला के व्यावहारिक ज्ञान के प्रशिक्षण द्वारा ही शिक्षा दी जानी चाहियें शरीर मन व आत्मा की सभी शिक्षायें हस्तकला द्वारा दी जानी चाहिये।"[2]

हस्तकला उद्योग परक शिक्षा के माध्यम से छात्र/छात्राओं में आत्म सम्मानित नागरिक होने का भाव,भावी जीवन में पराश्रिता का विचार उत्पन्न होगा। जो किसी भी राष्ट्र के नागरिक का प्रमुख गुण है। के.जी. मशरूवाला ने लिखा है कि –

"उद्योग निर्देशन का माध्यम व साधन ही नहीं बल्कि कुछ सीमा तक मानव जीवन की अत्याज्य परिस्थिति व निर्देशन का साध्य भी है। शरीर श्रम की प्रतिष्ठा ईमानदारी से स्वश्रम द्वारा जीविकोपार्जन के कर्तव्य तथा सड़क पर कूड़ा हटाने वाले मेहतर के कार्य के प्रति उत्तम भाव पैदा करना है।"

---

[1] महात्मा गांधी – 'हरिजन' (साप्ताहिक) 11.9.1937 एवं 18.9.1937
[2] महात्मा गांधी – 'हरिजन" (सम्ताहिक)11.9.1937 नवजीवन प्रेस अहमदाबाद

भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता उदारमना पं0 दीनदयाल उपाध्याय भी मानवता के पुजारी उच्च कोटि के विद्वान लोक कल्याण के उपासक एवं मानवीय गुणों से सम्पन्न स्वामी विवेकानन्द जैसे महामनवों के पद चिन्हों पर चलने वाले भारत भक्त थे। उनका मानना था कि "कृष्णवन्तो विश्वमार्यम" का जय घोष करने वाला जगदगुरू भारत वर्ष विश्व कल्याण या विश्वशान्ति स्थापित की जा सकती है।

पं0 दीनदयाल जी सम्पूर्ण विश्व की समस्याओं को सुलझाकर मानव कल्याण की स्थापना में भारतवर्ष के सक्रिय सहयोग के आकांक्षी थे।

उनका सपना था कि –

"हम ऐसे भारत का निर्माण करेंगे जो हमारे पूर्वजो ने भारत से अधिक गौरवशाली होगा, जिसमें जन्मा मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ सम्पूर्ण मानवता ही नहीं अपितु सृष्टि के साथ एकात्मता का साक्षात्कार कर नर से नारायन बनने में समर्थ हो सकेगा।"

महात्मा गांधी की भांति पं0 दीनदयाल उपाध्याय भी लोक कल्याण, मानव कल्याण के प्रचार हेतु शिक्षा को श्रेष्ठ साधन मानते है, लोक व मानव कल्याण की भावना से ही परम सत्य को प्राप्त व अनुभव किया जा सकता है। गांधी जी के अनुसार सापेक्षिक सत्य को गम्भीरता से मानते हुये निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये।

महात्मा गांधी जी राज्य की भलाई में विश्वास करते है। राज्य भी उनकी दृष्टि में एक सामाजिक संगठन है, इसलिये सामाजिक सेवा को शिक्षा का अनिवार्य हिस्सा मानते हैं। शिक्षा ऐसी हो जो छात्रों में त्याग का भाव पैदा कर सके।वे समस्त मानव समाज को परिवार समझते थे।उनमें सभी की सेवा करने का भाव था। उनके उच्च आदर्श में समाज सेवा का भाव निहित है उन्होंने लिखा है–

"यदि तुम्हारी शिक्षा जीवन्त वस्तु है तो उसकी महक तुम्हारे चारों ओर के वातावरण में फैलनी चाहिये तुम्हारा सेवा कार्य व्यावहारिक रूप में होना चाहिये तुम्हारी शिक्षा का सबसे बढ़िया अंश यही होगा।[1]"

---

[1] महात्मा गांधी "हरिजन" (साप्ताहिक) 14.11.1929 अहमदाबाद

इस प्रकार हम देखते है कि महात्मा गांधी के शिक्षा दर्शन में मानव समाज व विश्व समाज के कल्याणार्थ विचार सन्निहित है पं0 दीनदयाल उपाध्याय एवं महात्मा गांधी जी इन द्वय शिक्षाशास्त्रियों ने उद्योग परक शिक्षा एवं विश्वरूपी मानवता के कल्याण के भाव सुन्दरतम ढ़ंग से प्रगट किये है जो विश्व के लिये अनुकरणीय है।

शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो तथा इसके प्रयोग पर बल -:

महात्मा गांधी जी शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को ही बनाने पर बल देते थे। उनके अनुसार बच्चों की शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिये। इसलिये मातृभाषा को पाठ्यक्रम महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिये। इसका कारण यह है कि अन्य भाषा के माध्यम से शिक्षा देने पर बालकों के विचारों में अस्पष्टता आयेगी और अपनी जातीय संस्कृति, सभ्यता तथा अन्य विशेषताओं से अपरिचित रह जायेगे। डा0 जाकिर हुसैन का कथन है कि –

"मातृ भाषा का उचित शिक्षण समस्त शिक्षा का आधार है। प्रभावी ढंग से बोलने का आधार है प्रभावी ढंग से बोलने परिशुद्ध एवं स्पष्ट रूप से पढने व लिखने की क्षमता के बिना कोई भी व्यक्ति अपने विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर सकता । सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मातृभाषा बच्चों को उनकी सम्पन्न वंशानुगत संस्कृतियों तथा पूर्वजों के विचारों भावनाओं एवं आकाक्षाओं से परिचित कराती है इस प्रकार यह सामाजिक शिक्षा का महत्वपूर्ण साधन है।"[1]

"स्वतन्त्र भारत में अंग्रेजी राजभाषा बनी रहे ऐसा पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी को कदापि स्वीकार नहीं था उनका मानना था कि जिस प्रकार अंग्रेजी राज्य का स्थान स्वराज्य ने ले लिया है उसी प्रकार अंग्रेजी भाषा का यह स्थान स्वाभाविक रूप से हिन्दी को मिलना चाहिये। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी के माध्यम से ही राष्ट्र का तेजस्वितापूर्ण आह्वान किया था। गांधी जी ने अंग्रेजों के

---

[1] एजूकेशनल रिकंस्ट्रशन – पृष्ठ 127

विरूद्ध शांतिपूर्ण विद्रोह के निमित्त सनन्द्ध कर जनता को उत्साहित करने के लिये हिन्दी को ही उचित माध्यम माना है।"[1]

महात्मा गांधी एवं पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के विचारों की समता एवं विषमता का संक्षेप में विवरण -:

19वीं शताब्दी के समकालीन एवं बीसवीं शताब्दी के शुरूआती दौर नेता, समाज सुधारक एवं शिक्षाविद महात्मा गांधी जी एवं पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचारों के आधार पर दोंनों में पर्याप्त समानता दृष्टिगत होती है। उनमें निहित समता एवं विषमता संक्षेप में निम्न प्रकार व्यक्त की जा सकती है।

1. महात्मा गांधी जी जीविकापार्जन व बुनियादी शिक्षा के समर्थक थे। उन्होंने उद्योगपरक शिक्षा रूपी हस्तकौशल को राष्ट्र में व्याप्त बेरोजगारी को समाप्त करने का प्रमुख साधन माना। पं0 दीनदयाल जी जीविकोपार्जन की शिक्षा हेतु एवं बेकारी की समस्या का निराकरण करने के लिये हस्तशिल्प व औद्योगिक शिक्षण पर बल देते हैं। जिससे बालक स्वालम्बी बन सके और उनमें आत्मविश्वास का भाव जाग्रत हो सके और उनमें आत्मविश्वास का भाव जाग्रत हो सके। हस्तकौशल एवं हस्तशिल्प को समान रूप से इन द्वय शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा का आधार बनाया है।

2. महात्मा गांधी जी भारत वर्ष में अपने परिवेश के समान शिक्षा ग्रहण करने पर बल देते थे। जैसे चर्खा चलाना, सूत कातना, हाथ से बुनाई करना आदि, पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी विदेशी एवं सस्ते और उत्तम मशीनों द्वारा निर्मित माल का वे विरोध करते थे। छोटे–छोटे उद्योगों को बढावा देने एवं कुटीर उद्योगों की समृद्धि पर बल दिया। बड़े उद्योगों के विरोधी होने का मतलब उद्योगों से को नफरत नहीं थी।

[1] पॉलिटीकल डायरी पं0 दीन दयाल उपाध्याय स्वभाषा और सुभाषा पृष्ठ 87–90

बल्कि उपाध्याय जी विकेन्द्रीकरण के आधार उद्योग लगाने के पक्ष में थे।

3. यद्यपि दोंनो शिक्षाशास्त्री धार्मिक प्रवृत्ति के थे, किन्तु पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी धर्म एवं संस्कृति प्रधान शिक्षा के समर्थक एवं पक्षधर थे। पं0 दीनदयाल जी कर्म प्रधान शिक्षा पर भी महात्मा गांधी जी की भांति विशेष बल देते थे। दोनो ही शिक्षाशास्त्री नैतिक गुण के विकास हेतु कर्म व धर्म दोंनो में समवाय कर शिक्षा प्रदान करने के पक्षधर थे।

4. महात्मा गांधी के मूल शैक्षिक विचारों को पूर्णता प्रदान करने के लिये पं0 दीनदयाल जी ने अपने व्यापक शैक्षिक प्रारूप द्वारा अभिसिंचित कर अंकुरित तथा पल्लवित किया और उससे हजारों शिशु मन्दिर एवं सरस्वती विद्या मन्दिर पण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी की शिक्षा व्यवस्था के व्यवहारिक स्वरूप हैं। अखिल भारतीय शिक्षा संगठन 'विद्या भारती' द्वारा देश के लाखों नौनिहाल से लेकर युवाओं तक को दिशा निर्देशन प्राप्त हो रहा है और वे सफल एवं उन्नतशील जीवन की ओर अग्रसर हो रहे है।

5. दोनों शिक्षाशास्त्रियों में एकीकरण की भावना प्रबल थी। महात्मा गाधी जी ने एकत्व की भावना को शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य माना है। महात्मा गांधी जी की भांति पं0 दीनदयाल जी एकता के समर्थक थे। वे दोनो ही छुआछूत के भेद को समाप्त करने के प्रबल समर्थक थे। पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी राष्ट्र की संगठित शक्ति के द्वारा ही प्रगति को संभव मानते थे। उन्होंने व्यक्तिवाद छोड़कर संघ शक्ति पर बल दिया है। उनकी आकांक्षा एवं सुझाव यही था कि – 'एकता का भाव लेकर जाग उठे यह राष्ट्र सारा।

अनवरत श्रमशीलता तथा शिक्षा का माध्यम कर्म व श्रम -:

महात्मा गांधी जी श्रम शीलता पर बहुत अधिक बल प्रदान करते थे। विद्यार्थियों को आत्मनिर्भर बनाने के लिये वे बार बार जोर देते हैं, क्योंकि उनका कहना है कि –

"शिक्षा को बेरोजगारी के विरूद्ध एक प्रकार सुरक्षा देनी चाहिये। बालक को कमाने वाले व्यक्ति के रूप में विद्यालय से बाहर भेजा जाना चाहिये।[1]"

महात्मा गांधी की शिक्षा का माध्यम कर्म है वे पूर्ण मानव विकास हेतु ह्रदय मस्तिष्क या मन और हाथ तीनों की एकता पर बल देते है हाथ की संस्कृति की शिक्षा द्वारा सम्पूर्ण शिक्षा देने की बात इसके पूर्ण महात्मा गांधी जी के अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति के मस्तिष्क में नहीं आयी थी । यह उनकी वास्तव में मौलिकता है । प्रारम्भिक मनुष्य क्रियात्मक श्रम द्वारा ही सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते थे। रूसो ने कहा है कि –

"पुस्तक पढाने की अपेक्षा मैं विद्यार्थियों को कारखानों में लगाना उचित समझता हूं। उनके हाथ मस्तिष्क के विकास के लिये कार्य करेंगे।[2]"

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी का यह विश्वास था कि विषम समस्याओं से घिरे इस देश में सब प्रकार का समाधान सम्भव है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि देश के कर्णधार और समाज के जागरूक लोग निष्ठापूर्वक इसके लिये प्रयत्नशील हों। उनका कहना था कि भारत की उन्नति के लिये हम सबको कर्मठ होकर परिश्रम करना होगा। उन्होने लिखा है –

"राजा और रंक, पूंजीपति और श्रमिक अमीर और गरीब सबको श्रम की साधना में जुटना होगा। उन्होने कहा है कि व्यक्तिगत लाभ को छोडकर देश की उन्नति के लिये आपसी सहयोग एवं अधिक से अधिक परिश्रम करना होगा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये जो त्याग किया अब उससे दुगुना त्याग व चौगुनी तपस्या की आवश्यकता है देश की समृद्धिशाली बनाने के लिये।

---

[1] हरिजन (साप्ताहिक) 11.09.1937 व 18.09.1937 नवजीवन प्रेस अहमदाबाद
[2] रूसो–"एमिल या शिक्षा" एवरी मेन एडीसन हैन्ट लन्दन 1925 पृष्ठ 140

महात्मा गांधी के अनुसार बालक की वही शिक्षा पूरी हो सकती है जो उद्योग केन्द्रित समाज केन्द्रित तथा प्रकृति केन्द्रित हो। इस प्रकार हम देखते है कि महात्मा गांधी चाहते थे कि प्रत्येक बालक कमाते हुये शिक्षा ग्रहण करे। उसका परिश्रम उसकी शिक्षा का एक हिस्सा हाना चाहिये और जिस समाज में वह रहता हे उसके अनुकूल बनने में शिक्षा को सहयोग देना चाहिये।

अर्थकारी शिक्षा की अवधारणा -:

महात्मा गांधी जी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को जीविकोपार्जन के योग्य बनाना है। जिससे वह आत्मनिर्भर हो सके और समाज और परिवार पर भार न बन सके। इस प्रकार की दक्षता से स्वयं बालक का समाज तथा देश का कल्याण सम्भव है। इस सम्बन्ध मे गांधी जी ने कहा है कि –

"शिक्षा को बेरोजगारी के विरूद्ध एक बीमा होना चाहिये।"

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी का मानना था कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को काम स्वस्थ और सबल व्यक्ति के लिये ग्रहस्थाश्रम की आयु में जीविकोपार्जन की व्यवस्था होनी चाहिये। उपाध्याय जी अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में समन्वयवादी थे। पण्डित जी ने जिस आर्थिक सूत्र का प्रतिपादन किया उसमें उपयुक्त बातें ही समन्वित है प्रत्येक को काम का अधिकार समवितरण कलकारखाने और कृषि आय में भाग निर्धारण सब को एक सूत्र में पिरोया। उनका **आर्थिक सूत्र -:**

ज x क x य = ई

यहां 'ई' समाज की प्रभावी इच्छा तथा 'ज' समाज में काम करने वालों की संख्या है 'क' काम करने की अवस्था और व्यवस्था तथा 'य' यन्त्र का द्योतक है। उपाध्याय जी के अनुसार मनुष्य, श्रम और मशीन तीनों का समन्वय हो अर्थव्यवस्था का उद्देश्य है जिस अर्थ व्यवस्था में यह समन्वय नहीं होगा वहां विषमता जन्म लेगी।

इस प्रकार हम देखते है कि महात्मा गांधी एवं पं0 दीनदयाल उपाध्याय बालक का केवल बौद्धिक विकास ही नहीं करना चाहते थे बल्कि उसे समाज का एक उपयोगी सदस्य तथा आत्मनिर्भर व्यक्ति बनाना चाहते थे। महात्मा गांधी जी पुस्तकीय शिक्षा का विरोध करते थे और हस्तकार्य व दस्तकारी के द्वारा शिक्षा प्रदान करने का सुझाव रखते है। इसलिये उनका पाठयक्रम भी क्रियाप्रधान पाठयक्रम है।

पुनः सक्षेप में महात्मा गांधी के शिक्षा सिद्धान्त एवं शैक्षिक दर्शन को निम्न रूप में प्रगट किया जा सकता है -:

1. महात्मा गांधी जी साक्षरता को स्वयं शिक्षा नहीं मानते थे। बल्कि उसे शिक्षा का साधन मानते हैं।

2. शिक्षा बालकों शिक्षा बालको को स्वालम्बी व आत्म निर्भर बनाने वाली होनी चाहिये।

3. शिक्षा बालकों की समस्त शक्तियों तथा उसमें निहित गुणों का विकास करने वाली हो।

4. शिक्षा बालक के शरीर,मन, हृदय तथा आत्मा का सामन्जस्यपूर्ण विकास करने वाली हो।

5. बालकों को व्यवहारिक बनाने के लिये शिक्षा किसी हस्तकला के द्वारा प्रदान की जानी चाहिये।

6. शिक्षा समवाय के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिये। अर्थात विषयों को आपस में सम्बद्ध करके पढाया जाना चाहिये।

7. शिक्षा सात वर्ष तक निशुल्क एवं अनिवार्य होना चाहिये।

8. शिक्षा मातृभांषा के माध्यम से दी जानी चाहिये।

9. शिक्षा में प्रयोग, कार्य, और खोज को महत्व दिया जाना चाहिये।

10. शिक्षा चारित्रिक एवं सांस्कृतिक विकास तथा श्रमशीलता की वृद्धि करनी वाली होनी चाहिये।

11. शिक्षा का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति व आत्मानुभूति होना चाहिये।

12. शिक्षा का लक्ष्य मानव सेवा अथवा सेवा धर्म होना चाहिये।

13. शिक्षा बालकों में राष्ट्रीय भावना का विकास करने वाली हो।

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी की शैक्षिक विचारधारा इस बात पर बल प्रदान करती थी कि राष्ट्र का सर्वतोन्मुखी विकास समाज कल्याण के द्वारा ही सम्भव है। अतः उन्होंने समज कल्याण के लिये शिक्षा को सबसे उचित माध्यम के रूप में स्वीकार किया । महात्मा गांधी की तरह वे भी भारतीयों के पतन का मुख्य कारण निरक्षरता को ही समझते थे। इसलिये निरक्षरता या अशिक्षा जीवन के लिये अभिशाप है।

1. महात्मा गांधी की भांति पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति के सम्पोषक एवं उपासक थे।

2. 'एकात्ममानववाद' की भावना एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम' के पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी पुजारी थे। उन्होंने धर्म, जाति के भेदों को नष्ट कर सभी को एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया। दोनो शिक्षाशास्त्री साम्प्रदायिकता के कट्टर विरोधी थे।

3. महात्मा गांधी की भांति ये भी शिक्षा का उद्देश्य मानव का सर्वांगीण विकास करना मानते थे।

4. मानसिक विकास के साथ – साथ शिक्षा द्वारा बालकों में धर्म नैतिकता एवं चारित्रिक विकास को महत्व देते थे।

5. शारीरिक विकास को महत्व देने के कारण ही उन्होने सयंम, पौष्टिक भोजन तथा व्यायाम वर बल प्रदान किया है।

6. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होना चाहिये।

7. वे सेवाधर्म राष्ट्र सेवा को मानव का धर्म समझते थे। इसलिये शिक्षा द्वारा व्यक्ति में सेवा भाव एवं राष्ट्र सेवा भाव का विकास करना चाहते थे।

8. पं0 दीनदयाल जी की शिक्षा के प्रमुख सिद्धान्त –

   (अ) व्यक्ति के व्यक्तित्व का बहुआयामी विकास सम्भव हो सके।

   (ब) शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे वह अपने समाज को सर्वस्व समर्पण करने के लिये तैयार हो सके।

   (स) शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिसके द्वारा राष्ट्रीय संस्कृति की अभिव्यक्ति हो सके तथा उसका संरक्षण और संवर्धन करके नवनिर्माण की दिशा में आगे बढ़ सके।

   (द) शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो राष्ट्र में चैतन्य का निर्माण कर सकें।

   (य) इनके शिक्षा का सिद्धान्त राष्ट्र का विराट जाग्रत हो सके।

   (र) शिक्षा के द्वारा सभी के हृदय में विशुद्ध राष्ट्र भाव जाग्रत हो

   (ल) पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के सिद्धान्तानुसार शिक्षा ऐसी हो जो 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना जाग्रत करे साथ ही साथ परमसत्ता (परमात्मा) से एकाकार करने में सहयोग प्रदान करें।

9. शिक्षा को बालक में स्वालम्बन व आत्मविश्वास की भावना का विकास करना चाहिये।

10. शिक्षा केवल जीविकोपार्जन तक ही सीमित न हो बल्कि अनुभव जन्य हो।

11. प्राचीन संस्कृति एवं भौतिक युग के मध्यशिक्षा को एक सेतु का कार्य करना चाहिये।

12. पाठ्यक्रम में भारतीय दर्शन की प्रमुख विचारधारा को समुचित स्थान मिलना चाहिये।
13. मानवोचित गुणों का विकास करना होना चाहिये।
14. शिक्षा केवल पुस्तकीय न हो वरन् व्यावहार परक एवं लोकोपकारी हो।
15. शिक्षा का ध्येय आध्यात्मवाद की सम्पुष्टि एवं सम्वर्धन के साथ ही भौतिक विकास के साथ समन्जस्य करने वाली हो।
16. शिक्षा बालको में कर्तव्यशीलता, श्रमशीलता तथा कर्म के प्रति श्रद्धा पैदा करने वाली हो।

पाठ्यक्रम -:

महात्मा गांधी जी चाहते थे कि नयी सामाजिक व्यवस्था हेतु क्रियाशील जिम्मेदार सत्याग्राही के निर्माण हेतु पाठ्यक्रम में शुद्ध साहित्यक विषयों का आभाव पाया जाता है और लाभप्रद शैक्षिक क्रियाशीलन पर महत्व दिया जाता है।

महात्मा गांधी का लक्ष्य नैतिक व्यक्ति निर्मित करना है जो एक सच्चे अर्थ में सामाजिक जीवन व्यतीत करने के योग्य होता है। महात्मा गांधी के बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में आत्मा का तथा मानव की उन क्रियाओं का जो इस विश्व में स्थाई महत्व के है,का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। उनके अनुसार विद्यालयी क्रियाओं में दो प्रकार के कार्यों की योजना होनी चाहिये।

पहले वर्ग में उन क्रियाओं से सम्बन्धित विषय रखे जो सम्पूर्ण विद्यालयीय पर्यावरण में व्याप्त हो तथा उनसे छात्रों का चरित्र व व्यवहार उत्तम बनाया जा सके। दूसरे वर्ग की क्रियाओं में मातृ भाषा, कला जैसे संगीत, हस्तकला जिसमें गणित स्थानीय व सामाजिक विज्ञान, भूगोल, इतिहास आदि को शामिल किया जाना चाहिये। पाठ्यक्रम के विषय जीवन से सम्बन्धित होने चाहिये। महात्मा गांधी ने बालक के शरीर, मन व आत्मा तीनों की क्षमताओं के विकास हेतु जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले हस्त कला केन्द्रित पाठ्यक्रम पर बल प्रदान किया है। बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में क्रियाशीलन को विशेष महत्व दिया है। महात्मा गांधी मूल उद्योग द्वारा सात वर्षीय निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा पर बल प्रदान करते है ताकि पढ़े लिखे नवयुवक रचनात्मक कार्यों को जानकर नौकरी के लिये मोहताज न हो। उनका कथन है कि –

"मै सर्वप्रथम बच्चों को उपयोगी कला सिखाऊंगा ताकि जिस समय से वे शिक्षा प्राप्त करना प्रारम्भ करे उसी समय से उत्पादन करना भी शुरू कर दें।"[1]

पं० दीनदयाल उपाध्याय जी का भी शिक्षा का ध्येय तात्कालिक पराधीन भारत में स्वराज्य प्राप्ति से प्रेरित था। उन्होंने स्वराज्य प्राप्ति का मूल आधार शिक्षा को मान कर शैक्षिक पाठ्यक्रम की अवधारणा की। शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य

---

[1] एजूकेशनल रिकन्स्ट्रेकशन पृष्ठ – 4

सर्वांगीण विकास के साथ–साथ ऐसा पाठ्यक्रम सुनिश्चित किया जाय जो व्यक्तिवादी भावना से ऊपर उठकर संघवादी एवं सामुदायिक जीवन जीने की प्रेरणा दें। उन्होंने पाठ्यक्रम के विषयों द्वारा मानव जीवन के विभिन्न पक्षों यथा शारीरिक, मानसिक आत्मिक भावात्मक, सामाजिक नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास को यथोचित स्थान प्रदान करना चाहते थे। पं० दीनदयाल जी ने ब्रिटिश कालीन संकुचित एवं अविकसित यान्त्रिक पाठ्यक्रम के स्थान पर बौद्धिक चेतना प्रस्फुरण करने वाले पाठ्यक्रम को अपनी शिक्षा प्रणाली का अंग बनाया। सैद्धान्तिक व व्यावहारिक पाठ्यक्रम को शिक्षा में स्थान देकर इन्होंने ब्रिटिश कालीन शिक्षा प्रणाली पर कुठाराघात किया था। इन्होंने बौद्धिक चेतना के साथ कर्म करने की प्रेरणा को विस्तारित किया। व्यक्ति और राष्ट्र को विस्तारित किया। व्यक्ति और राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने के लिये पण्डित दीनदयाल जी सैन्य शिक्षा, कृषि शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, इन्जीनियरिंग शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा प्राविंधिक शिक्षा, यातायात शिक्षा, जनसंख्या शिक्षा तथा सामाजिक शिक्षा को पाठ्यक्रम की विषय वस्तु बनाये जाने के हिमायती थे। उन्होंने 'भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा' नामक पुस्तक में अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुये कहा है कि –

"यह भी आवश्यक है कि हम आर्थिक क्षेत्र में भी आत्म निर्भर बने।"[1]

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने पाठ्यक्रम की व्यापक परिभाषा प्रस्तुत करते हुये लिखा है कि –

"पाठ्यक्रम का अर्थ न केवल उन सैद्धान्तिक विषयों से है, जो स्कूल में परम्परागत रूप से पढाये जाते है, अपितु इसमें अनुभवों की वह सम्पूर्णता भी सम्मिलित होती हे जिसको बालक स्कूल, कक्षा, प्रयोगशाला कार्यशाला तथा खेल के मैदान में एवं शिक्षकों और छात्रों के अनगिनत अनौपचारिक सम्पर्कों से प्राप्त करता है। इस प्रकार स्कूल का सम्पूर्ण जीवन पाठ्यक्रम बन जाता है। जो विकास में सहायता दें सकता है।[2]"

x see p. 199

---

[1] भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा, आत्म निर्भरता पं० दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ 25

[2] माध्यमिक शिक्षा आयोग 1953

इस प्रकार महात्मा गांधी एवं पं० दीनदयाल उपाध्याय जी पुस्तकीय शिक्षा की अपेक्षा प्रायोगिक शिक्षा के समर्थक थे। प्रयोगशाला तथा कार्यशाला में विद्यार्थियों को अपने हाथों से प्रयोग करने का अभ्यास कराया जाय।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिये उद्योग परक शिक्षा आज की शिक्षा की मांग है यह शिक्षा पुस्तकीय न होकर व्यावहार परक होनी चाहिये। देश के बालक एवं बालिकाओं के लिये कम से कम प्राइमरी स्तर की शिक्षा उद्योग परक व अनिवार्य होनी चाहिये।

हमने देखा है कि पं० दीनदयाल उपाध्याय जी का सम्पूर्ण प्रयास महात्मा गांधी जी की शिक्षा योजना को मूर्त रूप देना रहा है इस प्रकार दोनो शिक्षाशास्त्रियों के विचारों मे अधिकांश समानता पायी जाती है। महात्मा गांधी जी पाठ्यक्रम को उद्देश्यों का दर्पण मानते है। उद्देश्यों के आधार पर पाठ्यक्रम में भी विविधता होती है। सन 1944 के शिक्षा अधिवेशन में यह प्राविधान किया गया था कि शिक्षाद्वारा –

''समाज के आध्यात्मिक, नैतिक, मानसिक और शारीरिक विकास को प्राप्त किया जाना चाहिये।[1]''

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति के सर्वोत्तम विकास हेतु –

"उम्र, योग्यता और अभिरूचि को ध्यान में रखकर निर्देशन व प्रशिक्षण के लिये पाठ्यक्रम में विविधता का प्राविधान किया गया था।[2]''

इग्लैण्ड का भी शिक्षामन्त्रालय भी इस बात पर बल देता है कि –

''सभी माध्यमिक शिक्षा को व्यावसायिक शिक्षा कुछ सीमा तक अवश्य प्रदान करनी चाहिये। माध्यमिक स्तर पर शिक्षा को पुरूष व स्त्री को समुदाय में कार्य करने के योग्य बनाना चाहिये। ताकि वे जीविकोपार्जन के योग्य हो सकें।[3]''

---

[1] एजूकेशनल ऐक्ट – 1944 एच.एम.एस.ओ. सेक्शन 7
[2] एजूकेशनल ऐक्ट – 1944 एच.एम.एस.ओ. सेक्शन 8
[3] द न्यू सेकेण्डरी एजूकेशन दृ एच.एम.एस.ओ – 1947 पृष्ठ 47

इस प्रकार हम देखते है कि महात्मा गांधी एवं पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी उपयोगी क्रियाशीलन को महत्व देते है। समाज का सम्पूर्ण कार्यक्रम तीन भाग में विभाजित है।

(अ) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उत्पादन करना।

(ब) समाज को व्यवस्थित रखना।

(स) प्रकृति के साधनों की खोज करना।

इस प्रकार महात्मा गांधी जी का पाठ्यक्रम उद्योग केन्द्रित एवं परिवेश केन्द्रित है। उद्योंगो के चुनाव के लिये प्राकृतिक परिवेश को ध्यान रखने के लिये बल प्रदान करते हैं। महात्मा गांधी ने लिखा है कि –

"आपको इस निष्ठा से काम करना होगा कि भारत वर्ष के गांव की आवश्यकतायें क्या हैं? तथा उनके अनुकूल इस शिक्षा को अनिवार्यतः स्वालम्बी बनाना ही होगा।"[1]

नयी तालीम बालक की सृजनात्मकता, रचनात्मक, भावात्मक एवं रन्जनात्मक वृत्तियों के विकास का अवसर प्रदान करती है। इस प्रकार हम देखते है कि महात्मा गांधी के शिक्षा का पाठ्यक्रम व्यावसाय परक क्रियाशीलन जिम्मेदार व्यक्तियों का निर्माण करने वाला और उपयोगितावादी सिद्धान्त का पोषक, जीवन से सम्बन्धित विषयों उत्पादनशीलता, तकनीकी एवं व्यावसायी दक्षता सात वर्षीय निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा तथा आर्थिक विकास एवं समाज की पुर्नरचना करने में प्रभावी भूमिका अदा करने वाला है।

शिक्षण विधि -:

आज ज्ञान का विकास बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। अतः हमारी जिज्ञासा यह जानने के लिये बेचैन है कि 21 वीं सदी में प्रवेश करते समय हमारा जीवन कैसा होगा। इस सम्बन्ध में एक विद्वान के विचार निम्नवत हैं –

"2000 ए0डी0 तक हम कैंसर पर विजय प्राप्त कर चुके होंगे। न हमें सर्दी जुकाम होगा न हमारे दांत गिरेंगे। क्योंकि इनका प्रभावशाली इलाज निकल चुका

[1] हरिजन 18.9.1937

होगा....। दूषित अंगों के स्थान पर नये अंगों को उत्पन्न कर लेंगे। जैसे एक नयी टांग बना लेना। कृत्रिम टांग लगाने की आवश्यकता नहीं होगी जिसकी टांग कट गयी हो।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि आज मानव का ज्ञान रूपी क्षितिज दिनों दिन व्यापक होता जा रहा है। ऐसी दशा में अध्यापक का कार्य और जटिल हो गया है अतः उसे शिक्षण में पारंगत होना आवश्यक है ताकि वह भावी पीढ़ी को विचारवान व जागरूक बना सके। शिक्षण एक कला है। शिक्षक को बालकों को शिक्षा प्रदान करने से पहले शिक्षण सिद्धान्तों की समझ आवश्यक है। शोधकर्त्री को यह अवगत होता है कि शिक्षण का तात्पर्य शिक्षा प्रदान किये जाने वाली क्रियाविधि से है। उपयुक्त शिक्षण पद्धति के आभाव में अच्छा से अच्छा दर्शन एवं सिद्धान्त असफल होकर कोरे पुस्तकीय आदर्श और सिद्धान्त बनकर रह जाते है। इसलिये शिक्षा सिद्धान्तों आदर्शों मूल्यों एवं शैक्षिक उद्देश्यों को साकार करने के लिये अनुकूल शिक्षण पद्धति वाच्छनीय है। शिक्षण प्रक्रिया में तीन कारक निहित होते हैं प्रथम बालक, जो इस प्रक्रिया का आधार बिन्दु है, द्वितीय विषय वस्तु जो उसे सीखनी है और तीसरा है शिक्षण जो सीखने में सहायता प्रदान करता है। अर्थात सीखना और सिखाना ही शिक्षण पद्धति है।

महात्मा गांधी प्रकृतिवादियों और प्रयोजनवादियों की भांति अधिगम की क्रियाशीलन विधि (एक्टिविटी मेथड) के पक्षधर है। उन्होंने शिक्षा की आधुनिक विधियों के निर्माण व खोज में अधिक योगदान दिया है। मनोविज्ञान के अध्येता न होते हुये भी वे व्यावहारिक मनोविज्ञान के ज्ञाता थे। इसलिये उन्होंने क्रियात्मक विधि, करके सीखने स्वानुभव द्वारा सीखने जैसी विधियों को महत्व दिया है। क्रिया द्वारा ज्ञान को विकसित करना उनकी शिक्षण विधि का मुख्य आधार है। उनकी शिक्षा को हस्तकला केन्द्रित विधि पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी की क्रियात्मक विधि और प्रयोजनवादी की प्रोजेक्ट विधि के समान है। महात्मा गांधी के बाद रूसो भी बालकेन्द्रित शिक्षा पर बल देते थे। रूसो ने कहा है –

---

[1] रोबर्ट एहेनलीन – लाइफलाइन 2000 ए0डी0 पृष्ठ–32 साइंस डाइजेस्ट अक्टूबर 1992

"अपने विद्यार्थियों को मौखिक शिक्षा मत दो उन्हें मात्र अनुभव से सीखने दो।"[1]

महात्मा गांधी ज्ञान को करके, प्रयोग करके अनुसंधान करके, निरीक्षण करके अपनी विवेक शक्ति के विकास से अनुभव प्राप्त करने पर बल देते है। इस लिये स्वानुभव का समस्त प्राणियों के लिये आवश्यक मानते हैं शिक्षा स्वयं के विकास के अनुभव की एक प्रक्रिया है। विकास की प्रक्रिया में निरन्तर अनुभवों का पुर्नसंगठन, पुर्नरचना, एवं पुर्ननिर्माण होता रहता है।

शिक्षा के क्षेत्र में प्रचलित विशिष्ट शिक्षण विधियों के समान पं० दीनदयाल उपाध्याय जी ने किसी विशिष्ट शिक्षण विधि को जन्म नहीं दिया है, किन्तु उन्होंने शिक्षा प्रदान करने की कुछ निश्चित कार्य विधि बनायी है। भारतीय स्तर पर उपयोगी शिक्षण विधि को स्वीकार किया है। इसके लिये उन्होंने शिक्षण सिद्धान्तो जैसे रूचि को जागृत करने का सिद्धान्त, प्रेरणा का सिद्धान्त, क्रिया द्वारा सीखने का सिद्धान्त, जीवन से सम्बन्द्ध जोड़ने का सिद्धान्त तथा शिक्षण सूत्रों जैसे ज्ञात से अज्ञात की ओर स्थूल से सूक्ष्म की ओर और विशिष्ट से सामान्य की ओर, पूर्ण से अंश की ओर आदि को आधार बनाया है वे शिक्षण पद्धति को आत्म प्रेरित क्रिया के रूप में स्वीकारते है। शोधकर्त्री ने देखा है कि पं० दीनदयाल उपाध्याय जी ने जिन शिक्षण विधियों को स्वीकार किया है वे निम्नलिखित है –

1. आगमन व निगमन विधि -:

आगमन व निगमन विधि एक दूसरे के पूरक हैं। पं० दीनदयाल जी ने आगमन व निगमन विधि का प्रयोग किया है। आगमन में बालक विशेष ज्ञान से सामान्य ज्ञान की ओर, और निगमन में सामान्य ज्ञान से विशेष ज्ञान की ओर जाता है आगमन का अर्थ है आना । निगमन का अर्थ है जाना। पं० दीनदयाल उपाध्याय जी की शिक्षा का उद्देश्य बालक का पूर्ण विकास कर उसमे राष्ट्रीय चेतना को जागृत करना था।

---

[1] रूसो – "एमीलेटेन्ट लन्दन, – 1925" पृष्ठ – 56

2. मनोवैज्ञानिक शिक्षण विधि -:

परम्परागत शिक्षा प्रणाली को मनोविज्ञान से जोड़कर पुरातनता एवं अर्वाचीनता में सामन्जस्य स्थापित करना ही पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी की शिक्षा प्रणाली का मूल आधार है। पं0 दीनदयाल जी ने मनोविज्ञान के सिद्धान्त का गहनता के साथ अध्ययन किया था । इसलिये उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षण विधि में मनोवैज्ञानिक तथ्यों की झलक दिखाई देती है । पं0 दीनदयाल जी का बालकों को रचनात्मकता की ओर प्रवृत्त करना ही शिक्षा का मूल उद्देश्य मानते हैं । इस प्रकार रचनात्मकता को प्रोत्साहन देने वाले पं0 दीनदयाल जी पुस्तकीय ज्ञान को पूरा नहीं समझते थे । पं0 दीनदयाल जी भी महात्मा गांधी की भांति बुनियादी शिक्षण पद्धति को अपना कर ही राष्ट्र का कल्याण सम्भव था।

पं0 दीनदयाल जी के अनुसार माध्यमिक स्तर पर शारीरिक, प्राणिक मानसिक बौद्धिक एवं अध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण विकसित हो जो जीवन की चुनौतियों का सामना कर सके। ऐसी शिक्षा जनसाधारण के लिये सरल एवं सुलभ होनी चाहिये।

3. मातृ भाषा शिक्षण विधि -:

मातृ भाषा शिक्षण पर विशेष बल देते हुये उन्होने कहा है कि मातृ भाषा सीखने का सरलतम साधन है। जितनी सरलता और सहजता से हम मातृ भाषा के द्वारा सुनकर, पढ़ना, लिखना सीख सकते है उतना अन्य भाषाओं के द्वारा नहीं । अतः बालक के सर्वागीण विकास के लिये मातृभाषा का शिक्षण अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

4. क्रियात्मक शिक्षण विधि -:

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी भाषा शिक्षण की अध्यापन विधि को महत्व देते हुये क्रियाशीलता को मानव जीवन के उन्नयन के लिये महत्वपूर्ण मानते थे। कार्यों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आकर बालक सही ज्ञान प्राप्त कर सकता है क्योंकि स्वक्रिया एवं स्वानुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान स्थायी होता है। प्रत्येक क्षेत्र में इन्होंने स्वक्रिया द्वारा

सीखने पर बल दिया है। उनका विश्वास था कि क्रियात्मकता अथवा करके सीखने से आत्म विश्वास ही जागृत होता है।

5. वैज्ञानिक विधि -:

वैज्ञानिक विधि का प्रमुख उद्देश्य होता है – शिक्षण को प्रभावशाली बनाना जिससे कम से कम शक्ति व समय में अधिक से अधिक सिखाया जा सके। आजकल सभी इस बात से सहमत है कि शिक्षा बालक के लिये है न कि बालक शिक्षा के लिये। इस प्राकर बालक को वैज्ञानिक विधि के द्वारा अधिक से अधिक शिक्षा देने का प्रयास होना चाहिये। इसी दृष्टिकोण के अनुसार पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने अपनी शिक्षा के लिये 'वैज्ञानिक विधि' को प्रमुखता प्रदान की है।

X see p.222

6. स्वाध्याय एवं व्याख्यान विधि -:

वर्तमान समय में सर्वाधिक व्याख्यान विधि का प्रयोग किया जाता है। विशेषकर उच्च शिक्षा में धर्म,दर्शन, राजनीति अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और शिक्षाशास्त्र जैसे विषयों के अध्यापन में शिक्षक इसी विधि के द्वारा शिक्षण कार्य करते हैं।

पं0 दीनदयाल जी का अधिकांश चिन्तन तो उनके व्याख्यानों का ही संकलन है। उन्होंने अपने चिन्तन प्रसार के लिये सर्वाधिक व्याख्यान विधि का ही प्रयोग किया है।

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने व्याख्यान विधि को प्रमुख शिक्षण विधि के रूप में स्वीकार किया है।

7. दृश्य-श्रव्य साधनों का प्रयोग -:

प्राचीन काल में कथा, कीर्तन और नाटकों आदि के द्वारा समाज को संस्कारित करने का कार्य किया जाता था। वर्तमान समय में विज्ञान के विकास के साथ साथ शिक्षण विधियों विकसित स्वरूप हमारे सामने आया है। पत्र–पत्रिकाओं से लेकर रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन तक का प्रयोग शिक्षण कार्य के लिये किया जाने लगा है। एडीसन के शब्दों में –

See p. 224

"चलचित्र अनिवार्य रूप से शिक्षा का एकमात्र रचनात्मक साधन है"

दृश्य–श्रव्य साधनों को शिक्षण के सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार करते हुये पं0 दीनदयाल उपाध्याय ने कहा है –

"प्राचीन काल के कथा और कीर्तन तथा आज के रेडियो सिनेमा समाचार पत्र आदि सभी इस सीमा में आते है ।"

दोनो शिक्षाशास्त्री महात्मागांधी एवं पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी की शिक्षण विधि में पर्याप्त समानता पायी जाती है । महात्मा गांधी जी बुनियादी शिक्षण विधि और पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी की क्रियाशीलता करके सीखना स्वयं शिक्षा उपयोगिता स्वतन्त्रता तथा श्रम के आदर स्वाभाविक पर्यावरण में किया हुआ कार्य स्वालम्बन राष्ट्रीयता आदि की भावना के विकास पर बल दिया गया है ।

महात्मा गांधी तथा पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी दोनो ही क्रियाशीलन कार्म व श्रम को महत्व देते है। दोनो शिक्षाशास्त्री शिक्षण में क्रिया को महत्व प्रदान करते है । श्रम या क्रिया अनुभव का केन्द्र है। दोनों शिक्षाशास्त्री इस बात की आवश्यकता अनुभव करते हैं कि –

शिक्षण में उत्पादन एवं सृजनात्मक क्रियाओं की आवश्यकता है – उत्पादन एवं सृजनात्मक कार्यों की आवश्यकताओं का अनुभव अनेक शिक्षाशास्त्रियों ने जैसे रूसों पेस्टोलाजी फ्रोबेल, मान्टेसरी, जान डीवी, महात्मा गांधी पं0 दीनदयाल उपाध्याय मदनमोहन मालवीय जी आदि सभी ने किया है । सभी इस तथ्य से सहमत है कि कार्य करके सीखना, सर्वोत्तम शिक्षा ग्रहण करने की विधि है। इस प्रकार सृजनात्मक करने की विधि है। इस प्रकार सृजनात्मक उत्पादन क्रिया चाहे वह हस्तकला केन्द्रित हो चाहे कार्यानुभव केन्द्रित हो दोनों शिक्षा प्रणाली में आवश्यक है। दोनो शिक्षा शास्त्रियों ने इसकी आवश्यकता इसलिये भी मानी है क्योंकि

1. यह एक प्रभावी शिक्षण यंत्र है।

2. इसके द्वारा बौद्धिक तथा हस्तकार्य के मध्य अन्तर कम होता है।

3. विद्यार्थियों का प्रवेश कार्य संसार तथा अपने व्यावसाय में सरलता से प्रवेश करा देता है।

4. राष्ट्र के उत्पादन को बढ़ाता है । उत्पादन क्रियाओं में छात्रों की अर्न्तदृष्टि विकसित हो जाती है और मेहनत से कार्य करने का आभास होता है ।

5. यह राष्ट्रीय एवं सामाजिक सम्पन्नता एवं एकता का आधार है ।

बेसिक शिक्षा में बालक के सामाजिक पर्यावरण को महत्व देकर हस्तकला का चुनाव उस विद्यालय के भौतिक एवं सामाजिक पर्यावरण को ध्यान में रखकर ही किया जाता है ताकि छात्रों में क्रियाशीलता, आत्मनिर्भरता तथा सामाजिक गुणों से युक्त चरित्र विकास को शिक्षा मानते हैं। इसलिये महात्मा गांधी ने कहा है कि –

दोंनो शिक्षाशास्त्री सामाजिक गुणों से युक्त चरित्र विकास को शिक्षा मानते हैं । इसलिये महात्मा गांधी ने कहा है कि –

"मैने सबसे ऊंचा स्थान हृदय की संस्कृति या चरित्र निर्माण को दिया है ।"[1]

चरित्र सामाजिक विकास की धुरी है । इस प्रकार दोंनों शिक्षाशास्त्री की शिक्षा का चारित्रिक विकास समाजिक गुणों को अपने में शामिल किये हुये है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि दोनो सामाजिक गुणों से पूर्ण चारित्रिक विकास को ही शिक्षा कहते है। दोनों उपयोगी उत्पादन कार्य को महत्व देते है। गांधी जी कहते हैं कि –

"मैं बच्चों में प्रथमतः उपयोगी हस्तकला सिखाऊंगा ताकि जिस समय से वह शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ करे उसी समय उत्पादन करना कभी प्रारम्भ कर दे ।"[2]

---

[1] महात्मा गांधी – आत्म कथा पृष्ठ 408
[2] एजूकेशनल रिकंटक्शन

दोनों शिक्षाशास्त्री पारम्परिक पाठ्यक्रम की महत्व नहीं देते हैं। पुस्तकीय शिक्षा का विरोध करते हैं । दोंनो के विचार से परम्परिक पाठ्यक्रम द्वारा पुस्तकों पर बल देने से बालको को निष्क्रिय बनाने पर बल दिया जाता है। प्रचलित पाठ्यक्रम को निरर्थक मानते हुये गांधी जी ने लिखा है कि ऐसा पाठ्यक्रम –

"मृत यांत्रिक और विद्यालय में औपचारिक ज्ञान का साधन है ।"[1]

उन्होने आगे पुनः कहा है कि –

"शिक्षा की वर्तमान पद्धति द्वारा भारतीय समाज को शिक्षित करने के प्रयास से हम अपने को शिक्षित करने के प्रयास से हम अपने उचित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यह शिक्षा पद्धति पुस्तक प्रधान बौद्धिक व साहित्यक है यहां प्रयोगों के केवल रटाया जाता है। जीवन की वास्तविकता से दूर है । विषयों का मौखिक वर्णन है, व्यावहारिकता एवं सामाजिकता का आभाव है । विद्यार्थी निषक्रिय श्रोता है ।"

इस प्रकार हम देखते है कि पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी धर्म प्रधान शिक्षा को महात्मा गांधी की अपेक्षा सर्वाधिक महत्व देते है। जबकि महात्मा गांधी धर्म व नैतिकता के साथ कर्म प्रधान शिक्षा पर विशेष बल प्रदान करते हैं । हमने देखा है कि महात्मा गांधी जी भारतवर्ष में अपने परिवेश व सामाजिक विद्यालयी परिवेश के समान शिक्षा ग्रहण करने पर जोर देते है । जैसे चर्खा चलाना हाथ से बुनाई करना कताई करना आदि। इनका हाथ द्वारा निर्मित माल विदेशी सस्तेव उत्तम मशीन निर्मित माल के समक्ष प्रतिस्पर्धा करने में असमर्थ था। इसलिये पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने औद्योगिक विकास पर भी बल दिया। हमने यह अनुभव किया है कि इन दोंनों शिक्षाविदों ने हस्तकौशल एवं हस्तशिल्प को समान रूप से शिक्षा का आधार बनाया है क्योंकि इससे राष्ट्र में व्याप्त बेरोजगारी समाप्त करने में बल प्राप्त होगा। इसलिये दोंनो मनीषी जीविकोपार्जन की शिक्षा हेतु एवं बेकारी की समस्या के समाधान हेतु हस्तशिल्प व औद्योगिक शिक्षण पर बल देते हैं ।

---

[1] महात्मा गांधी "वर्धामारवाडी 23–23 अक्टूबर 1937 "हाईस्कूल में दिया गया भाषण"

इससे बालकों में आत्मविश्वास एवं स्वालम्बन की भावना का विकास सम्भव हो सकेगा।

महात्मा गांधी जी तथा पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचारों के अध्ययनोपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि दोनो शिक्षाविदों के विचारों में समता का होना स्पष्ट परिलक्षित होता है। साथ ही गांधी जी ने अपनी विस्तृत शिक्षा योजना द्वारा पूर्णता प्रदान करने का भरसक प्रयास किया है। अब हमें यह देखना है कि महात्मा गांधी जी तथा हमें यह देखना है कि महात्मा गांधी जी तथा पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक विचारों की भारतीय परिवेश में किस प्रकार संगति है।

<u>महात्मा गांधी एवं पं दीनदयाल उपाध्याय जी के विचारों की भारतीय शिक्षा में संगति -:</u>

महात्मा गांधी तथा पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी दोंनो शिक्षाविद भारतीय है अतः दोंनो ने ही भारत वर्ष के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक व नैतिक एवं जीवन के मूल्यों को ध्यान में रख कर ही अपने विचारों की अभिव्यक्ति की है। अब हमें यह प्रगट करने का प्रयास करना है कि इन द्वय शिक्षाशास्त्रियों के विचारों का भारतीय शिक्षा में किस सीमा तक संगति है ।

महात्मा गांधी तथा पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी दोंनों के दार्शनिक विचारों का भारत के तीन क्षेत्रों में विशेष संगति है, ये तीन क्षेत्र हैं – राजनैतिक स्वतन्त्रता एवं प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था जीवन मूल्यों का ढाँचा तथा शिक्षा । यदि तात्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो उपर्युक्त विशिष्ट क्षेत्र वस्तुतः हमारे भारतीय राष्ट्रीय जीवन से भिन्न नहीं है। बल्कि हमारे सामाजिक राजनैतिक नैतिक एवं आर्थिक ढांचे हेतु समवेत होकर हमारे लिये एक आधार का निर्माण करते है। राजनैतिक स्वतन्त्रता अथवा प्रजातंत्र मूल्य एवं शिक्षा पूर्णतः आपस में सम्बन्धित है । इसी संगति को प्रगट करने का हम यहां प्रयास करेंगे।

यद्यपि हम अलग–अलग शीर्षकों में इस विचार की अभिव्यक्ति कर रहे है, किन्तु एक दूसरे से अलग नहीं है, बल्कि मौलिक रूप से आपस में संगठित हैं ।

भारतीय जनतंत्र की प्राप्ति एक निरन्तर संघर्ष की देन है तथा भारत में जनतंत्र का भविष्य हमारी घनिष्ठ निष्ठा पर निर्भर है इस व्यवस्था हेतु दोनों के विचार की भारतीय परिवेश में संगति है।

वस्तुतः हम जानते है कि भारतवर्ष में लोकतंत्र मानव के लम्बे एवं बहुमूल्य संघर्ष की उपज है। हमें अपने देश में जनतंत्र के लिये तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये बहुत कीमत चुकानी पड़ी है । इतना होने पर भी लोकतंत्र की सम्यक अनुभूति से हम बहुत दूर है क्यों कि जनतांत्रिक जीवन समान उत्तरदायित्व तथा जनता द्वारा जनता के लिये, जनता के मौलिक सिद्धान्तो के लिये प्रत्येक नागरिक से एक मौलिक नैतिकता की अपेक्षा करती है क्योंकि जनतंत्र मात्र एक शासकीय व्यवस्था एवं प्रबन्धतंत्र ही नहीं है बल्कि यह राजनितिक एवं सामाजिक जीवन की निश्चित व्यवस्था एवं जीवन का जनतांत्रिक तरीका तथा सम्बन्धित जीवन की एक स्पष्ट विधि है। जनतंत्र का भविष्य हमारी निष्ठा तथा उसे सुरक्षित रखने के लिये हमारी तैयारी पर निर्भर है । जनतंत्र उस प्रभावी विधि के प्रयोग पर निर्भर करता है जिसके सम्बन्ध में हम शिक्षा के कार्य के अर्न्तगत एक जनतांत्रिक व्यवस्था के सन्दर्भ में विचार करते हैं। वस्तुतः हम उन दोनों के विचारों से यह शिक्षा ग्रहण करते है कि जनतांत्रिक दृष्टिकोण व्यवहार एवं मूल्य बालक में पहले से स्वतः निहित है । वह जनतांत्रिक व्यवहारों को सीख कर ही अर्जित करता है। चाइल्ड महोदय इस सम्बन्ध मे लिखते हैं कि –

"जीवन का जनतांत्रिक तरीका स्वयं में तभी पुनर्नव हो सकता है जब प्रत्येक वंशानुगत बालक अपने जीवन में जनतंत्र के सिद्धान्तों तकनीकियों, अनुशासन, श्रद्धा भक्ति तथा उत्तरादायित्व को अर्जित करें।[1]"

कभी–कभी हमारे देश में नैतिकता के सम्बन्ध में भ्रामक एवं गलत मार्ग पर ले जाने वाले व्याख्यान दिये जाते है। इन व्याख्यानों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिष्ठा व इज्जत करने पर ही जनतांत्रिक जीवन की स्वतन्त्रता आधारित है। वास्तव में हम उस समय जनतांत्रिक जीवन की नैतिकता पर आघात करते है जब

---

[1] जानइन चाइल्डस – एजूकेशन एण्ड मारेल्स पृष्ठ 13–14

हम हमने बच्चों को प्रश्रय देते हैं । सहनशीलता जनतांत्रिक समाज का एक महान गुण है। नैतिकता के नाम पर सहनशीलता के विचार वैषम्यता ने हमारे देश में एक विप्लव की परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। हमें सदैव यह ध्यान में रखना चाहिये कि सहनशीलता ही हमारे जनतांत्रिक जीवन की विधि का वास्तविक गुण है । इसलिये शिक्षकों को जनतांत्रिक समाज में शिक्षा के प्रति अधिक बुद्धि सम्पन्नता से कार्य करना चाहिये । अतः अध्यापकों का कर्तव्य है कि मानव के दृष्टिकोण को जनतांत्रिक बनाने हेतु प्रयोगों के लिये बुद्धिमतापूर्वक अपने उत्तरदायित्व को वहन करें क्योंकि मानव के ये ही दृष्टिकोण व अभ्यास स्वतंत्र जीवन तथा सहनशीलता को सम्भव बनाते शिक्षा के गुणों पर जनतांत्रिक समाज आधारित है। बच्चों को वही प्रदान करना है। भारत में इस तथ्य को नजर अन्दाज नहीं किया गया है । बल्कि अपनी जनतांत्रिक आधार शिला को मजबूत बनाये रखने के लिये शिक्षा को एक विनयोग (एजूकेशन ऐज ऐनइनवेस्टमेन्ट) के रूप में बनाने का प्रयत्न किया गया है । विकास का तात्पर्य मनचाही क्रियाशीलता नहीं है, बल्कि उस क्रियाशीलन से है जो जीवन के अर्थ की सम्पन्नता और समाज की पूर्णता को विकसित करती है।

समाज के अवधारणा की अनुभूति हमें तब तक नहीं हो सकती जब तक उसमें सम्मिलित नहीं होते -:

वस्तुतः यह एक संगतपूर्ण व अर्थपूर्ण विचार है, इस विचार का सर्वकालिक महत्व है। अब हम स्वनिरीक्षण करें और सोचें कि जैसा समाज हम चाहते है क्या वैसा समाज निर्माण करने में हम समर्थ है? तो हमारा उत्तर सकारात्मक होगा, क्योंकि जिस प्रकार के समाज को हम चाहते है वह जनतांत्रिक एवं समाजवादी सिद्धान्तों का होगा। ऐसा समाज आज की परिस्थिति में एक सत्य तथ्य है ऐसे ही समाज की रचना को हमने अपने संविधान में महत्व दिया है परन्तु इस समाज की अनुभूति तब तक न होगी जब तक हम समाज की गतिविधियों में सक्रिय रूप से सम्मिलित नहीं होते है। अपनी उदासीनता तथा अमतैक्यता के कारण जैसा समाज हम चाहते है वैसा निर्मित नहीं कर पा रहे हैं । वास्तव में हम अपनी सामाजिक

प्रगति के कार्य मे जिस बड़ी कठिनाई का अनुभव कर रहे है वह उदासीनता जड़ता तथा अनुभव शून्यता ही है । सैकडो वर्षों तक मानव ने अपने जीवन को जीवन के निम्न स्तर के लिये समर्पित कर दिया था, उन्हे आसानी से क्रिया करने के लिये प्रेरित नहीं किया जा सकता है। कई पीढियों तक लोग गन्दी बस्तियों, अस्वस्थ वातावरण तथा अज्ञानता में रहने के अभ्यस्त हो चुके थे, उन्हें यह विश्वास दिलाया गया था कि उनकी वर्तमान दयनीय स्थिति का कारण उनका अतीत कर्म है उन्हें जीवन चक्र से होकर अवश्य गुजरना होगा। यह उनके पूर्व जन्म के कर्मों द्वारा पहले से ही निश्चित हो गया है। इन समस्त तथ्यों को वे अपने जीवन के अस्तित्व का एक भाग मान चुके थे।

चरित्रवान व्यक्ति के नैतिक गुणों के दबाब से सामाजिक परिवर्तन की उपलब्धि होती है -:

इसका तात्पर्य है कि सामाजिक पुनरूद्धार व विकास के लिये दीर्घ कालीन कठिन संघर्ष की शुरूआत करनी पड़ेगी । इस संघर्ष के लिये बुद्धिमान मानव की समग्र इच्छा शक्ति तथा उसके चेतन मस्तिष्क को कार्य करने में संलग्न होना पड़ेगा। महात्मा गांधी तथा पं० दीनदयाल जी के विचार से सामाजिक परिवर्तन यांत्रिक रूप में नहीं होता अपितु इसकी उपलब्धि चरित्रवान एवं दूर दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के निरन्तर दबाब से होती है। हमें नये नये उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये प्रयास करना चाहिये ऐसा करने के लिये हमें अपनी इच्छाशक्ति को निरन्तर अभ्यस्त बनाना पड़ेगा। एक गतिशील समाज में उचित विचार शैली को अपनी साधनवादी भूमिका का निर्वाह करना पड़ेगा । अतः इस हेतु हमें प्रयोजनवादी दृष्टिकोण अपनाना ही होगा। एक अच्छे समाज के निर्माण के लिये एक वैज्ञानिक प्रवृत्ति की आवश्यकता होती है, जो व्यक्ति समाज प्रगति का इच्छुक है उसमें उदासीनता, स्थिरता और अमतैक्यता को कोई स्थान नहीं होना चाहिये।

भारतीय युवकों को इस जनतंत्रात्मक ललकार (चैलेन्ज) को विधेयात्मक ढंग से स्वीकार करना चाहिये -:

वर्तमान काल में हमारे देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि प्रचलित परिस्थितियों, सार्वजनिक तथा स्वयं के व्यक्तिगत जीवन के ये नवयुवक आलोचक

बने हुये है, परन्तु इस सम्बन्ध में वे नकारात्मक व सकारात्मक दोनो दृष्टिकोण अपनाये हुये है। उन्हें चतुर्दिक स्वार्थ व लोभ ही दिखाई दे रहा है परन्तु उसमें विरले ही इस बुराई को दूर करने के लिये इसका मुकाबला करने हेतु आगे आते है। उनके मन में यह धारणा होती है कि इन समस्त समस्याओं का हल राजनैतिक नेताओं के हाथ में है तथा कभी–कभी ऐसा भी सोचते है कि इसका हल सम्भव ही नहीं है। यदि स्पष्ट रूप से इस विचार की समालोचना की जाय तो यही कहा जा सकता है कि यह प्रवृत्ति मनुष्य द्रोही प्रवृत्ति है । उनके मस्तिष्क की यही स्थिति उन्हें तनाव की ओर ले जाती है भारतीय युवक इस प्रकार के तनाव व मनुष्य द्रोही प्रवृत्ति से तभी छुटकारा पा सकते है जब वे तथा उनका भारत देश शेष सांसारिक व्यक्तियों को दृष्टि में रखकर उन्हें सम्मिलित करते हुये प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़े।

दोनों विचारक बिना परिश्रम के वास्तविक प्रगति असम्भव मानते है -:

यही वह समय है जब कि भारतीय युवकों को श्रम के महत्व का अनुभव कराना चाहिये । जान डी.बी. ने इस सम्बन्ध में लिखा है –

"केवल निश्चित एवं कठिन परिश्रम से तथा हमारी क्रियाशीलता को नया निर्देशन देने से ही सच्ची प्रगति सम्भव है।[1]"

ऐसे ही विचार महात्मा गांधी जी तथा पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के भी हैं जो हमें अच्छे समाज के लिये प्रयत्न करने की प्रेरणा देते हैं । यदि हम ऐसा करते है तो जिस समाज का स्वप्न देख रहे हैं वह हमारी पहुँच से बाहर न होगा। मानव की रचनात्मक क्रियाशीलता को जो उचित निर्देशन व अवसर के आभाव के कारण दुर्भाग्य से कुंठित हो गयी है, क्रियान्वित करके लाभप्रद उत्पादन शील कार्यों में बदला जा सकता है। प्रजातंत्र में अच्छे समाज की रचना के विषय में विचार करने का यह तात्पर्य नहीं होना चाहिये कि हम व्यक्ति विशेष नागरिक के प्रति अपनी कृतज्ञता को भूल जायें। शिक्षा को प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के कार्य को अपने हाथ में लेना चाहिये। परन्तु वे इस बात की चेतावनी

---

[1] जानडीवी – "डिमोक्रेसी एण्ड मजूकेशन" पृष्ठ 59

भी देते है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास अन्य सदस्यों के विकास में सहयोगी भाव को ध्यान में रखकर किया जाये। विज्ञान व तकनीकी के विकास के कारण हमारा समाज शनैः शनैः औद्योगीकरण के युग में प्रवेश कर रहा है इसके प्रभाव की अनुभूति हम पहले से ही कर रहे हैं । आज हमारे समाज के प्रेरक तत्व भौतिक मूल्य, व्यक्ति लाभ व स्थार्थ, गलाघोंट प्रतिस्पर्धा तथा शीघ्र धनाढ्य होने की लालसा आदि बन गये हैं।

शिक्षा के हमारे सीमित दृष्टिकोण -:

इस प्रकार के जंगली समाज में यह आश्चर्य की बात नहीं होगी कि यदि शिक्षा को हमारे देश में साक्षरता के रूप में जाना जाय और एक ऐसे साधन के रूप में जिससे हम अपने जीवन का प्रबन्ध कर सके तथा धन कमा सके। परिणामस्वरूप ऐसी शिक्षा का लक्ष्य केवल सूचना देना है। ऐसा वस्तुतः हम अपने खतरे के लिये ही कर रहे हैं। ऐसी शिक्षा हमारे समाज को कहीं का न रख छोड़ेगी, क्योंकि –

"जो शिक्षा मनुष्य के अपर्याप्त ज्ञान से प्राप्त होती है वह सोचती है कि उसने संतोषजनक आधार प्रदान किया है इसने विभिन्न विषयों की चुनी हुयी सूचनायें विस्तार से विद्यार्थियों को प्रदान कर दीं हैं जो तत्कालीन समाज व मानव संस्कृति के सर्वोत्तम भाग है। विद्यालय विषय वस्तु रूपी पदार्थ विद्यार्थियों को प्रदान करता है वे उसे प्रयोग करते है। यही इस विद्यालय का फार्मूला है परन्तु त्रुटि तो मौलिक ही है। सूचनायें वृद्धि का आधार नहीं हो सकती हैं। यह तो उस पदार्थ का वह एक भाग होता है जिससे अध्येता ज्ञान के प्रारम्भिक बिन्दु का नयी खोज के केन्द्र का और विस्तृत नवनिर्माण की रचना करता है। वह शिक्षा जो अपने ज्ञान को प्रदान करने तक सीमित रखती है वह शिक्षा नहीं है।[1]"

भारत के सांस्कृतिक गौरव एवं सामाजिक व्यवस्था के मूल "शिक्षा" के सम्बन्ध में महान शिक्षाविद् एवं युग पुरूष महात्मा गांधी जी की शैक्षिक विचारधारा का सांगोपांग विवेचन शोधकर्त्री ने निम्न प्रकार किया है :–

---

[1] अरविन्दो – द ब्रेन आफ इण्डिया, पाण्डचेरी श्री अरविन्दो आश्रम पंचम संस्करण पृष्ठ 9–15

महात्मा गांधी -:

कुछ मानवों को ऐतिहासिक घटनायें बनाती है। जबकि कुछ लोग इतिहास का स्वयं निर्माण करते हैं। महात्मा गांधी ऐसे महापुरूष थे जिन्होंने अपने मस्तिष्क, मन व ह्रदय की विशेषताओं गुणों तथा महान कर्मों से अपना स्वयं का मार्ग प्रशस्त किया था। इसलिये महात्मा गांधी जी ने स्वयं एक इतिहास का निर्माण कर द्वितीय वर्ग के मानवों में अपनी गणना करने में अपने प्रभावी नेतृत्व से नवीन भारत का निर्माण किया था और एक अर्न्तराष्ट्रीय ख्याति के विचारक के रूप में सम्पूर्ण विश्व प्रभावित किया था।

इस प्रकार विश्व मे अनेक बुद्धि सम्पन्न मानवों ने वैसे तो जन्म लिया किन्तु कोमल ह्रदयी मानव का प्रायः आभाव ही पाया जाता है। इसी विशेषता में महात्मा गांधी की महानता का सार निहित है। गांधी जी का प्रादुर्भाव ऐसी परिस्थिति में हुआ था जबकि नैतिक मूल्य तथा रमानव की प्रतिष्ठा का अवमूल्यन हो रहा था। नैतिकता संकटापन्न हो गयी थी। ऐसी विषम परिस्थिति में महात्मा गांधी जी ने नये मूल्यों को व्यवस्थापित करने की आवश्यकता का अनुभव कर सम्पूर्ण मानवता को जाग्रत करने का संकल्प ले लिया क्योंकि उन्होंने अनुभव कर लिया था कि मानव को इस विकट स्थिति से बाहर निकालने का कार्य केवल नये मूल्य ही कर सकेंगे इसलिये वह अकेले ही समाज में व्याप्त समस्त बुराईयों की सामुहिक शक्ति से संघर्ष करते रहे है। विरोध, धमकी, गलत प्रदर्शन तथा कलंक की परवाह किये सत्य, अहिंसा व प्रेम का दृढता से अवलम्बन लिये हुये भारतीय राष्ट्र को शान्ति व सुरक्षा प्रदान की तथा अपनी स्वयं की त्रुटियों को पवित्रता एवं प्रेम की ओर मोड़ने में सफल हुये। अपने मुख पर प्रेम की प्रतिछाया को धारण किये हुये मानव सेवा में अपना बलिदान कर दिया। विश्व ऐसे महान देश भक्त विचारक व दार्शनिक को कभी भी अपनी स्मृति से न हटा सकेगा।

किसी महान शिक्षक के संदेश को केवल वे ही व्यक्ति सुनने व समझने में समर्थ हो सकते है जो इसे ग्रहण करने के लिये उद्यत हो, क्यों कि सुन्दरता दृष्टा के नेत्रों में होती है। यह बात महात्मा गांधी की शिक्षाओं के सम्बन्ध में नितान्त

सत्य है। महात्मा गांधी इस प्रकार महान व्यक्तित्व वाले प्राणी थे जिन्हे खोजने में सौ वर्ष लगेगें और समझने में दूसरा सौ वर्ष लगेगा तथा उनकी शिक्षाओं को व्यवहार में लाने के लिये और अन्य सौ वर्ष लगेंगे। अतः उन्हें पूर्ण रूप से जानने के लिये सतत् अन्वेषण समझ एवं निरन्तर प्रत्यनशील रहने की आवश्यकता है।

विश्व में गांधी जी के स्थान के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना हमारे लिये तो प्रायः असम्भव ही है, परन्तु महात्मा गांधी जी को महान पथ प्रदर्शकों, शिक्षको, मनुष्य मात्र के परोपकारियों में एक महान पथप्रदर्शक, शिक्षक तथा महान परोपकारी मनुष्य के रूप में आने वाले कालों में समझा जाता रहेगा। ये पीढ़ी दर पीढ़ी आदृत होते रहेंगे। कुछ आलोचकों की मान्यता है कि महात्मा गांधी ने पूर्ववर्ती शिक्षा दार्शनिकों से अलग–अलग बिखरे हुये पुष्प रूपी विचारों को मधुमक्खी की भांति ग्रहण कर तथा उन्हें संगठित कर एक नया दर्शन प्रस्तुत किया है। जिसे अतीत के प्रभावों का परिणाम कहा जा सकता है। महात्मा गांधी जी के प्रशंसकों की मान्यता है कि उन्होंने एक बिल्कुल नये दर्शन का विकास किया है किन्तु ऐसा स्वीकार करना मात्र धृष्टता और अंह को प्रगट करना होगा, क्योंकि कोई भी विचारक अपने से पूर्व चिन्तको से बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं हो सकता, क्योंकि मौलिक रचना समकालीन तथा पूर्व विचारकों के चिन्तन से प्रभावित होकर आगे बढ़ती है। यदि इस तथ्य को स्वीकार कर लिया जाय तो कोई भी कला या साहित्यक कृति मौलिक नहीं मानी जा सकती है। हम जानते हैं कि प्रत्येक विचारक अपने पूर्वजों के विचारों की अनुकृति करके ही आगे बढ़ता है इसलिये पर्सीनन ने कहा है कि –

"अत्यधिक मौलिक मस्तिष्क भी आरम्भ में बन्दर की भांति नकल करता है जो उसी मार्ग पर पहले चल चुके है।[1]"

हम जानते है कि 'वेगनर' ने अपने से पूर्व ओपेरा की नकल की थी और तत्पश्चात अपने स्वयं के मौलिक 'ओपेरा' का विकास किया। "ऐन्स्टीन" ने "न्यूटन" के सिद्धान्तो को लेकर आगे प्रगति की। कालिदास और शैक्सपियर की प्रारम्भिक रचनायें समकालीन एवं पूर्ववर्ती साहित्यकारों के विचारों से प्रभावित रहीं

[1] नन – एजूकेशनल इटस डाटा एण्ड फर्स्ट प्रिन्सिपुल्स, पृष्ठ 4

है। इस प्रकार हम देखते है कि वास्तव में प्रत्येक मौलिक विचारक अपने से पूर्व के चिन्तकों, दार्शनिकों एवं शिक्षाविदों के विचारों का अवश्य ऋणी होता है और उसी के आधार पर अपना चिन्तन आगे बढ़ाता है इस प्रकार पूर्वजों की अनुकृति किसी विचारक की मौलिकता को जाग्रत करने की प्रेरणा देती है। ये विचार उत्तेजनायें है जिससे प्रतिक्रिया करके विचारक अपनी मौलिकता को व्यवहार परक बनाता है। हमने देखा है कि महात्मा गांधी के अधिकांश विचार अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के विचारों से मेल रखते है किन्तु यह भी सत्य है कि महात्मा गांधी ने उनके विचारों का अध्ययन नहीं किया था। यदि वे रूसो, पेस्टोलॉजी, फ्रोबेल, हरबार्ट रॉबिन तथा जान डीवी आदि चिन्तकों के साहित्य का अध्ययन किये होते तो टॉलस्टाय व रस्किन की कृतियों के अध्ययन की भांति अवश्य स्वीकार करते, क्योंकि एक सत्यान्वेषी से असत्य भाषण की आशा नहीं की जा सकती है। यह तो महात्मा गांधी की विलक्षणता ही कही जायेगी कि उनके शैक्षिक विचार उनके निजी प्रयोग व अनुभव पर आधारित होते हुये भी महान शिक्षा दर्शनशास्त्री 'कमेनियस से मान्टेसरी' तक से साम्यता रखते हैं। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि महात्मा गांधी की शिक्षा इस रूप में मौलिक है कि वह उनके निजी प्रयोग अनुभव, सम्पर्क पर आधारित है, न कि दूसरों के अनुभवों व प्रयोगो की अनुकृति पर। ऐसा नहीं है कि उनके पूर्व किसी दार्शनिक ने ऐसा विचार न प्रस्तुत किया हो किन्तु गांधी जी के विचारों की प्रस्तुति अन्य की अपेक्षा विलक्षण है। समस्त राष्ट्र द्वारा उनकी शिक्षा पद्धति को स्वीकार करना उनके विचारों की मौलिकता का प्रमाण है। इसीलिये आचार्य विनोवाभावे ने लिखा है कि :–

"वह एक नई चीज न हो, लेकिन उसका प्रस्तुतीकरण नई रोशनी में किया गया है।[1]" वे पुनः कहते हैं कि –

"पश्चिमी लोंगो ने शारीरिक प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम का एक भाग नहीं माना क्योंकि वे सब शोषण करने वाले राष्ट्र थे और उनका शारीरिक प्रशिक्षण उन्हे शोषण से स्वतन्त्र नहीं करता।[1]"

---

[1] एजूकेशनल रिकंस्टक्शन पृष्ठ – 75

महात्मा गांधी की स्वयं युक्ति है कि –

"मैं नहीं जानता हूँ कि मध्य युग या किसी युग में हस्तकला द्वारा सम्पूर्ण मानव के विकास का उद्देश्य रहा हो।[2]"

महात्मा गांधी जी के विषय में अध्ययन करके हमने यह देखा है कि वे अपने शिक्षा दर्शन के परिणामों पर स्वतन्त्र रूप से पहुंचे थे। शिक्षा द्वारा बालक के सर्वांगीण विकास के आदर्श को समक्ष रखकर गांधी जी ने "फिनिक्स बस्ती", "टॉलस्टाय फार्म", "साबरमती आश्रम" तथा "सेवा ग्राम" आश्रमों में अपने अनेक शैक्षिक प्रयोग किये थे, और अनुभव किया था कि शरीर श्रम शिक्षा का वह केन्द्रवर्ती साधन है जिसके माध्यम से हाथ की संस्कृति, मन की संस्कृति तथा हृदय की संस्कृति का विकास किया जा सकता है, और यह भी अनुभव किया था कि इन संस्कृतियों को अलग–अलग करके नहीं बल्कि साथ–साथ विकसित किया जायेगा। हम जानते है कि यह एक मनोवैज्ञानिक यथार्थ है कि हाथ के द्वारा कार्य प्रारम्भ करने से मन व हृदय तथा हाथ तीनों में संतुलन एवं सामन्जस्य स्वमेव उत्पन्न हो जाता है। क्यों कि सामन्जस्य के आभाव में कार्य की पूर्णता और प्रक्रिया दोनो संदिग्ध हो जाती है। अतः विकास में समवाद स्वयं अपेक्षित हो जाता है। महात्मा गांधी जी का कथन है कि –

"टॉलस्टाय फार्म में जिन लड़के लड़कियों की शिक्षा देने का उत्तरादायित्व मेरे ऊपर था, उनके सम्पूर्ण विकास में कोई कठिनाई नहीं हुयी। व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था मुख्य रूप से आठ घन्टे की थी। इन्हें अधिक से अधिक दो घन्टे पुस्तकीय ज्ञान दिया जाता था, उन्हे जो व्यवसाय सिखाये जाते थे वे जमीन खोदना, खाना बनाना, सफाई करना, चप्पल बनाना, बढ़ईगीरी तथा संदेशवाहक के कार्य थे।[3]"

---

[1] एजूकेशनल रिकंस्टक्शन पृष्ठ – 76

[2] "हरिजन" – 16–10–1937

[3] हरिजन 18.09.1937

इस प्रकार हम जानते हैं कि महात्मा गांधी ने अपनी शैक्षिक विधि स्वतन्त्र रूप से विकसित की है इस प्रकार उनके शिक्षण विधि में तत्कालीन शैक्षिक प्रक्रिया में बालक की रूचि व क्रियाशीलता पर आधारित अनेक प्रयोग किये थे तथा अनेक विधियों का प्रादुर्भाव हो चुका था। इसलिये गांधी जी कोई अन्य शिक्षण पद्धति न प्रस्तुत कर केवल हस्तकला शिक्षण पद्धति विकसित की है। यह भी उनकी मौलिकता ही है वे व्यंग करते हुये कहते हैं कि –

"इतनी संख्या में शिक्षण पद्धतियों का अनेक देशों में सफलता के साथ प्रयोग होने पर एक और सनक की क्या आवश्यकता है। समाज के समक्ष जो समस्यायें है हमे उनका सामना व समाधान करना चाहिये।[1]"

हम देखते हैं कि किसी की भी शिक्षा योजना अहिंसा पर आधारित नहीं है यह विचार मौलिक है क्योंकि उनकी शिक्षा योजना का लक्ष्य मन व आत्मा का विकास करना है। आत्म ज्ञान हेतु अहिंसा अनिवार्य है। काका कालेकर ने लिखा है कि – "सच्ची शिक्षा अहिंसा के द्वारा दी जानी चाहिये और गांधी जी की शैक्षिक योजना का यही मुख्य विचार है।[2]"

डा0 जाकिर हुसैन ने तो पहले यह कहा है कि –

"जो लोग शिक्षा के क्षेत्र में कार्य कर रहे वे गांधी जी की योजना में कोई नई बात नहीं पायेंगे।"[3]

परन्तु अपने कथन को सत्यता की कसौटी पर खरा न देखकर उन्हे अपने कथन में परिवर्तन कर यह स्वीकार करना पड़ा कि –

"गांधी जी ने जिस तरीके से अपनी योजना रखी है वास्तव में वह मौलिक है।[4]"

शिक्षा के सामाजिक पक्ष पर अनेक दार्शनिकों द्वारा विचार व्यक्त किया गया है। और शिक्षा को सामाजिक प्रक्रिया माना गया है किन्तु महात्मा गांधी की शिक्षा का लक्ष्य बालक को केवल सामाजिक ही नहीं बनाना है, बल्कि अहिंसक सामाजिक प्राणी बनाना है। इसलिये अहिंसक समाज के निर्माण के अनुरूप ही

---

1 हरिजन – 03.10.1937
2 एजूकेशनल रिकंस्टक्शन, पृष्ठ–86
3 एजूकेशनल रिकंस्टक्शन पृष्ठ–66
4 एजूकेशनल रिकंस्टक्शन पृष्ठ–95

अपनी शिक्षा प्रक्रिया को नई दिशा प्रदान की है। हमने देखा है कि अन्य विचारक बातों में ही उलझे रहे, किन्तु महात्मा गांधी जी समस्या की जड़ तक पहुंचे थे, क्योंकि इनका शिक्षा दर्शन पुस्तकों के अध्ययन से विकसित नहीं हुआ है बल्कि आम जनता के पेशों, क्रिया कलापों व सुख–दुख में घुल मिलकर तथा प्रयोग जन्य अनुभव से विकसित हुआ है। इसलिये वे कहते है कि –

"मेरी योजना बिल्कुल भिन्न योजना है क्योंकि यह ग्रामीण योजना है।[1]"

महात्मा गांधी जी शिक्षा की जड़ तक देश की समग्र समस्याओं की जानकारी के पश्चात ही पहुंचे थे, इसलिये यह भारतीय परिवेश के सर्वथा उपयुक्त है।

गांधी जी की शिक्षा योजना का लक्ष्य उपयोगी व उत्पादन हस्तकला की शिक्षा देना है जो बालक के विद्यालयी पर्यावरण व परिस्थितियों के अनुसार चयनित होगी। अनुपयोगी व अनुत्पादक हस्तकला का कोई स्थान नहीं है इस प्रकार का विचार सम्भवतः महात्मा गांधी जी से पूर्ण किसी भी शिक्षा शास्त्री ने प्रतिपादित नहीं किया है।

गांधी की शिक्षा योजना की मौलिकता इनकी नवीनता में है क्योंकि भारत के लिये तो यह योजना बिल्कुल नवीन है। इनका प्रयोग सार्वभौमिक है। हिन्दु, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी सभी के लिये समान रूप से उपयोगी है। गांधी जी के अनुसार –

"सच्ची शिक्षा भौतिक शक्ति की प्राप्ति के लिये नहीं होनी चाहिये इसे आध्यात्मिक शक्ति के प्रतिफल के रूप में प्रगट होना चाहिये।[2]"

हमने देखा है कि क्रिया, श्रम तथा कर्म की शिक्षा देने की बात तो प्रायः सभी शिक्षाशास्त्री करते हैं, परन्तु किसी हस्तकला द्वारा समस्त विषयों की शिक्षा देना तथा मानव का विकास करना कोई नहीं कहता हैं । यह तो महात्मा गांधी जी ही प्रथम शिक्षाशास्त्री है जिन्होंने विस्तार से इस सम्बन्ध में अपने मौलिक विचार रखे हैं। इसीलिये वे कहते हैं कि –

---

[1] एजूकेशनल रिकंस्टक्शन पृष्ठ 73

[2] द टीचर्स वर्ल्ड – 04.02.1949

"किसी हस्तकला द्वारा सम्पूर्ण मानव का विकास करना हमारी शिक्षा का लक्ष्य है।[1]"

वे पुनः कहते हैं –

"हस्त कलायें केवल उत्पादन के लिये ही न सिखाई जायें बल्कि विद्यार्थियों के मानसिक विकास के लिये सिखाई जायें।[2]"

महात्मा गांधी जी चाहते हैं कि –

"मैं हस्तकला द्वारा सभी विषयों जैसे इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान, भाषा, चित्रकला एवं संगीत को एक निश्चित योजना के अनुसार सिखाना चाहता हूँ।[3]"

शरीर श्रम द्वारा शिक्षा देने के मौलिक विचार के सम्बन्ध में आचार्य कृपलानी कहते हैं–

"गांधी जी शारीरिक श्रम अथवा किसी हस्तकला द्वारा शिक्षा देना चाहते हैं। उनका यह विचार मौलिक है। वे स्वतन्त्र रूप से इस विचार तक पहुंचे थे।[4]"

महात्मा गांधी की शिक्षा योजना की मौलिकता इस तथ्य में है कि बालक आत्म निर्भरता, स्वालंम्बन, साधन सम्पन्नता संसारिकता तथा आध्यात्मिकता की सम्यक जानकारी वैज्ञानिक विधि अर्थात प्रक्रिया के "क्यों और कैसे" को समझता हुआ प्राप्त करता है। महात्मा गांधी की शैक्षिक विधि प्रारम्भ में बीजवत थी किन्तु कालान्तर में इसका पूर्ण विकास हो गया था। इस तथ्य की पुष्टि महात्मा गांधी ने स्वयं की है।

"अब यह प्रयोग अधिक समृद्धिशाली हो गया है।[5]"

प्रारम्भ में महात्मा गांधी ने भी व्यावसायिक शिक्षा को शिक्षा का सहयोगी बनाया था, किन्तु बाद में उन्होंने –

---

[1] हरिजन – 16.10.1937
[2] हरिजन – 11.09.1937
[3] एजूकेशनल रिकंस्टक्शन – पृष्ठ 73–74
[4] द लेटेस्ट पैड – पृष्ठ 21
[5] "हरिजन" – 18.09.1937

"सम्पूर्ण शिक्षा को हस्तकला और उसके विकास पर आधारित कर दिया था।[1]"

इस प्रकार हम देखते है कि प्रारम्भिक स्तर पर हस्तकला के सम्बन्ध में महात्मा गांधी जी के विचार अन्य शिक्षाशास्त्रियों से भिन्न नहीं है किन्तु बाद में उसका स्वरूप अन्य से भिन्न हो गया। यही हस्तकला की शिक्षा के सम्बन्ध में गांधी जी की मौलिकता है।

अन्य दार्शनिकों ने शारीरिक विकास की साहित्यक शिक्षा का पूरक माना है, किन्तु महात्मा गांधी ने शारीरिक शिक्षा को साहित्यिक व बौद्धिक प्रशिक्षण का माध्यम माना है। यही महात्मा गांधी जी की नवीनता व मौलिकता है। महात्मा गांधी जी एक युग पुरूष, युग दृष्टा एवं व्यावहारिक शिक्षाशास्त्री है। वे शिक्षा को सामाजिक, राजनैतिक क्षेत्र में सुधार का शक्तिशाली आधार तथा साधन मानते हैं। अपनी शिक्षा पद्धति के प्रति उनकी धारणा थी कि यह –

"साक्षात शान्त सामाजिक क्रान्ति की अग्रदूत होगी और इसके अत्यन्त दूरगामी परिणाम होंगे।[2]"

इस प्रकार यह प्रगट होता जाता है कि महात्मा गांधी मौलिक विचार सम्पन्न उच्चकोटि के शिक्षाशास्त्री हैं। इस युग प्रर्वतक महान व्यक्ति ने अपने ज्ञान चिन्तन, पर्यवेक्षण मानव एवं प्रयोगीय अनुभव से शिक्षा के क्षेत्र में सर्वोदय समाज एवं जनकल्याण की कल्पना से परिरक्षित नवीन शिक्षा योजना प्रस्तुत की है। यह शिक्षा पद्धति जिसे हम बेसिक शिक्षा कहते है वह उनकी मौलिक सूझ है। एम.एस. पटेल ने कहा है कि –

"महात्मा गांधी जी को उन महान शिक्षकों एवं धर्मोपदेशकों की गौरव मंडली में अनोखा स्थान प्राप्त है, जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में नई ज्योति प्रदान की है।"

ग्रीन के अनुसार पेस्टॉलाजी पाश्चात्य आधुनिक शिक्षा सिद्धान्त और व्यवहार के प्रारम्भिक बिन्दु है, किन्तु एम.एस. पटेल के अनुसार –

---

[1] "हरिजन" – 16.11.1937
[2] "हरिजन" – 03.10.1937

''पाश्चात्य देश के सम्बन्ध में यह बात सत्य हो सकती है महात्मा गांधी जी के शिक्षा सिद्धान्त का निष्पक्ष अध्ययन यह सिद्ध करता है कि वे पूर्व में शिक्षा सिद्धान्तों एवं व्यवहार के प्रारम्भिक बिन्दु हैं।''

महात्मा गांधी जी एक क्रान्तिकारी दार्शनिक -:

same heading see p. 305

महात्मा गांधी जी एक क्रान्तिकारी दार्शनिक है, क्योंकि उनके अनुसार एक आदर्श अहिंसक सामाजिक व्यवस्था एक राजविहीन लोकतंत्र है। इस प्रकार के लोकतंत्र की कल्पना इसके पहले किसी भी सामाजिक, राजनीतिक, शिक्षा दार्शनिक ने सम्भवतः नहीं की है। महात्मा गांधी जी का लोकतंत्र एक ऐसा बौद्धिक क्रान्ति सम्पन्न राज्य है जहां सामाजिक जीवन इतना पूर्ण होता है कि वह स्वयं नियमित और नियंत्रित रहता है। महात्मा गांधी जी की कल्पना के अनुसार – ''लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक होता है वह अपने ऊपर इस प्रकार शासन करता है कि वह अपने पड़ोसी के लिये किसी प्रकार बाधक नहीं होता है। इसलिये इस अहिंसक आदर्श राज्य में कोई राजनीतिक शक्ति नहीं होती है, क्योंकि वहां कोई राज्य होता ही नहीं है।[1]''

इस प्रकार लोकतंत्र ग्रामीण सत्याग्रहियों का एक संघ होता है। महात्मा गांधी जी की अवधारणा के अहिंसक समाज में प्रतिष्ठित एवं शान्तिमय सह–अस्तित्व हेतु स्वैच्छिक सहयोग की दशा की उपलब्धि आवश्यक है। यह ऐसा समाज होगा जहां पर प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक वास्तविकता के प्रति निरन्तर सचेत रहेंगे तथा सादगी एवं त्याग, सेवा, एवं बलिदान का जीवन जियेंगे। ऐसा समाज विकेन्द्रित होगा जहां जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समानता का साम्राज्य होगा । डा0 जी0एन0 धवन ने ठीक ही कहा है –

''विवेन्द्रीकरण की आवश्यकता की उत्पत्ति इस तथ्य से हुयी है कि केन्द्रीकरण में कुछ व्यक्तियों के हाथों में शक्ति केन्द्रित होती है। जहां शक्ति के गलत प्रयोग की सम्भावना बनी होती है। केन्द्रीकरण जीवन की जटिलताओं की

---

[1] ''यंग इण्डिया'' – 02.07.1937

वृद्धि करती है जिसके कारण प्रत्येक नागरिक क्रियात्मक प्रयत्न में रूकावट उत्पन्न होती है। यह (केन्द्रीकरण) सूत्रपात, साधन, साहस एवं क्रियाशीलन को निरूत्साहित करती है और स्वशासन के अवसर को उत्पन्न नहीं होने देती है तथा अन्याय के विरोध की भावना को दबाती है।[1]"

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि महात्मा गांधी जी का शिक्षा दर्शन –

1. मानव विकास की पूर्ण क्षमता को महत्व देती है।
2. शिक्षा योजना श्रम की प्रतिष्ठा को महत्व देती है।
3. प्रजातंत्रात्मक सामाजिक शिक्षा का पोषक है।
4. व्यक्ति स्वालम्बन, समाज स्वालम्बन, राष्ट्र एवं अन्तर्राष्ट्रीय एवं पारस्परिक स्वालम्बन व दर्शन है।
5. श्रम निष्ठा
6. सभी धर्म एवं संस्कृतियों के प्रति समान आदर।
7. जाति, वर्ग, धन शक्ति एवं राष्ट्रीयता आदि की कृत्रिम सीमाओं से बाहर एवं सर्वलौकिक स्वतंत्र मानव लोक की स्थापना।
8. अकेन्द्रित आर्थिक ढांचे एवं सामाजिक ढांचे की स्थापना आदि की परिकल्पना करती है।

महात्मा गांधी के उपर्युक्त विचारों से प्रभावित होकर ही एम.एस. पटेल ने कहा है कि

"यदि दर्शन जीवन की समस्याओं के लिये प्रासंगिक तथ्यों के यथाक्रम तथा तथ्य पूर्ण दृष्टिकोंण एवं उनकी व्याख्या एवं यथार्थवाद से सम्बन्धित होता है तो निःसन्देह गांधी जी विश्व के महान दार्शनिकों की श्रेणी मे हैं।[2]"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनके भीतर आज के युग के अनुसार एक स्वतंत्र दार्शनिक का प्रादुर्भाव हुआ था। उनकी शिक्षा योजना अपरिग्रही दर्शन,

---

[1] धवन जी.एन. – "द पालिटिकल फिलासफी आफ महात्मा गांधी, पृष्ठ –267

[2] यंग इण्डिया – पृष्ठ – 713

विकेन्द्रित स्वालम्बी, अर्थनीति तथा श्रेणी हीन सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है जो भारत ही नहीं बल्कि विश्व के लिये पूर्ण संगति रखती है।

भारत के सांस्कृतिक गौरव एवं सामाजिक व्यवस्था के मूल "शिक्षा" के सम्बन्ध में महान शिक्षाविद्ध युग पुरूष पं० दीनदयाल उपाध्याय जी की शैक्षिक विचारधारा का सांगोपांग विवेचन शोधकर्त्री ने निम्न प्रकार किया है –

पं. दीनदयाल उपाध्याय -:

महान चिन्तक, कर्मयोगी, मनीषी एवं राष्ट्रवादी विचारक पण्डित दीनदयाल उपाध्याय का भारत के सामाजिक क्षितिज पर उदय एक महत्वपूर्ण घटना थी। उन्होंने प्राचीन भारतीय जीवन दर्शन के आधार पर एक सामयिक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में मौलिक चिन्तन करके दार्शनिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण व्यावहारिक व्याख्यायें दी। अपने आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों द्वारा पं० दीनदयाल उपाध्याय ने जनसाधारण को नहीं बल्कि राजनेताओं तथा विचारकों को भी समान रूप से प्रभावित किया। पण्डित जी का लक्ष्य राष्ट्र को राजनीतिक दृष्टि से सुदृढ़, सामाजिक दृष्टि से उन्नत तथा आर्थिक दृष्टि से समृद्ध करना था। उनका मानना था कि राष्ट्र का सर्वतोन्मुखी विकास समाज कल्याण के द्वारा ही सम्भव है। अतः उन्होंने समाज कल्याण के लिये शिक्षा को सबसे उचित माध्यम के रूप में स्वीकार किया। समाज के महत्वपूर्ण अंग परिवार को सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत करने के लिये नारी शिक्षा को अत्यावश्यक माना। इस प्रकार शिक्षा को उन्होंने ग्रामोन्मुखी पिछड़े कमजोर वर्ग की उत्थानकारी शारीरिक परिश्रम से युक्त चरित्र एवं नैतिकता से जुड़ी हुयी समाज के लिये हितकारी के रूप में स्वीकार किया। कोरी किताबी शिक्षा तथा ज्ञान को उन्होंने वास्तविक शिक्षा नहीं माना। उनका सर्वथा सुस्पष्ट मत था कि शिक्षा का समूचा ढाँचा उसकी प्रक्रिया तथा विकास भारतीयता तथा राष्ट्रोपासना पर आधारित होना चाहिये। इसीलिये इन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन की परिकल्पना की है। समाज परिवर्तन की विकासवादी प्रक्रिया को गति देने में शिक्षा को उन्होंने निर्णायक माना है तथा औपचारिक शालेय शिक्षा और अनौपचारिक संस्कार व्यवस्था के माध्यम से समाज

के सब पुरूषार्थों को प्राप्त करने की कामना की है उनके इन्हीं विचारों को जन–जन तक पहुंचाना ही शोधकर्त्री का पुनीत कर्तव्य एवं लक्ष्य है।

पं0 दीनदयाल जी के अनुसार जिस प्रकार मनुष्य की भौतिक आवश्यकतायें होती है उसी प्रकार उसकी आध्यात्मिक आवश्यकतायें भी है जिनको शिक्षा या संस्कार कह सकते हैं। इस प्रकार पण्डित जी ने शिक्षा को समाज में प्रथम प्राथमिकता प्रदान की है। उपाध्याय जी ने शिक्षा के अनुसार शिक्षा केवल विद्यालय तक ही सीमित नहीं वरन् इसका स्वरूप बहुत विस्तृत है, प्राचीन काल में तो कीर्तन, भजन कथा आदि कोई भी औपचारिक कार्यक्रम शिक्षा ही माना जाता था, जिस प्रकार आज रेडियो, समाचार पत्र, सिनेमा आदि की भूमिका है। उन्होंने मजहबी आधार पर शिक्षा के स्वरूप का निर्माण किया जाना विशेषकर ईसाई मिशनरियों द्वारा चलायी जाने वाली शिक्षा संस्थाओं को पण्डित दीनदयाल जी ने देश के लिये खतरनाक माना है। उन्होने देश के नवनिर्माण के लिये विज्ञान की महत्ता को भी स्वीकार किया हैं वैज्ञानिक अवधारणा से तात्पर्य है कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो व्यक्ति को जीवन संघर्ष के लिये तैयार कर सके। इस प्रकार से पं0 दीनदयाल जी विज्ञान और संस्कृति का समन्वित स्वरूप को ही पुनर्निर्माण का आवश्यक तत्व समझते हैं और आगाह करते हैं –

''हम सम्पूर्ण मानव के ज्ञान और उपलब्धियों का संकलित विचार करें[1]''

कुल मिलाकर पण्डित जी ने भारतीय संस्कृति के साथ विज्ञान को राष्ट्र के परम वैभव का साधन माना हैं पं0 दीनदयाल जी ने अपने लेख राष्ट्र के स्वरूप 'चिति' में सुरूचिपूर्ण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा अपने राष्ट्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। अतः उन्होंने किशोरों, तरूणों, प्रौढ़ों एवं सम्पूर्ण समाज को मनोवैज्ञानिक ढंग से जागृत करने का पुण्य कार्य किया। उनकी शिक्षा जहां एक ओर समाजशास्त्रीय है वहीं दूसरी ओर उसके मनोवैज्ञानिक आधार भी है।

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने शिक्षा दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त प्रतिपादित किये है जो संक्षेप में निम्न हैं –

---

[1] एकात्ममानवदर्शन – पृष्ठ–15

1. व्यष्टि-व्यैक्तिकता के विकास का सिद्धान्त -:

पण्डित जी के अनुसार शिक्षा को ऐसी दशायें उत्पन्न करनी चाहिये जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का बहुआयामी विकास सम्भव हो सके।

2. समिष्ट-सामाजिक कुशलता का सिद्धान्त -:

मनुष्य को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये जिससे वह अपने समाज को सर्वस्व समर्पण करने के लिये तैयार रह सके।

3. संस्कृति सांस्कृतिक समृद्धता का सिद्धान्त -:

शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिसके द्वारा राष्ट्रीय संस्कृति की अभिव्यक्ति हो सके तथा उसका संरक्षण और संवर्धन करके नवनिर्माण की दिशा में बढ़ा जा सके।

4. 'चिति' राष्ट्रीय चैतन्य निर्माण का सिद्धान्त -:

पं0 जी के अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो राष्ट्र में चैतन्य का निर्माण कर सके क्योंकि चैतन्य समाज ही प्रत्येक समस्या को हल करके परम वैभव को प्राप्त कर सकता है।

5. विराट् -विराट के जागरण का सिद्धान्त -:

'चिति' से जागृत और एकीभूत हुयी समिष्ट की प्राकृतिक क्षाय शक्ति अर्थात अनिष्टों से रक्षा करने वाली शक्ति 'विराट' कही जाती है। अतः राष्ट्र की संस्कारित एवं सुसंगठित जनशक्ति ही विराट् है। पं0 जी के अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे राष्ट्र का विराट जागृत हो सके।

6. सृष्टि - परमेष्टि - एकात्मता का सिद्धान्त -:

~~इस प्रकार~~ पण्डित जी के सिद्धान्तानुसार शिक्षा ऐसी हो जो 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना जागृत करें और साथ ही साथ परमसत्ता (परमात्मा) से एकाकार करने में सहयोग प्रदान करें।

7. राष्ट्र - विशुद्ध राष्ट्र भाव के जागरण का सिद्धान्त -:

8. धर्म-धार्मिक शिक्षा का सिद्धान्त -:

पं0 दीनदयाल जी 'धर्म निरपेक्ष' शिक्षा के पूर्णतः विरूद्ध है और उनका मानना है कि आज हमारे राष्ट्र के पतन के मुख्य कारणों में से एक कारण यह है कि हमने शिक्षा को धर्म निरपेक्ष बनाने का कार्य किया है तथा 'रिलीजन' को धर्म के पर्यायवाची के रूप में शिक्षा में स्थान दिया है।

9. सुख-समग्र एवं एकात्म सुख का सिद्धान्त -:

10. चर्तुपुरूषार्थ का सिद्धान्त -:

पं0 दीनदयाल जी ऐसी शिक्षा को हेय समझते है तथा ऐसी शिक्षा व्यवस्था चाहते हैं जिससे प्रेरणा प्राप्त कर मनुष्य अपने चारों पुरूषार्थों को सार्थक करता हुआ श्रेष्ठ समाज रचना में अपना सहयोग प्रदान कर सकें।

शिक्षा के स्वरूप की उपरोक्त समीक्षा करने के उपरान्त शोधकर्त्री ने पण्डित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा शिक्षा के स्वरूप की तुलनात्मक समीक्षा करना अपना उत्तरदायित्व समझा। पं0 दीनदयाल जी की शिक्षा के स्वरूप की समीक्षा के उपरान्त शोधकर्त्री ने पाया कि पण्डित जी की शिक्षा के अर्न्तगत वे सभी विषय समाहित है जिनका जीवन और समाज से सम्बन्ध है।

सामाजिक कार्यकर्ता के नाते पं0 दीनदयाल जी उपाध्याय समाज को सुदृढ़ एवं संस्कारित देखना चाहते है अतः उन्होने संस्कार क्षम शिक्षा पर ही अपना जोर दिया है उनका कहना है कि शिक्षा और संस्कार से ही समाज के मूल्य बनते हैं। इसलिये समाज की सभी समस्याओं को उन्होंने शिक्षा की ही समस्या माना है तथा शिक्षा को ही एक मात्र हल मानते हुये उन्होने कहा है –

"आज स्वतन्त्र होने पर आवश्यक है कि हमारे प्रवाह की सम्पूर्ण बाधाये दूर हो तथा हम अपनी प्रतिभा के अनुरूप राष्ट्र के सम्पूर्ण क्षेत्र में विकास कर सकें।[1]"

नये युग में महात्मा गांधी एवं पंण्डित दीनदयाल उपाध्याय जी के विचारों की संगति -:

महात्मा गांधी एवं पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के विचार परिवर्तित होने वाले वैज्ञानिक एवं औद्योगिक युग में पूर्ण संगति रखते हैं। यदि हम उनकी शिक्षाओं एवं दार्शनिक विचारों को अपनाने में समर्थ हो सके तो "रामराज्य" एवं 'नये' स्वर्ण युग' का निर्माण कर सकते हैं। 2 अक्टूबर के दिन महात्मा गांधी के जन्मोत्सव पर डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था –

"हमारा परम कर्तव्य है कि हम उस लौ को सदैव जीवित रखें जिसे बापू ने हमारे जीवन में प्रज्जवलित किया है। उनकी महान सेवा, श्रेष्ठ त्याग और अन्तिम बलिदान ने हमें केवल विदेशी शासन को हटाने के लिये हमें आगे नहीं बढ़ाया बल्कि उस रामराज्य के लिये उत्प्रेरित किया जिसका स्वतन्त्रता के संघर्ष के दिनों में हमने स्वप्न देखा था। जीवन में न समाप्त होने वाले सत्य, अहिंसा, प्रेम व सेवा पर भरोसा करते हुये उन्होने देश में मानवों को समानता, सामाजिक न्याय के लिये आगे बढ़ाने की प्रेरणा दी। इन्हीं गुणों से विश्व शान्ति की प्राप्ति सम्भव है।"

जनतंत्रात्मक सामाजिक व्यवस्था में महात्मा गांधी एवं पं0 दीनदयाल उपाध्याय के विचारों की संगति -:

महात्मा गांधी एवं पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी की विचारधारा के अनुसार एक जनतंत्रात्मक समाज व्यक्तियों का आध्यात्मिक समुदाय है जो समानता एवं स्वतन्त्रता का हामी होता है। इस प्रकार के समाज में शिक्षा की व्यवस्था का लक्ष्य सामाजिक कुशलता, आध्यात्मिकता, समानता, स्वतन्त्रता एवं न्याय जैसी विशेषताओं को उद्घाटित करना है। महात्मा गांधी जी चाहते है कि विद्यालय व समाज को एक जैवकीय हिस्सेदारी में प्रवेश करना चाहिये। समाज आर्थिक और नैतिक लक्ष्य

[1] राष्ट्र जीवन की दिशा – राष्ट्र की जीवनदायिनीशक्ति पं0 दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ – 41

के लिये कार्य करने वाले स्वतंत्र व्यक्तियों का स्वतंत्र समुदाय है। विद्यालय के स्वतंत्र शिक्षक एवं शिक्षार्थियों को एक स्वतंत्र सभा के रूप में होना चाहिये। गांधी जी के अनुसार एक स्वतंत्र व्यक्ति वह है जो लाभप्रद व्यावसायों में सक्रिय भाग लेकर केवल शारीरिक और मानसिक योग्यता ही नहीं प्राप्त करता वरन् न्याय, उत्तरदायित्व, और पारस्परिक सहयोग के भाव को सिखाता व विकसित करता है। वह उस विद्यालयीय सामाजिक संस्था से नागरिकता एवं नैतिकता का प्रशिक्षण ग्रहण करता है। वह साहित्य कला विज्ञान एवं सामाजिक विषयों के माध्यम से सत्यं शिवं सुन्दरम् जैसे शाश्वत मूल्यों को समझता अधिगम करता एवं व्यवहार योग्य बनाता है। बेसिक शिक्षा की नई योजना इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये बनायी गयी है।

पं0 दीनदयाल जी की शिक्षा एवं बेसिक शिक्षा मानव जीवन के लक्ष्य के अनुकूल है -:

स्वतंत्रता के एक दशक पूर्व ही महात्मा गांधी ने सर्वोदय समाज की रचना का लक्ष्य बनाकर अपनी शिक्षा योजना प्रस्तुत की थी, क्योंकि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन सर्वथा आवश्यक था। इन द्वय शिक्षाशास्त्रियों की शिक्षा का लक्ष्य समाज, राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्र की पुर्नरचना एवं पुर्नसंगठन करना था। केन्द्रीय शासन पद्धति एवं वर्तमान उत्पादन पद्धति के कारण विश्व समाज तथा भारतीय समाज विषमताओं से भर गया था। इसलिये महात्मा गांधी जी ने भारत में ग्राम्य राज्य एवं ग्रामीण उद्योग की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया है। इसलिये उन्होने ''गाँवकी ओर लौटो'' का नारा लगाया था। वे यह भी रचना अनुभव किये थे कि केवल सामाजिक में परिवर्तन कर देने से हमारा उद्देश्य पूर्ण न होगा, बल्कि देशवासियों के विचार मस्तिष्क तथा ह्रदय परिवर्तन करना होगा। इनके अनुसार सर्वोदय समाज की प्रथम सीढ़ी बेसिक शिक्षा ही है।

जीवन के तात्कालिक उद्देश्यों की पूर्ति में महात्मा गांधी एवं उपाध्याय जी के विचारों की संगति -:

see p. 306

महात्मा गांधी एवं पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी अयोग्य स्पर्धा की प्रवृत्ति से बचने के लिये कुछ सीमा तक वर्ण कानून में विश्वास करते हैं। वर्ण कुछ निश्चित

प्रवृत्तियों के कारण कुछ व्यक्तियों के लिये कार्य के कुछ निश्चित क्षेत्रों को निश्चितता पदान करता हैं इसीलिये महात्मा गांधी एवं पं0 दीनदयाल जी यह मानते थे कि प्रत्येक वर्ग को अपनी जीविका कमाने के लिये कार्य, श्रम अवश्य करना चाहिये। शारीरिक श्रम दैनिक जीविका के लिये अनिवार्य है। महात्मा गांधी का रोजी–रोटी का आदर्श असंग्रह एवं समानता की प्रवृत्ति का द्योतक है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि महात्मा गांधी जी मशीनीकरण का विरोध करते है। उनका कथन है कि –

"मैं सामान्य यंत्रों औजारों एवं मशीनों का विरोध नहीं करता हूँ जो वैयक्तिक श्रम को बचाते हैं और असंख्य झोपड़ियों के बोझ को हल्का करते हैं।"

परन्तु मशीनें ऐसी होनी चाहिये जिसे गांव वाले स्वयं बनायें और प्रयोग करें। ऐसे आत्म निर्भर ग्रामीण समाज में मानव का पूर्ण विकास होगा।

महात्मा गांधी एवं उपाध्याय जी के विचार सामाजिक शिक्षा के प्रति संगति रखते हैं :-

सामाजिक शिक्षा पर बल देने वाले विश्व के प्रमुख सामाजिक शिक्षा शास्त्रियों में गांधी जी एवं उपाध्याय जी का स्थान प्रमुख है। असंख्य लोग उन्हें मानव जाति का देवदूत समझते हैं। इनका जीवन स्वार्थ रहित सेवा का उदाहरण हैं उन्होंने असंख्य नर–नारियों को अन्धविश्वासों एवं अज्ञानता के क्षेत्र से निकालकर ऊपर उठाया। महात्मा गांधी जी ने कुछ अपने जीवन में अनुभव किया और प्रयोग करके उपलब्ध किया था और अपने व्यक्तिगत जीवन में अभिव्यक्त किया था वैसा उदाहरण विश्व के इतिहास में खोजना कठिन है।

शिक्षा व समाज की पुनर्रचना में इन द्वय शिक्षा शास्त्रियों की शिक्षा की संगति :- See p.309

हम जानते है कि दो विश्व युद्धों ने मानव जाति के भौतिक व सामाजिक जीवन की प्रगति को किस प्रकार अवरूद्ध कर दिया था। हमारी प्राचीन परम्पराओं, विश्वासों, रीति रिवाजों एवं संस्थाओं को नष्ट कर दिया था। इस प्रकार की परिस्थितियों ने हमारे मानव परिवार की जातियों व अन्य लोंगो के समक्ष अपनी संस्कृति एवं अपने जीवन को तर्क एवं समानता के आधार पर पुनर्रचना हेतु एक

महान अवसर प्रदान किया। गांधी जी की धारणा थी कि वे व्यक्ति जो समाज का निर्माण करते हैं यदि उत्तमतर व्यक्ति बन सकें और मूल प्रवृत्तियों को उचित दिशा में पुष्पित व विकसित किया जाये तो समाज स्वयं संगठित हो जायेगा। हम जानते हैं कि व्यक्ति व समाज दोनों अपने आन्तरिक संघर्षों को निश्चित करने व वर्जित करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने पर ही उन्हे एक उच्च संतुलित जीवन की उपलब्धि होती है तथा तभी समाज अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है । समाज के प्रत्येक व्यक्ति के विकास पर ही समाज का उचित विकास सम्भव है। व्यक्ति और समाज अलग नही है । समाज अपनी प्राचीन धरोहर व्यक्ति व समूह को प्रदान करता है। व्यक्ति उसमें विकास कर सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ करता है।

इस प्रकार स्वमेंव सिद्ध हो जाता है कि इन द्वय शिक्षाशास्त्रियों के विचारों में उपर्युक्त प्रकार से समता व विषमता विद्यमान है। और इनके विचारों की भारतीय परिवेश में पूर्ण संगति है। दोनो शिक्षादार्शनिक समकालीन एवं भारतीय है। अतएव भारतीय परिवेश से परे चिन्तन करना भी इनके लिये दुष्कर था। अतएव दोंनो ही भारतीयों के ह्रदय पर अपनी अमिट छाप छोड़ने में सफल रहे हैं। इन्होंने देश को गौरवान्वित किया है।
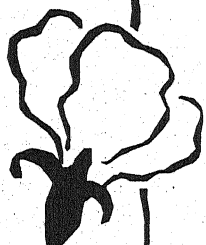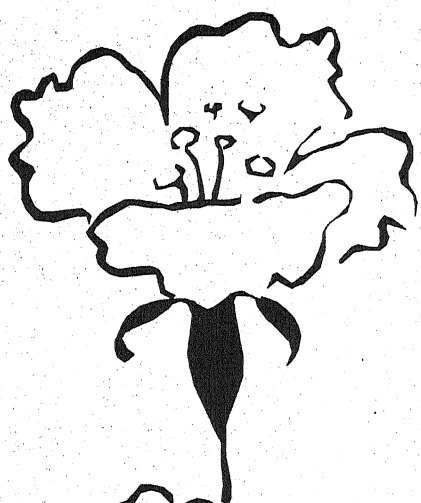
अध्याय
सप्तम

अध्याय सप्तम
निष्कर्ष एवं सुझाव

प्रस्तुत शोधकार्य में महात्मा गांधी जी तथा पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के शैक्षिक चिन्तन एवं कृतित्व का दार्शनिक, सामाजिक एंव मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया है ।

सदियों से पराधीनता के कारण अपनी गरिमामयी संस्कृति से अनभिज्ञ भारतीय जनता को पुनः चेतन तथा सचेष्ट करने के लिये भारतीय विचारकों के विचारों को अपनी परिस्थिति के अनुसार कार्य करना पड़ा, न कि वे इसके स्थान पर पश्चिमी विचारकों से विचार सहमति या असहमति प्रगट करने का कार्य करते। अतः इतना कहना ही पर्याप्त है कि अपने क्षेत्र और अपने कार्य के अनुरूप उन्होंने शिक्षा का स्वरूप निर्धारित किया। भारतीय विचारकों में प्रतियोगिता की भावना नहीं थी, वरन् जीवन के सच्चे मूल्यों की खोज करना, जो कि काल के गर्त में समाधिस्थ कर दिये गये हैं, उनको पुनः जागृत कर स्मरण करना ही उनकी शिक्षा का लक्ष्य था । इसी आधार पर शोधकर्त्री ने भारतीय शिक्षा विचारक पण्डित दीनदयाल उपाध्याय तथा महात्मा गांधी जी को अपने शोधकार्य के लिये अध्ययन का विषय बनाकर भारतीय परिवेश में उसकी उपयोगिता व संगति एवं वर्तमान परिस्थितियों में उसकी समन्वयात्मकता एवं क्रियाशीलता का सम्मिलित अध्ययन कर अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

आधुनिक भारत के स्वतन्त्रता संग्रामकालीन विचारक, उपनिवेशवादी, शासनाधीन समाज की गतिविधियों से उत्पन्न समस्याओं के विचारक हैं । तत्कालीन परिस्थितियों में भारतीय समाज के सम्मुख अशिक्षा स्वाधीनता प्राप्ति के मार्ग में एक राष्ट्रीय स्तर की समस्या थी । उस समय भारतीय समाज की प्रमुख समस्या औद्योगीकरण, नगरीकरण आदि के परिणाम स्वरूप अस्त–व्यस्त समाज को पुनर्गठित करना था, जब कि भारत की तत्कालीन प्रमुख समस्या अपनी संस्कृति की रक्षा एवं स्वाधीनता प्राप्त करने के साथ ही भौतिक विकास को प्राप्त करने की थी, जो शिक्षा के समुचित प्रसार एवं प्रचार द्वारा ही सम्भव था ।

अतः भारतीय मनीषियों एवं विचारकों ने भारतीय समस्याओं के निराकरण हेतु भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। उन्हीं विचारकों में से महात्मा गाँधी जी एवं पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी भी हैं। महात्मा गांधी जी की शैक्षिक विचारधारा को जानने के लिये पिछले अध्यायों में उनके द्वारा निर्धारित शैक्षिक स्वरूप एवं पाठ्यक्रम, शिक्षण पद्धति के साथ ही साथ शिक्षा के उद्देश्यों पर शोधकर्त्री ने प्रकाश डाला है, जिसके परिणामस्वरूप महात्मा गांधी जी की शैक्षिक अवधारणाओं को उनके जीवन वृत्त, आचार–व्यवहार आदि के साथ ही उनकी उपलब्धियों, "सत्य के प्रयोगों" को अपना आधार बनाकर–शोधकर्त्री ने शिक्षा सम्बन्धी तथ्यों को निम्न प्रकार से विभिन्न सोपानों में वर्गीकृत करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

महात्मा गांधी के विचारों का निष्कर्ष -: See p. 281

कुछ मानवों को ऐतिहासिक घटनायें बनाती हैं जब कि कुछ लोग स्वयं इतिहास का निर्माण करते हैं महात्मा गांधी स्वयं ऐसे पुरूष थे जिन्होंने अपनी मस्तिष्क मन व हृदय की विशेषताओं, गुणों तथा महान कार्यो से अपना स्वयं का मार्ग प्रशस्त कर स्वयं एक इतिहास का निर्माण किया था । उन्होंने एक राष्ट्रीय नेता के रूप में प्रभावी व्यक्तित्व से नवीन भारत का निर्माण किया था । और एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विचारक के रूप में सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया था ।

महात्मा गांधी की महानता -: See p. 281

इस विश्व में अनेक बुद्धि–सम्पन्न मानवों ने वैसे तो जन्म लिया है किन्तु कोमल हृदयी मानव का प्रायः आभाव ही पाया जाता है । इसी विशेषता में महात्मा गांधी की महानता का सार निहित है । गांधी जी का प्रादुर्भाव ऐसी परिस्थिति में हुआ था जब कि नैतिक मूल्य तथा मानव की प्रतिष्ठा का अवमूल्यन हो रहा था । नैतिकता संकटासम्पन्न हो गयी थी ऐसी विषम परिस्थिति में महात्मा गांधी जी ने नये मूल्यों को व्सवस्थापित करने की आवश्यकता का अनुभव कर सम्पूर्ण मानवता को जागृत करने का संकल्प ले लिया था, क्योंकि उन्होंने अनुभव कर लिया था कि मानव को इस विकट स्थिति से बाहर निकालने का कार्य केवल नये मूल्य ही

कर सकेंगे। इसलिये उन्होंने अकेले ही समज में व्याप्त समस्त बुराईयों की सामुहिक शक्ति से संघर्ष करते रहे हैं । विरोध, धमकी, गलत प्रदर्शन तथा कलंक की परवाह किये बिना सत्य अहिंसा प्रेम का दृढ़ता से अवलम्बन लिये हुये भारतीय राष्ट्र को शान्ति व सुरक्षा प्रदान की तथा अपनी स्वयं की वृतितयों को पवित्रता एवं प्रेम की ओर मोड़ने में सफल हुये । अपने मुख पर प्रेम की प्रतिछाया को धारण किये हुये मानव सेवा में अपना स्वयं का बलिदान कर दिया। विश्व ऐसे महान देशभक्त, विचारक एवं दार्शनिक को कभी भी अपनी स्मृति से न हटा सकेंगे ।

किसी महान शिक्षक के संदेश को केवल वे ही व्यक्ति सुनने व समझने में समर्थ हो सकते हैं जो इसे ग्रहण करने के लिये उद्यत हों, क्योंकि सुन्दरता दृष्टा के नेत्रों में होती है। यह बात महात्मा गांधी की शिक्षाओं के सम्बन्ध में नितान्त सत्य है । महात्मा गांधी इस प्रकार के महान व्यक्तित्व वाले प्राणी थे, जिन्हें खोजने में सौ वर्ष लगेंगे, समझने में दूसरा सौ वर्ष लगेगा तथा उनकी शिक्षाओं को व्यवहार में लाने के लिये अन्य सौ वर्ष लगेंगे। अतः उन्हें पूर्ण रूप में जानने के लिये सतत् अन्वेषण समझ एवं निन्तर प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता है ।

विश्व की दृष्टि में गांधी जी का स्थान -:

विश्व में गांधी जी के स्थान के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना हमारे लिये तो प्रायः असंभव ही है परन्तु महात्मा गांधी को महान पथप्रदर्शकों, शिक्षकों, मनुष्य मात्र के परोपकारियों में एक पथ प्रदर्शक शिक्षक तथा महान परोपकारी मनुष्य के रूप में आने वाले कालों में समझा जायेगा ।

महात्मा गांधी व भारतीय स्वतन्त्रता -:

महात्मा गांधी ने भारतीय स्वतंत्रता हेतु अपनी समस्त क्षमताओं का लगा दिया था । स्वतत्रंता का तात्पर्य महात्मा गांधी के दृष्टिकोण से हिंसा व युद्ध से मुक्ति, लोभ, वासना द्वेष से मुक्ति प्रदान करने से था । इससे भी बढ़कर समस्त प्रकार की दासता से मुक्ति, यहां तक कि सांसारिक बंधनों से आत्मा की मुक्ति से था । महात्मा गांधी कानूनविद् होते हुये भी कानून भंग करने वालों में अग्रणीय,

उच्च हिन्दु होते हुये भी अस्पृष्यता से अपने को परिचित कराने वालों में आगे, वणिक जाति के होते हुये भी क्षत्रिय की भांति साहसी तथा ब्राह्म्ण की भांति अपने शैक्षिक संदेशों को प्रचारित एवं प्रसारित किया था। वे सम्पूर्ण जीवन सत्यान्वेषी रहे हैं । विश्व के महान दार्शनिकों की अंतिम पंक्ति के महात्मा गांधी वह दार्शनिक थे जिन्होंने लोगों का ध्यान परिवर्तित होने वाले तथ्यों की ओर आकर्षित किया था और जीवन के अन्तिम सत्य को प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया । उन्होंने अपने जीवन काल में मृत्यु को जीत कर जीवन व मृत्यु के अन्तर को समाप्त कर दिया था। विश्व शिक्षक के रूप मानव जाति के आध्यात्मिक पीढ़ियों के देवदूत व विश्व नागरिक के रूप में महात्मा गांधी जी प्रसिद्ध हो चुके थे ।

नये युग में गांधी जी के विचारों की संगति -:

महात्मा गांधी के विचार परिवर्तित होने वाले वैज्ञानिक एवं औद्योगिक युग में पूर्ण संगति रखते हैं । यदि हम उनकी शिक्षाओं और दार्शनिक विचारों को अपनाने में समर्थ हो सकें तो "रामराज्य" एवं नये स्वर्ण युग का निर्माण कर सकते हैं । 2 अक्टूबर के दिन महात्मा गांधी के जन्मोत्सव पर डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था –

"हमारा यह परम कर्तव्य है कि हम उस लौ को सदैव जीवित रखें जिसे बापू ने हमारे जीवन में प्रज्जवलित किया है ।"

उनकी महान सेवा, श्रेष्ठ त्याग और अन्तिम बलिदान ने हमें केवल विदेशी शासन से ही मुक्ति प्राप्त करने के योग्य नहीं बनाया बल्कि उस समाज को बनाने के लिये हमें आगे बढ़ाया जिसका स्वतंत्रता के संघर्ष के दिनों में हमने स्वप्न देखा था। हमें जीवन में न समाप्त होने वाले सत्य, अहिंसा, प्रेम व सेवा पर भरोसा करते हुये देश में मानव समानता, सामाजिक न्याय के लिये आगे बढ़ने की प्रेरणा दी ।

महात्मा गांधी का दर्शन -:

विश्व सभ्यता में गांधी जी के योगदान के सम्बन्ध में विचार करने के उपरान्त हमें यह देखना है कि वह कौन से तत्व हैं जिन्होंने महात्मा गांधी जी के दर्शन के निर्माण में योगदान दिया है ।

हमने देखा है कि उनका दर्शन आध्यात्मिक एकता के सिद्धान्त से अविभूत हुआ है महात्मा गांधी जी के अनुसार मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य "आत्मानुभूति" है । इसका तात्पर्य है अन्तिम सत्य का अनुभव करना, मोक्ष प्राप्त करना, व ईश्वर का साक्षात्कार करना । महात्मा गांधी के दर्शन का मौलिक तत्व मानव जीवन के लक्ष्य की व्याख्या करना और उस लक्ष्य तक पहुंचने के लिये मार्ग व विधि प्रतिपादित करना है । यदि जीवन का लक्ष्य ईश्वरानुभूति है तो हमें यह ज्ञात होना चाहिये कि उनका ईश्वर से क्या तात्पर्य है ।

गांधी जी की ईश्वर व्याख्या अन्य की अपेक्षा भिन्न है, क्योंकि वे जानते हैं कि "ईश्वर" की असंख्य परिभाषायें हैं, क्योंकि ईश्वर का प्रकाशन या उसकी अभिव्यक्ति अनन्त है। वे सत्य को ईश्वर मानते हैं। "ईश्वर सत्य है" यह कहने की अपेक्षा "सत्य ही ईश्वर है" ज्यादा उपयुक्त समझते है । क्योंकि वे समझते थे कि वे नास्तिक जो ईश्वर के अस्तितव को नकारते हैं वे भी सत्य की शक्ति को अस्वीकार नहीं कर सकते हैं ।

उनका विचार है कि ईश्वर या सत्य अन्तस्थ सत्यता नहीं है बल्कि अति श्रेष्ठ है । विश्व का जीवन ही नही बल्कि इससे भी परे हैं। वह सृष्टिकर्ता, न्यायी एवं पालन पोषण करने वाला है ।

महात्मा गांधी मनुष्य व ईश्वर में भेद नहीं मानते हैं -: गांधी जी की मान्यता है कि ईश्वर व मनुष्य में कोई विरोध नहीं है उनका कथन है कि–"मै ईश्वर की एकता व पूर्णता में विश्वास करता हूं इसीलिये मैं मानवता की एकता में भी विश्वास करता हूँ ।"[1]

उनका पुनः यह कथन है कि–"मैं अद्वैत में विश्वास करता हूँ मैं मानव की आवश्यक एकता में विश्वास करता हूँ उसी प्रकार सभी जीवित वस्तुओं में भी ।[2]"

मानव व ईश्वर की आवश्यक एकता पर बल देते हुये गांधी जी "तत्वमसि" के सिद्धान्त के अनुयायी है । यद्यपि बुद्धि को ईश्वर श्रेष्ठ बनाता है परन्तु गांधी जी का विचार है कि –

---

[1] "यंग इण्डिया" ।। पृष्ठ 79
2 यंग इण्डिया – पृष्ठ 421

"ईश्वर के अस्तित्व को कुछ सीमा तक तर्क से करना सम्भव है ।[1]"

इसलिये गांधी जी कहते हैं कि –

"विश्व में एकता है। एक व्यवस्था है प्रत्येक अस्तित्व युक्त वस्तु तथा जीवित प्राणी को शासित करने के लिये एक ही अपरिवर्तनीय नियम हैं । यह अंधा नियम नहीं है नियम तथा नियम का निर्माता एक ही है ।[2]"

ईश्वरानुभूति कैसे की जाय -:

यदि जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य आत्मानुभूति है तो प्रश्न उसकी अनुभूति का उत्पन्न होता है कि यह अनुभूति किस प्रकार की जाय? गांधी जी के अनुसार अहिंसा ही एक मात्र वह साधन है जिससे ईश्वर सत्य व आत्मा की अनुभूति की जा सकती है । गांधी जी इस बात पर बल देते हैं कि साधन को साध्य के अनुरूप होना चाहिये, इसलिये मानव की तात्कालिक सेवा अनुभूति के प्रश्न का एक आवश्यक हिस्सा होना चाहिये । अतः समाज सेवा द्वारा ही मनुष्य ईश्वर की अनुभूति कर सकता है ।

सत्य और अहिंसा के प्रति गांधी जी के विचार -:

~~हमने यह देखा है कि~~ गांधी जी के अनुसार सत्य साध्य है और अहिंसा आत्मानुभूति का साधन है। समस्त मानव की सर्वोत्तम भलाई की अनुभूति तभी की जा सकती है जब व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सत्य की अभिव्यक्ति हो । प्रत्येक व्यक्ति को सत्यान्वेषी होना चाहिये। इसलिये उसे सत्याग्रही बनाना अनिवार्य हो जाता है ।

सत्य अहिंसा पर आधारित नये समाज का विकास -:

महात्मा गांधी जी की प्रबल इच्छा नवीन अहिंसक सामाजिक व्यवस्था का उदविकास करना था । वे चाहते थे कि ऐसे समाज के विकास हेतु प्रत्येक प्राणी को ईश्वरानुभूति के श्रेष्ठ लक्ष्य को सदैव अपने सामने रखना होगा। इस प्रकार से

---

[1] यंग इण्डिया ।। – पृष्ठ – 870
[2] यंग इण्डिया ।। पृष्ठ – 871

विकसित नया समाज "सर्वोदय समाज" कहलायेगा । ऐसा समाज गांधीवादी विचारधारा के अनुसार राज्य विहीन अहिंसक समाज होगा ।

अहिंसक समाज और राज्य में अन्तर -:

हमने यह देखा है कि अहिंसक समाज ईश्वरानुभूति के मार्ग का अनुयायी होता है और राज्य हिंसा पर आधारित होता है। इसलिये उसमें नैतिकता का आभाव पाया जाता है क्योंकि –

"स्वेच्छा से रहित कोई भी कार्य नैतिक नहीं होता ..... जब तक हम मशीन की भांति कार्य करेंगे तो नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता है । यदि हम किसी कार्य को नैतिक कहना चाहते हैं तो उस कार्य को हमें सचेत होकर कर्तव्य की भावना से करना होगा ।[1]"

महात्मा गांधी जी एक क्रान्तिकारी दार्शनिक हैं -:

महात्मा गांधी जी एक क्रान्तिकारी दार्शनिक है, क्योंकि उनके अनुसार एक आदर्श अहिंसात्मक सामाजिक व्यवस्था एक राज्य विहीन लोकतंत्र है । इस प्रकार के लोकतंत्र की कल्पना इसके पहले किसी भी सामाजिक, राजनैतिक एवं शिक्षा दार्शनिक ने सम्भवतः नहीं की है । गांधी जी का लोकतंत्र एक ऐसा बौद्धिक क्रान्ति सम्पन्न राज्य है जहां सामाजिक जीवन इतना पूर्ण होता है कि वह स्वयं नियमित एवं नियंत्रित रहता है –

"इसलिये इस अहिंसक आदर्श राज्य में कोई राजनैतिक शक्ति नहीं होती है क्योंकि वहां कोई राज्य होता ही नहीं है ।"

इस प्रकार की लोकतंत्र ग्रामीण सत्याग्रहियों का एक संघ होगा । ऐसा समाज विकेन्द्रित समाज होगा जहां जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समानता का साम्राज्य होगा ।

---

[1] इथिकल रिलीजन – पृष्ठ – 40

महात्मा गांधी और उनका जीविकोपार्जन का आदर्श -: See p. 296

महात्मा गांधी अयोग्य स्पर्धा की प्रकृति से बचने के लिये ही कुछ सीमा तक वर्ण कानून में विश्वास करते है । गांधी जी यह मानते थे कि प्रत्येक वर्ण को अपनी जीविका कमाने के लिये कार्य श्रम अवश्यक करना चाहिये । शरीरिक श्रम दैनिक जीविका के लिये अनिवार्य है । असंग्रह एवं रोटी–रोजी का आदर्श ग्रामीण हस्तकला को प्रोत्साहित कर ग्रामीण सभ्यता का विकास करती है । गांधी जी के इस नवीन सामाजिक व्यवस्था में शोषण, जिम्मेदारी, प्रथा एवं पूंजीवाद का आभाव पाया जाता है ।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गांधी जी मशीनीकरण का विरोध करते है उनका कथन है कि –

"सामान्य यंत्रों, औजारों एवं मशीनों का विरोध नहीं करता हूँ जो व्यैक्तिक श्रम को बचाते हैं । और असंख्य झोपड़ियों के बोझ को हल्का करते हैं ।[1]"

परन्तु मशीने ऐसी होनी चाहिये जिसे गांव वाले स्वयं बनावें और प्रयोग करें । गांधी जी कहते हैं कि –

"मैं व्यक्ति की स्वतंत्रता को महत्व देता हूँ, परन्तु तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि मनुष्य आवश्यक रूप से एक सामाजिक प्राणी हैं । वह अपनी वर्तमान स्थिति से, सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं से अपनी वैयक्तिकता को अनुकूल बनाना सीखकर ही ऊपर उठा है ।"

गांधी जी नैतिक अधिकार पर आधारित मानव की प्रभुसम्पन्नता में विश्वास करते हैं। ऐसी सामाजिक व्यवस्था हेतु उन्होंने रचनात्मक कार्य को प्रस्तुत किया है और उसका साधन अहिंसा माना है ।

महात्मा गांधी की शिक्षा की अवधारणा -:

हमने देखा है कि महात्मा गांधी के अनुसार शिक्षा का तात्पर्य बालक के शरीर, मन तथा आत्मा में निहित समस्त क्षमताओं का सर्वतोमुखी विकास करना है । साक्षरता न तो शिक्षा का प्रारम्भ है और न ही अन्त है ।

---

[1] यंगइण्डिया ।। पृष्ठ – 73

महात्मा गांधी जी पारम्परिक विद्यालयीय शिक्षण का विरोध करते हैं -:

गांधी जी प्रचलित शिक्षा का विरोध करते हैं। ऐसी शिक्षा व्यर्थ है जो विद्यार्थियों को उनके माता–पिता तथा पैतृक व्यवसाय से अलग करती है । गांधी जी की नई सामाजिक व्यवस्था शरीर श्रम विशेषकर आजीवकोपार्जन के शरीर के श्रमकों तथा इस हेतु आवश्यक क्रियाशीलनों पर बल देती है । जीवकोपार्जन सम्बन्धी शरीर श्रम को अपनी शैक्षिक प्रक्रिया का केन्द्र बनाने की खोज में सदैव रत रहे हैं ।

गांधी जी समस्त शिक्षा को जीवन की परिस्थितियों से प्रदान करने पर बल देते हैं -:

महात्मा गांधी जी का विचार था कि समस्त शिक्षा मूर्त जीवन की परिस्थितियों के द्वारा दी जानी चाहिये । शिक्षा हस्तकला द्वारा दी जाये हस्तकला का चुनाव वहां के छात्रों के सामाजिक एवं भौतिक पर्यावरण को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिये ताकि जो भी बालक सीखे वह उसके व्यक्तित्व में घुल मिल जाये ।

इस योजना का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि समस्त शिक्षा किसी हस्तकला के माध्यम से दी जाय ।

महात्मा गांधी के शिक्षा के उद्देश्य -:

गांधी जी ने शिक्षा के उद्देश्यों को दो उद्देश्यों में विभक्त किया है :–

1. तात्कालिक उद्देश्य तथा
2. अन्तिम या सर्वोच्च उद्देश्य

तात्कालिक उद्देश्य अनेक हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध जीवन के विभिन्न पहलुओं से है । अन्तिम उद्देश्य के रूप में उन्होंने ईश्वरानुभूति को रखा है, यही शिक्षा का सर्वाधिक लक्ष्य है । इस अन्तिम उद्देश्य में सभी तात्कालिक एवं अन्य उद्देश्य सम्मिलित हैं ।

महात्मा गांधी जी शिक्षा के व्यक्तिक एवं सामाजिक उद्देश्य पर बल देते हैं -:

गांधी जी ने अपने शिक्षा सिद्धान्त व प्रयोगीय व्यवहार से यह प्रगट किया है कि सामाजिक सेवा तथा आत्मानुभूति में कोई सघंर्ष नहीं है ।

महात्मा गांधी जी के शिक्षा सिद्धान्त का विकास प्रयोग पर आधारित है -:

गांधी जी का शिक्षा सिद्धान्त "फोनिक्सबस्ती, टॉलस्टाय फार्म, साबरमती आश्रम सेवा ग्राम" में शिक्षा पर किये प्रयोग की उपज है । इस प्रकार उनका शिक्षा सिद्धान्त वस्तुनिष्ठ है, न कि व्यक्तिनिष्ठ प्रयोगात्मक है न कि सैद्धान्तिक । अप्रैल 1939 में सेवा ग्राम में हिन्दूस्तानी तालीमी संघ की उत्पत्ति हुयी जिसमें बेसिक शिक्षा में प्रयोग प्रारम्भ कर दिया था, यहां तक कि मुम्बई, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की सरकारों ने बेसिक विद्यालयों और प्रशिक्षण केन्द्र की शुरूआत कर दी थी ।

महात्मा गांधी जी के शिक्षा दर्शन पर अन्य दार्शनिक प्रवृतितयों का प्रभाव -:

महात्मा गांधी जी के दर्शन का अध्ययन करके हमने यह देखा है कि प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, प्रयोजनवाद की दार्शनिक प्रवृत्तियां इनके दर्शन में अर्न्तनिहित हैं । किन्तु ये प्रवृत्तियां इनके दर्शन में अलग और स्वतंत्र रूप से नहीं पायी जाती है बल्कि वे एकता में आवद्ध हैं ।

महात्मा गांधी जी शिक्षा दर्शन के मुख्य पहलु -:

हमने यह देखा है कि महात्मा गांधी के शिक्षा दर्शन के महत्वपूर्ण पहलुओं में शरीर श्रम केन्द्रीय स्थान रखता है । मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इनका दर्शन बौद्धिक एवं अनुभव के व्यावहारिक तत्वों में संतुलन स्थापित करने का प्रयास करता है । शरीर श्रम विधार्थियों में बन्धुत्व सहयोग और सेवा के गुणों का विकास करता है जो शान्तिमय सामाजिक जीवन के लिये अनिवार्य शर्त है । यहां तक की आत्मानुभूति रूपी जीवन के अन्तिम लक्ष्य की ओर समग्र समाज को आगे बढ़ाता है ।

महात्मा गांधी जी का धर्म के प्रति दृष्टिकोण -:

गांधी जी के अनुसार धार्मिक संस्थाओं को चन्दा देना तथा धार्मिक रीति–रिवाजों को मानना ही धर्म नहीं है, बल्कि सत्य, प्रेम, अहिंसा, न्याय जैसे पूर्ण मूल्यों में 'अपरिहार्य रूप' से विश्वास करना धर्म है । गांधी जी ने बुद्धिमता से वर्धा योजना में वर्गवाद तथा जातिवाद को निकाल दिया है । उनके अनुसार सर्वोत्तम, सुन्दरम् और सर्वाधिक प्रभावी धार्मिक शिक्षा के प्रतीक स्वयं चरित्रवान अध्यापक हैं ।

भाषा समस्या -:

अंग्रेजी भाषा की उपादेयता उनकी दृष्टि में केवल विश्व भाषा एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के रूप में है। महात्मा गांधी देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दुस्तानी भाषा अथवा उर्दू लिपि को ही राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करना चाहते हैं। वे इन्हे विद्यालीय पाठ्यक्रम में अनिवार्य विषय के रूप में रखने के पक्षधर हैं। शिक्षा के सभी स्तरों पर क्षेत्रीय भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने पर बल देते हैं ।

शिक्षा व समाज की पुनर्रचना में बेसिक शिक्षा की संगति -: See p. 297

हम जानते हैं कि दो विश्व युद्धों ने मानव जाति के भौतिक एवं सामाजिक जीवन की प्रगति को किस प्रकार अवरूद्ध कर दिया था। हमारी प्राचीन परम्पराओं, विश्वासों, रीति रिवाजों एवं संस्थाओं को नष्ट कर दिया था। इस प्रकार की परिस्थिति ने पुनर्रचना हेतु एक महान अवसर प्रदान किया। हमने देखा है कि बेसिक शिक्षा में वह सामर्थ्य है कि वह वस्तुओं को किस प्रकार रूपान्तरित कर सकती है कि मानव समूह अपनी विरासत को प्राप्त कर सकता है। हमारे राष्ट्रीय पुनर्जन्म एवं पुनर्रचना में बेसिक शिक्षा का प्रथमतः सम्बन्ध भारत के पुनर्निर्माण एवं पुर्जन्म से ही है ।

इसलिये समाज के विकास हेतु व्यक्ति के विकास का महत्व है । गांधी जी की धारणा थी कि वे व्यक्ति, जो समाज का निर्माण करते है यदि उत्तमतर व्यक्ति बन सके और उनकी मूलभूत प्रवृत्तियों को उचित दिशा में पुष्पित व विकसित

किया जाय तो समाज स्वयं संगठित हो जायेगा । समाज अपनी प्राचीन धरोहर को व्यक्ति को प्रदान करता है व्यक्ति उसमें विकास कर सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ करता है ।

बेसिक शिक्षा को व्यवहार में लाने में कठिनाईयाँ -:

बेसिक शिक्षा को लागू करने में अनेक कठिनाईयाँ एवं रूकावटे है हमने देखा है कि राष्ट्र के निर्माण की प्रक्रिया एवं राष्ट्रीय योजना की व्यवस्था में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान होता है । इसलिये शिक्षा पर हमें प्राथमिक रूप से ध्यान देना चाहिये ।

आर्थिक समस्या -:

बेसिक शिक्षा को लागू करने में आर्थिक प्रश्न विशेष चिन्ता का कारण है । हमें आर्थिक कमी को शैक्षिक पुनर्रचना की योजना में रूकावट न डालने देना चाहिये ।

प्रशिक्षित अध्यापकों का आभाव -:

शिक्षा के प्रसार के मार्ग में सबसे प्रमुख बाधा धन की ही नहीं बल्कि प्रशिक्षित अध्यापकों के आभाव की है । शिक्षण व्यवस्था को आकर्षक एवं रूचिकर बनाने के लिये प्रशिक्षित अध्यापकों की आवश्यकता है ।

इस प्रकार हमने महात्मा गांधी के दार्शनिक एवं शैक्षिक विचारों को देखा है और अनुभव किया है कि पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि एवं अनुशासन के सम्बन्ध में महात्मा गांधी का विचार क्रमशः क्रिया प्रधान पाठ्यक्रम, हस्तकला तथा समवाय केन्द्रित शिक्षण विधि एवं अनुशासन, आत्म नियंत्रण व स्वैच्छिक भावना पर अनुशासन आधारित है । इन सभी के सम्बन्ध में गत अध्यायों में सविस्तार वर्णन किया गया है ।

महात्मा गांधी के विचारों की पं० दीनदयाल उपाध्याय जी के विचारों से तुलना करते हुये हमने षष्टम अध्याय का संयोजन किया है । हमने यह देखा है कि महात्मा गांधी जी के मौलिक विचारों से पं० दीनदयाल जी के विचार साम्य

रखते हैं । किन्तु यंत्र–तत्र महात्मा गांधी जी के विचार पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी की अपेक्षा विशेष अर्थ युक्त है ।

महात्मा गांधी जी एवं पं. दीनदयाल उपाध्याय -:

हमने महात्मा गांधी जी एवं पं0 दीनदयाल उपध्याय जी के शैक्षिक विचारों के मध्य समानता व विषमता की खोज करने का प्रयास किया है । प्रत्येक अध्याय में यंत्र तत्र महात्मा गांधी व पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के विचारों की आवश्यक स्थलों पर तुलना की गई है । इसके अतिरिक्त अध्याय षष्टम का प्रयोग दोनों के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की तुलना करने में प्रयोग किया गया है । और यह देखा है कि दोनों सामाजिक समस्याओं के समाधान में ही शिक्षा का महत्व प्रतिपादित करते हैं। आत्म क्रियाशीलन, शरीर श्रम, स्वानुभूति तथा सामाजिक सेवा हेतु द्वारा आत्मानुभूति पर बल देते हैं । सत्य के प्रति दोंनो के विचार एक तरह से समान हैं । महात्मा गांधी जी का सत्य सापेक्षिक है । इनका सापेक्षिक सत्य प्रयोगीय है, परीक्षणीय है ।

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी उन महापुरूषों में से एक आधुनिक राष्ट्रीय चिन्तक तथा अग्रगण्य महामानव है जिनके मार्गदर्शन में चलकर निश्चित ही यह राष्ट्र परम वैभव को प्राप्त करने में समर्थ सिद्ध हो सकेगा। शोधकर्त्री द्वारा उनके शिक्षा सम्बन्धी तथ्यों को निम्नतः वर्गीकृत करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

(क) उपाध्याय जी की शिक्षा के दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार -:

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्यकर्ता थे उनके जीवन दर्शन में संघ का ही प्रभाव दृष्टिगोचर है । 1937 में जब वह स्वयं सेवक बने उस समय स्वतन्त्रता आन्दोलन जोरों पर था, अनेक क्रान्तिकारी महापुरूषों ने भारतीय समाज को स्वतंत्रता के आन्दोलन में सहभागी बनाने का कार्य किया । इस स्वतंत्रता आन्दोलन की कोख से दो विचारधारायें प्रस्फुटित हुयीं जिनको हम तिलकवादी एवं गोखलेवादी कह सकते है । लोकमान्य तिलक एवं महर्षि अरविन्द भारतीय ज्ञान परम्परा को पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान से श्रेष्ठ मानते

थे । अतः पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी इसी हिन्दुवादी राष्ट्रवाद के प्रवक्ता बने । इस प्रकार पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी तिलकवादी विचार धारा के ज्यादा निकट थे जिसका ध्येय वाक्य था "स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है ।"

अन्ततः शोधकर्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि अनेक भारतीय मनीषियों एवं विचारकों की भांति पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी ने राष्ट्र की भावी दिशा सुनिश्चित करने के लिये महत्वपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत करने का पुण्य कार्य किया है ।

(ख) मानवीय दृष्टिकोण -:

उपाध्याय जी का सम्पूर्ण चिन्तन उनकी शिक्षा उनके मानवीय दृष्टिकोण की ही परिणित है । एकात्म मानव दर्शन में एकात्म मानव का पूर्ण मानव का संकलित विचार हुआ है ।

मानव–मानव के बीच मधुर सम्बन्धों तथा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के सभी अंगों का विचार उपाध्याय जी ने अपने चिन्तन में किया है । उपाध्यायजी के अनुसार जो कमाने में सक्षम नहीं है उन्हें भी भोजन प्राप्त होना चाहिये । 'कमाने वाला खिलायेगा' तथा 'जो जन्मा है सो खायेगा' का नारा दिया है । यह उनका मानवीय दृष्टिकोण ही है कि बच्चे रोगी और अपाहिज सभी प्रकार के मनुष्य की चिन्ता समाज को करनी चाहिये । उन्होंने पूंजीवादी एवं समाजवादी दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं को मानव के लिये कल्याणकारी नहीं माना है । शोधकर्त्री के अनुसार उपाध्याय जी सच्चे अर्थों में मानवता के पुजारी थे । उनकी भावना उनकी कामना उनके उत्कृष्ट मानवीय दृष्टि का ही रूपान्तरण है ।

"हम ऐसे भारत का निर्माण करेंगे .... जिसमें जन्मा मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ सम्पूर्ण मानवता ही नहीं अपितु सृष्टि के साथ एकात्मता का साक्षात्कार कर 'नर से नारायाण' बनने में समर्थ हो सकेगा ।[1]"

(ख) तत्वमीमांसीय दृष्टिकोण -:

तत्वो की विवेचना ही तत्व मीमांस है। शोधकर्त्री ने पं0 दीनदयाल उपाध्याय के चिन्तन को वर्गीकृत करने के उपरान्त पाया है । उपाध्याय जी ने सनातन

[1] राष्ट्र जीवन की दिशा – पं0 दीनदयाल उपाध्याय – दोउन राह न पाई पृष्ठ – 144

तत्वो के साथ राष्ट्रीय तत्वों सामाजिक तत्वों तथा धर्म के तत्वों का विवेचन किया है।

उपाध्याय जी ने धर्म को एक अत्यन्त व्याापक एवं जीवन से धनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाला तत्व बताते हुए कहा है कि धर्म तो एक व्यापक तत्व है वह जीवन के सभी पहलुओ से संबंध रखने वाला तत्व है।

उपाध्याय जी ने "राष्ट्र" को भी मनुष्य की भांति चार तत्वो देश संकल्प, धर्म और आदेश का समुच्चय बताया है

उपाध्याय जी ने "चितितत्व" की विशुद्ध व्याख्या प्रस्तुत की है उन्होने व्यक्ति की आत्मा की चिति तरह राष्ट्र की आत्मा का "चिति" कहा है । "चिति" तत्व की यह विशुद्ध व्याखया एवं उपरोक्त तत्वो की विवेचना शोधकर्त्री की दृष्टि मे उनके तत्व मीमांसीय दृष्टिकोण की परिचायक है।

(ग) ज्ञान मीमांस दृष्टिकोण -:

ज्ञान की विवेचना या पूर्वानुभव ही ज्ञान की मीमांसा है । इसी आधार पर श्री उपाध्याय जी द्वारा प्रणीत शिक्षा में उनके ज्ञान मीमांसीय दृष्टिकोण के अध्ययन करने का प्रयास किया है ।

श्री उपाध्याय जी ने मनुष्य के लिये करने योग्य चार प्रकार के पुरूषार्थों का वर्णन किया है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन पुरूषार्थों में उन्होंने धर्म को आधारभूत पुरूषार्थ माना है । उनका कहना भी है कि धर्म हमारा प्राण है धर्म गया कि प्राण गये । धर्म पुरूषार्थ का उन्होने विश्लेषण प्रस्तुत करते हुये कहा है कि "बुद्धि, राष्ट्र की परम्परायें यज्ञभाव और 'ज्ञान' या 'शिक्षा' इन चार का समुच्चय धर्म पुरूषार्थ है । इस प्रकार उन्होंने "ज्ञान" को धर्म पुरूषार्थ का अंग माना है । अतएव उनका कहना है कि हमारा धर्म है नियमों का पालन करना और नियम भी जो मनमाने न बने हों । ज्ञानपूर्वक और पूर्वानुभव के आधार पर निर्मित हों ।

अतः शोधकर्त्री निर्विवाद रूप से यह कह सकती है कि श्री उपाध्याय जी ने अपनी प्रस्तुति में ज्ञान मीमांसीय दृष्टिकोण अपनाया है ।

(ङ.) उपाध्याय जी की शैक्षिक विचारधारा आदर्शवाद के रूप में -:

आदर्शवाद वह दर्शन है जो शरीर की अपेक्षा 'मनस' को अधिक महत्व देता है । यह अत्यन्त प्राचीनतम विचारधारा है जो केवल विचारों को ही सत्य मानती है । इसके अनुसार विचारों के अलावा या विचारों से परे कुछ भी सत्य नहीं है । भौतिक संसार की अपेक्षा आध्यात्मिक संसार को अधिक महत्व देती है । भौतिक जगत को नश्वर परिवर्तनशील एवं असत्य मानती है ।

आदर्शवाद मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक बल देता है क्योंकि आर्दशवादियों के अनुसार आध्यात्मिक मूल्य, मनुष्य और जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू है । चिरन्तन सत्य तथा आदर्शों की प्रतिष्ठा और उनकी प्राप्ति ही आदर्शवाद का लक्ष्य है । सत्यम् शिवम् सुन्दरम् आध्यात्मिक मूल्य हैं । सर्वोत्कृष्ट ज्ञान आत्मा का ज्ञान तथा विविधता में एकता का दर्शन ही आध्यात्मवाद है ।

पं० दीनदयाल जी की शैक्षिक विचारधारा में आदर्शवाद परिलक्षित होता है । वे आदर्श समाज एवं आदर्श राष्ट्र की स्थापना करना चाहते थे। व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार में सात्विकता को महत्व देते थे। उन्होंने भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति को विश्व की संस्कृति से सर्वोपरि स्थान प्रदान किया है । वे भारतीय संस्कृति को अखण्ड एवं सुरक्षित रखना चाहते थे । तथा संकुचित विचारधारा के विरोधी थे और मानव कल्याण के सम्पोषक थे । पं० दीनदयाल उपाध्याय जी का शैक्षिक सिद्धान्त "बसुधैव कुटुम्बकम" की भावना से प्लावित एवं परिवर्तनकारी भावना से ओतप्रोत था । शोधकर्त्री को उनके प्रत्येक कार्य में, शिक्षा तथा प्रत्येक क्षेत्र में आदर्शवाद का पुट दिखाई देता है । इस आधार पर श्री दीनदयाल जी एक आदर्शवादी शिक्षा विचारक के रूप में शोधकर्त्री के सम्मुख आते है ।

(च) उपाध्याय जी की विचारधारा प्रयोजनवादी के सन्दर्भ में -:

शोधकर्त्री ने प्रयोजनवाद की व्याख्या करते हुये श्री उपाध्याय जी के विचारों प्रयोजनवादी तथ्यों को खोजने का प्रयास किया है ।

भारतीय विद्वानों ने उपयोगिता, व्यवहार और क्रिया को ही सत्य माना है, तथा स्पष्ट किया है कि जिस सत्य से प्राणियों का मंगल सिद्ध नहीं होता वह सत्य वास्तविक सत्य कहलाने का अधिकारी नहीं है ।

"जो वस्तु प्रयोजन की क्रिया करने वाली है, वही परमार्थ रूप से सत्य है ।[1]"

प्रयोजन की उक्त व्याख्या के अनुसार श्री उपाध्याय जी स्पष्टतः प्रयोजनवादी ही दिखाई देते है । राष्ट्र का कल्याण – एवं राष्ट्र की स्वतन्त्रता उपाध्याय जी का मुख्यप्रयोजन है अतः इस प्रयोजन को पूरा करने वाले असत्य को भी हो सत्य से बड़ा मानते हैं । उनके अनुसार –

"अपने राष्ट्र का कल्याण और उसकी स्वतन्त्रता ही सबसे बड़ा सत्य है ।"[2]

पं० दीनदयाल उपाध्याय जी भी रूढ़ियों परम्पराओं एवं अन्धविश्वासों के विरूद्ध हैं । अपने देश में प्रचलित रूढ़ियों को मिटाने के साथ–साथ विदेशी रूढ़ियों के अन्धानुकरण पर उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया है तथा इस दृष्टिकोण को अविवेकपूर्ण माना है । व्यक्ति और समाज दोनों के परस्पर सम्बन्ध को ही उन्होंने संस्कृति की संज्ञा दी है । कोई किताबी ज्ञान को उन्होंने शिक्षा नही वरन् शिक्षा से उनका तात्पर्य है 'मानव' का सर्वांगीण विकास एवं देवत्व की प्राप्ति है ।

इस प्रकार उपरोक्त अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है कि श्री उपाध्याय जी ने राष्ट्रीय प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये 'शिक्षा' को साधन के रूप में स्वीकार किया है । वे उच्च प्रयोजन हेतु जैसे राष्ट्र की स्वतन्त्रता एवं राष्ट्र के कल्याण के लिये वे कुछ भी करने के समर्थक हैं ।

इस प्रकार से उपाध्याय जी आदर्शवादी विचारक ही नहीं किन्तु प्रयोजनवादी विचारधारा के आदर्श प्रस्तोता भी हैं ।

(छ) <u>उपाध्याय जी की शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार -:</u>

पं० दीनदयाल जी की शिक्षा मनोवैज्ञानिक तत्वों से प्रभावित है । पं० उपाध्याय जी शिक्षा को मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित करने के पक्ष में

---

[1] शिक्षा दर्शन – शिक्षा में व्यवहारिकतावाद – पृष्ठ 221 रामसक्ल पाण्डेय

[2] सम्राट चन्द्रगुप्त – पं० दीनदयाल उपाध्याय – पृष्ठ – 29

थे । बालक अनेक नैसर्गिक प्रवृत्तियों एवं मूल प्रवृत्तियों तथा क्षमताओं से युक्त होता है । उसको शनैः शनैः परिवार समाज एवं धर्म आदि संस्थाओं के सम्पर्क में लाकर नैतिक मार्ग पर लाया जा सकता है । उपाध्याय जी ने बालक के 'संस्कार' प्रक्रिया पर जोर दिया है। उन्होंने स्वीकार किया है कि संस्कारित होने के उपरान्त ही वह 'सामाजिक' बनता है । उनका मानना है कि संस्कारों के द्वारा ही समाज के जीवन मूल्य बनते और सुदृढ़ होते हैं । अतः जनता का सुसंस्कृत करने का महत्वपूर्ण कार्य शिक्षा के द्वारा जाना चाहिये ।

"व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास शिक्षा और मनोविज्ञान का मूल विषय है ।[1]"

मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने का सुझाव उनके मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का ही परिचायक है क्योंकि अन्य भाषाओं की अपेक्षा मातृभाषा के माध्यम से बालक सहजरूप में सरलतापूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सकता है । उनके व्यष्टि और समिष्ट, सामन्जस्यपूर्ण समाज व्यवस्था तथा राष्ट्र की आत्मा 'चिति' नामक लेख कोटिशः भारतीयों को मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रभावित किया है ।

अस्तु उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि उनकी 'शिक्षा' पूर्णतः 'मनोवैज्ञानिक' है ।

(ज) उपाध्याय जी का वैज्ञानिक आधार -:

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी महान दार्शनिक थे और दार्शनिक मूलतः वैज्ञानिक ही होता है । इस नाते उपाध्याय जी एक वैज्ञानिक थे । भारतीय संस्कृतिवादी होने के साथ–साथ उपाध्याय जी पुरातनवादी नहीं थे। वे संस्कृति का संरक्षण मात्र करने वालों में से ही नहीं थे वरन् संस्कृति को गति प्रदान कर सजीव बनाने वाले युग दृष्टा थे । रूढ़ियों परम्पराओं और अन्धविश्वासों के पूर्णतः विरोधी लेकिन पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान को आंख बन्द करके स्वीकार करने के समर्थक भी नहीं थे । उन्होंने मानव द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान–विज्ञान को संकलित विचार कर अपने ज्ञान और व्यवहार को युगानुकूल तथा विदेशी ज्ञान और व्यवहार को

---

[1] भारतीय शिक्षा के मूल तंत्व – लज्जाराम तोमर शिक्षा के भारतीय मनोवैज्ञानिक आधार–पृष्ठ–63

स्वदेशानुकूल ढालकर स्वीकार करने का सुझाव हमें दिया है । उन्होंने भारतीय संस्कृति के अनुरूप 'परस्परपूरकता' का सिद्धान्त दिया है । इसके अलावा सम्पूर्ण सृष्टि की 'अनेकता में एकता' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है । यह उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही है । मानव विज्ञान के साथ–साथ उन्होनें वनस्पति विज्ञान तथा प्राणियों और वनस्पतियों के बीच "परस्परावलम्बन के सिद्धान्त" को बताया हैं ।

उपाध्याय जी ने अपने देश की प्रगति के लिये उपयुक्त यन्त्रों के निर्माण का सुझाव दिया है । विज्ञान को प्रगति का लक्षण और विकास के लिये आवश्यक बनाते हुये अपने देश में प्रोद्योगिकी के विकास पर भी बल दिया है तथा जोरदार शब्दों में यह घोषणा भी की है –

"विज्ञान किसी देश की बपौती नहीं वह हमारे भी अभ्युदय का साधन बनेगा ।[1]"

उपरोक्त विश्लेषण के बाद शोधकर्त्री का मानना है कि पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी एक महान चितंक, कर्मयोगी, दार्शनिक तत्ववेत्ता और विज्ञानवेत्ता थे। उन्होंने संघर्ष के स्थान पर "परस्परपूरकता" तथा परस्परावलम्बन और विविधता के मूल में निहित "एकता" का सिद्धान्त प्रस्तुत करके मानव जीवन को सुखी और समृद्धिशाली बनाने का आजीवन प्रयास किया ।

(झ) उपाध्याय जी के शिक्षा दर्शन के सबलपक्ष -:

शोधकर्त्री ने उपाध्याय जी की शिक्षा के दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक आधारों को प्रस्तुत करते हुये उनके मानवीय तत्वमीमांसीय तथा ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । इसके साथ उनकी शिक्षा का वैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि उपाध्याय जी दार्शनिक होने के साथ–साथ "वैज्ञानिक" प्रतिभा के भी धनी थे ।

श्री उपाध्याय की शिक्षा एकात्म मानवदर्शन पर आधारित भारतीय संस्कृति का संरक्षण और संवर्द्धन करते हुये राष्ट्र के भौतिक एवं आध्यात्मिक समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करने वाली शिक्षा के रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है ।

---

[1] भारतीय जनसंघ, सिद्धान्त और नीतियां पृष्ठ – 4 – पं0 दीनदयाल उपाध्याय

शोधकर्त्री के अनुसार उनके शिक्षा की कुछ प्रमुख विशेषतायें है जिन्हें शोधकर्त्री के द्वारा सबल पक्ष के रूप में प्रस्तुत करने का विचार किया गया है ।

1. भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का महत्व -:

उपाध्याय जी के अनुसार भारतीय सभ्यता का पुण्य प्रवाह आदिकाल से चला आ रहा है । भारतीय संस्कृति एकात्मवादी है 'आत्माह सर्व भूतेषु' को स्वीकारने वाली तथा मानव मात्र के कल्याण का ही नहीं वरन् मानवेत्तर प्राणियों और वनस्पतियों तक के कल्याण का मार्ग दर्शन करने वाली है । इसी कारण से उपाध्याय जी ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अपनी चिन्तनधारा में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है । उन्होंने स्पष्ट करते हुये कहा है कि अन्य संस्कृतियों में मानव के एक-एक पक्षों का ही विचार किया है । किसी ने राजनैतिक प्राणी किसी ने सामाजिक प्राणी और किसी ने आर्थिक तथा धनलोलुप प्राणी के रूप में परिभाषित किया है, लेकिन भारतीय संस्कृति ने मनुष्य को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक प्राणी के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की है । उसके चतुर्विध सुखों की प्राप्ति के लिये चतुर्थ पुरूषार्थों, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की व्यवस्था भी दी है । उपाध्याय जी ने तो संस्कृति के संरक्षण, संवर्धन एवं हस्तान्तरण को ही 'शिक्षा' की संज्ञा दी है । अतः शोधकर्त्री की दृष्टि में उपाध्याय जी ने अपनी चिन्तनधारा के द्वारा भारतीय सभ्यता और संस्कृति को पुनप्रतिष्ठित करने का पुण्य कार्य किया है ।

2. एकीकरण की भावना -:

सामाजिक एकता एवं राष्ट्रीय एकता उपाध्याय जी के प्रिय विषय रहे हैं । अपनी विचारधारा के द्वारा उन्होंने कहा है कि व्यक्ति का अलग-अलग रहना असंघटित रहना विनाश का कारण बनता है तथा संघ जीवन या सामुदायिक जीवन जीना अमरत्व प्राप्त करने के समान होता है । राष्ट्र की संघठित शक्ति के द्वारा ही प्रगति सम्भव है । उनकी कामना थी कि 'एकता का भाव लेकर जग

उठे यह राष्ट्र सारा।' वे आजीवन इसी मंत्र का जाप करते रहे । यही उनकी शिक्षा भी है और यही उनका सुझाव और एक मात्र उनकी आकांक्षा भी ।

3. मातृभाषा की उपयोगिता -:

अपनी चिन्तनधारा के द्वारा उपाध्याय जी ने मातृभाषा की उपयोगिता को सिद्ध किया है । उन्होने कहा है कि मातृभाषा ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम मात्र ही नहीं परन्तु अपने अन्दर राष्ट्र जीवन का इतिहास संजोये रहती है उपाध्याय जी का यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण था कि मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम हो जिससे सभी लोग सरलतापूर्वक शिक्षा प्राप्त कर सके । विशेष रूप से प्राथमिक शिक्षा तो मातृभाषा में ही होनी चाहिये यह उनकी उत्कृष्ट इच्छा थी और उनका प्रयास था ।

4. राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण -:

राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में शिक्षा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । जन साधारण को शिक्षित किये बिना राष्ट्रीयता की धारा प्रवाहित नहीं हो सकती । इसलिये दीनदयाल उपाध्याय मेले, कुचैले अनपढ़ और सीधे सादे लोगों को नारायण की संज्ञा देते हुये उनकी सेवा करने का सुझाव दिया है । उन्होंने कहा है कि जब हम इनके बच्चों और स्त्रियों को शिक्षित कर देगें भारतीय जीवन दर्शन का ज्ञान प्रदान कर देगें तभी इनके अन्दर राष्ट्रीयता का भाव जागृत होगा ।

राष्ट्रीय संस्कृति के अनुकूल आचार व्यवहार ही राष्ट्रीय चरित्र है । पं0 दीनदयाल जी शिक्षा के द्वारा परिश्रम त्याग बलिदान का पाठ पढ़ाना चाहते थे। उनके अनुसार स्वार्थ और लोलुपता को राष्ट्रीय चरित्र के लिये कंलक बताया और कहा कि स्वार्थी व्यक्ति देश तक को बेचने के लिये तैयार हो जाता है । इस प्रकार उपाध्याय जी ने राष्ट्र के पुननिर्माण के साथ–साथ राष्ट्रीय चरित्र निर्माण का पुनीत कार्य किया ।

5. हिन्दु राष्ट्र की अवधारणा -:

श्री उपाध्याय जी ने हिन्दु राष्ट्रीयता का आहवान करते हुये कहा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरूषार्थों पर आधारित हिन्दु जीवनादर्श हमें किसी भी संकट से उबार सकते हैं । अतः हिन्दु राष्ट्रवाद ही एकमेव मार्ग है जो भारत की आत्मा के अनुकूल होगा और भारतीय जनता के ह्दय में नवीन उत्साह संचारित होगा ।

6. सहशिक्षा -:

पं0 दीनदयाल जी ने शिक्षा को 'संस्कार' प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है । सामन्जस्यपूर्ण समाज व्यवस्था के लिये बालक और बालिकाओं दोनो को समान रूप से संस्कारित किये जाने का सुझाव दिया है । उन्होंने सुझाव देते हुये कहा है कि –

"भेद के आधार पर कोई व्यवस्था नहीं चल सकती भेद भावना सृष्टि के नियमों के विपरीत है ।"

अतः उपाध्याय जी ने राष्ट्र की पुनर्रचना के लिये बालक और बालिकाओं में भेद को दूर करते हुये समान रूप से शिक्षित करने की आवश्यकता पर बल दिया है । उन्होंने अपने विचार व्यक्त करते हुये कहा है कि जब तक छात्राओं के लिये हमारे देश में पर्याप्त विद्यालयों की व्यवस्था नहीं हो जाती तब तक छात्रों के साथ ही छात्राओं को भी शिक्षित किया जाना चाहिये ।

प्राथमिक स्तर तक बालक और बालिकाओं को साथ–साथ शिक्षित करने के पक्षधर थे । वे महिलाओं को समाज का आधा भाग मानते हैं इसलिये उनको राजनीति में भी सहभागिता दी जानी चाहिये । इस प्रकार उपाध्याय जी नये भारत के निर्माण में महिलाओं की बराबर की भागीदारी चाहते थे तथा उन्होंने महिला मोर्चा का गठन करके महिलाओं के सहभाग को बढ़ाने का कार्य किया । यह उनकी विचारधारा का सबल पक्ष है ।

7. नारी शिक्षा -:

श्री उपाध्याय जी ने माता को बालक की प्रथम गुरू माना है और कहा है कि यदि वह स्वयं शिक्षित न हुयी तो बालक को कैसे शिक्षित कर पायेगी । इसलिये बालक के भविष्य का निर्माण करने के लिये घर की नारी का शिक्षित होना परम आवश्यक है । उन्होंने नारी का अशिक्षित होना आधा राष्ट्र अशिक्षित होना कहा है । इसलिये राष्ट्र की अशिक्षा को दूर करने के लिये नारी को शिक्षित करना राष्ट्रीय आवश्यकता है । यह उनके विचार थे जिनको शोधकर्त्री ने सबल पक्ष के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

8. अर्थकारी शिक्षा -:

श्री उपाध्याय जी ने अपनी विचारधारा में अर्थकारी शिक्षा या व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था की है। उनके अनुसार 'प्रत्येक को काम' अर्थव्यवस्था का उद्देश्य होना चाहिये। काम प्राप्त करने के लिये मनुष्य को व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त होनी चाहिये । इंजीनियरिंग, औद्योगिक एवं तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिये। मनुष्य को 'अर्थायाम' की शिक्षा दी जानी चाहिये।अतः पं0 दीनदयाल जी ने आध्यात्मिक समृद्धि के साथ–साथ भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिये अर्थकारी शिक्षा की व्यवस्था का सुझाव दिया है ।

9. मानवीयता के प्रेरक -:

उपाध्याय जी की शिक्षा का अध्ययन करने पर वे हमें मानवीयता के प्रेरक के रूप में दिखाई पड़ते हैं । उनकी सम्पूर्ण चिन्तनधारा मानवता की प्रेरणा पुंज है । उन्होंने कहा है कि आहार निद्रा, भय आदि क्रियायें मनुष्य और पशु दोनों में एक समान होती है लेकिन शिक्षा और संस्कारों द्वारा मनुष्य के अन्दर श्रेष्ठ मानवीय गुणों का विकास किया जाता यही गुण मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठाते हैं । अतः श्री उपाध्याय जी ने भविष्यवाणी करते हुये कहा है कि 'एकात्ममानव दर्शन' पर आधरित शिक्षा के द्वारा हम ऐसे मानव का निर्माण करेंगे जो अपने

व्यक्तित्व का विकास करता हुआ सम्पूर्ण मानवता ही नहीं अपितु सृष्टि के साथ एकात्मता का साक्षात्कार कर 'नर से नारायण' बनने में समर्थ हो सकेगा ।

उपाध्याय जी के शिक्षा के निर्बल पक्ष-:

पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी प्रणीत शिक्षा के द्वारा निश्चित रूप से राष्ट्र के परम वैभव की प्राप्ति हो सकती है भारत पुनः जगतगुरू के सर्वोच्च पद पर आसीन हो सकता है लेकिन पं0 जी की शिक्षा की कुछ दुर्बलतायें भी है जिसके कारण पं0 जी पर्याप्त विवादस्पद रहे हैं । शोधकर्त्री ने निरपेक्ष भाव से उनका निर्बल पक्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

1. पं0 जी का 'एकात्म मानववाद' अतिव्यापक एवं क्लिष्ट है जिसको पूरी तरह से समझ पाना और आत्मसात कर पाना साधरण बुद्धि वाले मनुष्य के परे है ।

2. धर्म संस्कृति राष्ट्रीयता और हिन्दुत्व की भावनाओं का समावेश शोधकर्त्री की आवश्यकता से अधिक प्रतीत होता है ।

3. सांस्कृतिक राष्ट्र अवधारणा की हिन्दु राष्ट्रवाद व्याख्या ने उनको अधिक विवादास्पद ही बनाया है ।

4. उपाध्याय जी के आर्थिक विचार अधिक उपयुक्त होते हुये भी वास्तविकता से कुछ परे जैसे प्रतीत होते है ।

5. हिन्दु मुस्लिम संदर्भ में पं0 जी की सोच अग्रतावादी कही जा सकती है ।

6. "सस्कृति" उपाध्याय की प्रिय अवधारणा है । संस्कृति शब्द का प्रयोग इतने व्यापक अर्थों में हुआ है कि उसकी ठीक–ठीक परिभाषा करना कठिन है ।

7. पं० जी का हिन्दुत्ववादी तथा राष्ट्रवादी मन पश्चिम के विचारों के खिलाफ उसकी बुराईयों के कारण था ही लेकिन उसकी विदेशियत के कारण ज्यादा था इसलिये वे पश्चिमी विकृति के प्रति ज्यादा मुखर एवं अतिवादी हो गये ।

8. पं० जी की समाज परिवर्तन की सौम्य प्रक्रिया लोगों को बहुत कम पसन्द आती है संस्कारित करने के मन्दगति वाले काम से लोगों को किसी चमत्कार की आशा नही दिखाई पड़ी ।

9. मातृभाषा हिन्दी के अतिरिक्त किसी भी विदेशी भाषा को स्वीकार न करने की दृढ़ता को लोगों ने उनकी हठ्वादिता मानी है ।

10. उनकी प्रेरणा राष्ट्रवाद बैश्विक धारा के साथ एकरस होने में बाधक है । यही कारण है कि उन्होंने भारतीयता का मण्डल एवं पाश्चात्य का खण्डन अतिवादी होकर किया है ।

अग्रिम अध्ययन के लिये सुझाव -:

1. पं० दीनदयाल उपाध्याय और स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन ।

2. "एकात्ममानववाद" और भारतीय शिक्षा'

3. "शिक्षा का आधार–प्रखर राष्ट्रवाद"

4. "राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और धर्माधारित शिक्षा एक अध्ययन"

पं० दीनदयाल जी एक सन्त राजनेता थे । शिक्षा संस्कार एवं धर्म उनकी प्रमुख अभिधारणायें हैं । इसलिये शोधकर्त्री ने पं० दीनदयाल उपाध्याय जी के विचारों को एकत्र करके प्रस्तुत करने का लघु प्रयास किया है । शोधकर्त्री को विश्वास भी हैं कि यदि पं० दीनदयाल उपाध्याय के विचारों के अनुसार शिक्षा पद्धति का निर्माण किया गया तो निश्चित ही भारत अपनी खोयी हुयी प्रतिष्ठा को

पुनः प्राप्त करेगा । और जगद्गुरू के पद पर पुनः पदासीन होता हुआ 'परम वैभव' के शिखर तक पहुंच जायेगा ।

अन्त में शोधकर्त्री इस निष्कर्ष पर पहुंची है कि अभी महात्मा गांधी जी तथा पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी के अन्य क्षेत्रों में अभिव्यक्त किये गये विचारों का तथा इनका अन्य शिक्षाशास्त्रियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करना अवशेष है, भविष्य में इनसे सम्बन्धित अध्ययन हेतु क्षेत्र अधोलिखित है –

1. महात्मा गांधी तथा पं0 दीनदयाल उपाध्याय जी की शिक्षा का भारतीय स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन –

2. इन द्वय शिक्षा दार्शनिकों के राजनैतिक दृष्टिकोण के सन्दर्भ में शैक्षिक प्रयासों का तुलनात्मक अध्ययन ।

3. पं0 दीनदयाल उपध्याय तथा पं0 नेहरू जी के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन ।

4. महात्मा गांधी के शैक्षिक विचारों का प्रयोजनवादियों के शैक्षिक विचारों से तुलना ।

शोधकर्त्री की दृष्टि में उपर्युक्त क्षेत्रों में शोध कार्य किया जाय तो भारतीय शिक्षा निश्चित रूप से लाभान्वित हो सकती है । इस प्रकार के अध्ययन से उनके विचारों के प्रति उचित दृष्टिकोंण का निर्माण किया जा सकता है वास्तव में दोनों शिक्षाशास्त्री अपने काल के प्रमुख एवं प्रतिष्ठालब्ध शिक्षादार्शनिक, विचारक एवं चिन्तक हैं । इनके विचार हमें सदैव प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होने के लिये प्रेरित करते रहेंगे ।

सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

1.	पं0 दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन	अनन्त कुलकर्णी
2.	अकेजनल स्पीचेज एण्ड राइंटिग्स	डा0 राधाकृष्णन
3.	आत्मकथा	महात्मा गाँधी
4.	आधुनिक परिवेश मे महामना मदन मोहन मालवीय के शैक्षिक विचारों का अलोचनात्मक अध्ययन	डा0 जे एल वर्मा
5.	इथिकल रिलीजन	
6.	उत्तर प्रदेश सन्देश सितम्बर 1991 अंक (9)	पं0 दीनदयाल उपाध्याय विशेषांक
7.	एकात्मता के पुजारी पं0 दीनदयाल उपाध्याय	भाउराव देवरस शिव कुमार अस्थाना
8.	"एण्डस एण्ड मीन्स"	हक्सले आल्डुअस
9.	एजूकेशनल रिंक स्टूक्शन	गाँधी जी
10.	एजुकेशनइट्स डाटा एण्ड फर्स्ट प्रिंसिपुल्स "लंदन एडवर्ड आर्नोल्ड"	नन सरटी0 परसी
11.	एजूकेशन एक्ट – 1944 सेक्शन –7	एच0एम0एस0ओ0
12.	एकात्म मानव दर्शन	पं0 दीनदयाल उपाध्याय
13.	एमिल या "शिक्षा" एवरीमैन एडीशन हैन्ट लन्दन	रूसो
14.	एजूकेशन एण्ड मारेल्स	जान इन चाइल्डस
15.	द एजूकेशनल फिलासफी ऑफ महात्मा गाँधी	पटेल एम0एस0
16.	द एवेलल्यूशन आफ एजूकेशनल थ्यूरी	सर एडम्स
17.	ऋजुर्वेद	3/11/3
18.	गुजरात महाविद्यालय के व्याख्यान	गाँधी जी
19.	गाँधी आत्मकथा	महावीर प्रसाद पोद्दार
20.	गाँधी जी विद्यार्थी जीवन के कुछ अनुभव	बापू की सीख साहित्य प्रकाशन सस्ता साहित्य मण्डल

21.	गाँधी जी की साधना (गुजराती) नवजीवन	पटेल आर0एम0
22.	गीता सार	महात्मा गाँधी
23.	द टू इयर्स आफ वर्क	सेवा ग्राम
24.	टू द स्टूडेन्ट, द नवजीवन पब्लिशिंग	महात्मा गाँधी
25.	डेमोक्रेसी एण्ड एजूकेशन न्यूयार्क मैकमिलन	डिवी जॉन
26.	पं0 दीनदयाल उपाध्याय (कृतत्व एवं विचार)	डा0 महेश चन्द्र शर्मा
27.	पत्रिका पं0 दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन	अनन्त कुलकर्णी
28.	पं0 दीनदयाल उपाध्याय व्यक्तित्व दर्शन	कमल किशोर गोयनका कोवनगर, दीन दयाल शोध
29.	दिल्ली डायरी एन0पी0ए0	एम0के0 गाँधी
30.	दर्शन और शिक्षा	विनोद पुस्तक मन्दिर
31.	पं0 दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति दर्शन	उपाध्याय जी का एक पत्र
32.	पण्डित दीनदयाल व्यक्ति और विचार	डा0 मुरली मनोहर जोशी
33.	द न्यू सेकेण्डरी एजूकेशन	एच0एम0एस0ओ0–1947
34.	नव जीवन प्रेस अहमदाबाद	महात्मा गाँधी
35.	"द पालिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गाँधी"	धवन जी0एन0
36.	पोलिटकल डायरी	पं0 दीनदयाल उपाध्याय
37.	पत्रिका पं0 दीनदयाल उपाध्याय	डा0 महेश चन्द्र शर्मा
38.	द पोलिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गाँधी, एन0पी0एच	गोपीनाथ धवन
39.	प्रिंसिपल आवमार्डन एजूकेशन बोस्टन, मिकंलिग	थामस एम0 उब्लू.एण्ड लाग ए0 आर0
40.	प्राइमरी एजूकेशन एण्ड विलेजद इयर बुक ऑफ एजूकेशन	देसाई महादेव
41.	द फिलासफी ऑफ महात्मा गाँधी	
42.	फारवर्ड टू बेसिक नेशनल एजूकेशन	गाँधी जी
43.	द फिलासफिकल बेसिस आफ एजूकेशन	रस्क
44.	फार दि कन्सिडरेशन आफ टीचर्स	हैण्ड बुक आफ सजेशन्स

45.	फ्रीडम एण्ड कल्चर	डा0 राधाकृष्णन
46.	फोर फिलोसफीज	बटलर
47.	द ब्रेन ऑफ इण्डिया (पाण्डचेरी) श्री अरविन्दो आश्रम पंचम संस्करण	अरविन्दों
48.	बापू के चरणों में	बृज कृष्ण चाँदीवाल
49.	भारतीय शिक्षा समिति	चन्द्रपाल सिंह प्रकाशक
50.	भारतीय शिक्षा का इतिहास	पी0डी0 पाठक
51.	भारतीय परिवेश में पं0 दीनदयाल उपाध्याय के शैक्षिक विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन	डा0 बाबूलाल तिवारी
52.	भारतीय दर्शन प्रथम – भाग	डा0 राधाकृष्णन
53.	भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्यायें	डा0 वीरेन्द्र अग्निहोत्री
54.	भारतीय अर्थनीति	पं0 दीनदयाल उपाध्याय
55.	भारतीय शिक्षा के मूल तत्व शिक्षण के सिद्धान्त एवं पद्धतियां	लज्जाराम तोमर
56.	भारतीय शिक्षा की समस्यायें	मुस्लिम शिक्षा
57.	भारतीय जनसंघ सिद्धान्त और नीतियां	पं0 दीनदयाल उपाध्याय
58.	भारतीय अर्थनीति आत्म निर्भरता विकास की दिशा	पं0 दीनदयाल उपाध्याय
59.	माध्यामिक शिक्षा आयोग	1953
60.	मैकाले का विवरण प्रपत्र	1835
61.	महात्मा गाँधी आइडियाज एलन एण्ड अलविन लन्दन	एण्डूज सी0एफ0
62.	महात्मा वाल्यूम	तेन्दुलकर डी0जी0 तथा झवेरी बी0के0
63.	मेरा प्रारम्भिक जीवन	डा0 रसाल
64.	महात्मा गाँधी एवं जान डीवी के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन	डा0 धमेन्द्र दुबे
65.	यंग इण्डिया पत्रिका	दत्ता डी0 एम0
66.	यजुर्वेद	1/6
67.	यूनेस्को प्रोजेक्ट्स इन इण्डिया	डा0 जाकिर हुसैन
68.	राष्ट्र जीवन की दिशा	पं0 दीनदयाल उपाध्याय

69.	रेमार्क्स आवमैन काइन्ड	ताशवर्न कार्ल्टन
70.	राष्ट्रवाद की सही कल्पना (एकात्म मानववाद)	पं0 दीनदयाल उपाध्याय
71.	द रिपब्लिक आन प्लेटो	प्लेटो
72.	द लन्दन चैरी एण्ड विण्डस	
73.	द लेटेस्ट बैण्ड "सेवाग्राम" हिन्दुस्तानी तालीमी संघ	आचार्य कृपलानी जे0पी0
74.	लाइफइन 2000 ए0डी, साइंस डायजेस्ट अक्टूबर – 1992	रोबर्ट हेनलीन
75.	द लेटेस्ट पैड	
76.	वर्धा मारवाड़ी में दिया गया भाषण	महात्मा गाँधी
77.	विद्या भारती	राणा प्रताप सिंह
78.	विश्व महान शिक्षा शास्त्री राधाकृष्णन	डा0 बैधनाथ शर्मा
79.	विषय प्रवेश चन्द्रगुप्त	पं0 दीनदयाल उपाध्याय
80.	विथ गाँधी जी इनसीलोन गनेशन मद्रास	देसाई महादेव
81.	हरिजन पत्रिका	
82.	हिन्दुस्तानी तालिमी संघ वर्धा	एजूकेशनल रिंकस्ट्क्शन
83.	"हिन्दू धर्म" नव जीवन पब्लिशिंग हाउस अहमदाबाद	गाँधी एम0के0
84.	"हिन्द स्वराज" गनेशन मद्रास	महात्मा गाँधी
85.	शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा	डा0 मालती सारस्वत
86.	शिक्षा तकनीकी	आर0ए0 शर्मा
87.	शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त	भाई योगेन्द्र जीत
88.	शिक्षा बनाम सरकारी प्रचार	दीपक बाजपेयी
89.	10+2+3 शिक्षा प्रणाली विशेषांक 1977	कमलापति त्रिपाठी
90.	शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार	स्वामी विवेकानन्द
91.	शिक्षा का भारतीयकरण	पाठक एवं त्यागी
92.	शिक्षा का भारतीयकरण	मधोक बलराज
93.	शिक्षा दर्शन	रामशकल पाण्डेय
94.	शैक्षिक अनुसंधान	डा0 एस0पी0 सुखिया

95.	शैक्षिक अनुसंधान	गुड वार एन उसकेट
96.	स्वाधीन भारत जय हो	स्वामी विवेकानन्द
97.	सत्याग्रह की उत्पत्ति	गाँधीजी
98.	सर्वोदय रस्किन के अन्टू द लास्ट	गाँधी जी
99.	सेलेक्शन फ्राम गाँधी	बोस0एन0के0
100.	साइटेड इन यूनेस्को प्रोजेक्ट्स इन इण्डिया मिनस्ट्री ऑफ एजूकेशन	पं0 जे0 एल0 नेहरू
101.	सोशल एण्ड पालिटिकल आइडियाज आन महात्मा गाँधी	जे0सी0 कुमारप्पा
102.	"सेलेक्शन फ्राम" गाँधी	बोस एन0के0
103.	सत्यार्थ प्रकाश	मर्हिष दयानन्द सरस्वती
104.	अनुसंधान विधियों, सर्वेक्षण अनंस	एच0के0कपिल
105.	पं0 दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति दर्शन	उपाध्याय जी का एक पत्र